

GL H 934.02
RAM



122910
LBSNAA

स्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

L.B.S. National Academy of Administration

मसूरी
MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

— 122910

अवाप्ति संख्या

Accession No. 7649

वर्ग संख्या

Class No. GL H 934.02

पुस्तक संख्या

Book No. शमदे Ram

जो३म् ।

भरत-वर्ष का इतिहास

(वैदिक तथा आर्ष पर्व)

रचयिता—

श्रीमान् प्रोफेसर रामदेव जी

गुरुकुल महाविद्यालय

काङ्गड़ी (हरिद्वार)

सद्दर्भ-प्रचारक यन्त्रालय गुरुकुल काङ्गड़ी

में मुद्रित ।

द्वितीयावृत्ति }
३०००

सं० १९६८ वि०
सन् १९११ ई०

{ मूल्य प्रातिपुस्तक
१।

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं

श्री० महात्मा मुन्शीरामजी, मुख्याधिष्ठाता,
गुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रकाशित
और
पंडित अनन्तराम के प्रबन्ध से
संस्कृत प्रचारक यन्त्रालय गुरुकुल कांगड़ी
में मुद्रित ।

प्रथमावृत्ति की भूमिका ।

दार्शनिक बुद्धियुक्त इतिहासवेत्ता ने क्या सच कहा है कि “प्रत्येक देश का भविष्यत् उस के भूत में अङ्कित है, और जिस जाति को अपने भूत का यथार्थ ज्ञान नहीं वह भविष्यत् में उन्नति का मार्ग बहुत कठिन और कई गढ़ों से परित पावेंगी” । शोक है कि आर्यजाति जैसी प्राचीन और ऐतिहासिक जाति का कोई क्रमबद्ध और कारण कार्य शृङ्खलायुक्त इतिहास विद्यमान नहीं जिस के अवलोकन से उस के युवकों और युवतियों का उत्साह बढ़े, उन का जातीय अभिमान उत्तेजित हो, और उन को अपने पुरुषाओं का महत्त्व और उन की निर्वलताओं का ज्ञान हो ताकि उन के लिये उन्नति का मार्ग सुगम हो और वह सावधानता से पग धर सकें । प्राचीन आर्य इतिहास जानते थे अथवा नहीं और उन के लिखे हुए इतिहास कहां गए इस विषय का विचार पाठकगण पुस्तक के द्वितीय और तृतीय परिच्छेद में ही पावेंगे । किन्तु शोकमय वार्ता यह है कि इस समय प्राचीन भारत के जो यूरोपियनों के बनाए हुए इतिहास मिलते हैं उन में कतिपय तो ऐसे हैं जिन में प्राचीन आर्यों का गौरव घटाने के लिए प्राचीन घटनाओं को तरोड़ने और मरोड़ने का यत्न किया गया है इन में से एक लैथब्रिज साहब का इतिहास है जिस के प्रत्येक अध्याय से पक्षपात और दुराग्रह का परिचय मिलता है । सल्युकस और चन्द्रगुप्त के युद्ध का वृत्तान्त लिखते हुए आप कहते हैं कि सल्युकस जीत गया और विजयी ने विजित को अपनी कन्या विवाह में दी और अपने राज्य के तीन प्रदेश भी दे दिए । इस में असत्यता ऐसी स्पष्ट है कि लैथब्रिज के शब्दों से ही उस की स्थापना का खण्डन होता है । भला जिन के मानसिक भावों की यह दशा हो उन से सच्ची ऐतिहासिक बुद्धि को काम में लाने की आशा कैसे हो सकती है ? महाशय रमेशचन्द्रदत्त का इतिहास यद्यपि यूरोपियनों के

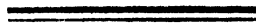
रचित इतिहासों से कई दर्जे उत्तमतर है किन्तु उस में भी वेदों और ब्राह्मणों के समय पर जो कुछ लिखा गया है वह यूरोपियों के लेखों के आधार पर ही है।

इस लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता थी कि सच्ची ऐतिहासिक और स्वदेशीय दृष्टि से प्राचीन आर्यजाति की सभ्यता का इतिहास (राजाओं का कालबद्ध इतिहास लिख सकना तो सर्वथा असम्भव है) लिखा जावे। गुरुकुल के विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ाने का कार्य जब मुझे सौंपा गया तो उस समय मैंने इस आवश्यकता को विशेष रीति से अनुभव किया और उक्त दृष्टि से प्राचीन आर्यसाहित्य को पढ़ना आरम्भ कर दिया। विद्यार्थियों को जो कुछ बतलाता था वह नोटों के रूप में लिखा भी देता था, वही नोट इस पुस्तक की नींव है। कोई स्थापना इस पुस्तक में ऐसी प्रस्तुत नहीं की गई जिस के लिए प्रमाण न दिया गया हो अन्यान्य ऐतिहासिकों से अपने भेद के कारणों को कुछ २ तो यथास्थान और विशेष कर परिशिष्टों में दर्शाया है। प्राचीन भारतवर्ष पर अंग्रेजी में जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं प्रायः सभी को मैंने पढ़ा किन्तु रामायण और महाभारत के भागों के लिखने में मुझे महाशय सी. वी. वैद्य) एम, ए, एल, एल, बी, बम्बई की पुस्तकों The Riddle of Ramayana और The Mahabharat, a Criticism से विशेष सहायता मिली। मैं उक्त महाशय के सर्व विचारों से सहमत नहीं, जैसा कि पाठकों को उन भागों के पढ़ने से स्वयं ही प्रतीत हो जावेगा। दृष्टान्त रूप से दो बातें यहाँ लिख देता हूँ। वैद्य महाराज की यह सम्मति है कि हनुमान् समुद्र फाँद कर लङ्का में गए। इस के विरुद्ध वाल्मीकीयरामायण के शब्दों से मुझे यह निश्चय रूप से प्रतीत हुआ कि वह समुद्र तैर के लङ्का गए। “तितीर्षति” शब्द से कोई अन्य अभिप्राय निकल ही नहीं सकता। वैद्य महाराज भीरामादि को मांसभक्षी मानते हैं, मैंने रामायण के प्रमाणों से ही सिद्ध किया है कि वे फलाहारी थे। सविस्तर विचार पाठकों के पुस्तक में ही देखें।

मैं अनुभव करता हूँ कि इस पुस्तक में कई त्रुटियाँ रह गई हैं । मैं बड़ा प्रसन्न होता यदि कोई मुझ से योग्य पुरुष इस कार्य को सम्पादन करता, परन्तु ऐसा न हुआ अतः कड़ी आवश्यकता को देख मुझे इस पुस्तक को लिखने का साहस करना पड़ा । यदि शुद्ध भावों से प्रेरित होकर कोई महाशय मेरी कोई भूल बतलावेंगे तो उस पर पूरा विचार करूँगा और समझ आ जाने पर आगे की आवृत्ति में उस को शोध भी दूँगा परन्तु “ जो कोई पक्षपात से अन्यथा शंका वा खण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जावेगा” । अन्त में मैं पं० ब्रह्मानन्द का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने पुस्तक को सुभाषा से सुभूषित करने और प्रमाणों के ढूढ़ने में मुझे बड़ी सहायता दी

गुरुकुल कांगड़ी २९-७-१९६७ वि०

रामदेव



द्वितीयवृत्ति की भूमिका

इस पुस्तक की प्रथमावृत्ति २ मासों के अन्तर्गत ही समाप्त हो गई और इस लिये दूसरी आवृत्ति बहुत शीघ्र निकालनी पड़ी अतः विशेष परिवर्तन नहीं हो सका। तथापि रामायण के भाग में कतिपय पृष्ठ बढ़ा दिये गए हैं प्रश्नोत्तर और संग्रह को सर्व साधारण के लिये अनुपयुक्त समझ के अब की बार निकाल दिया है अन्त में मैं आर्यजाति के प्रति उत्साह-वृद्धि के लिये धन्यवाद प्रकट करके इस भूमिका को समाप्त करता हूं और आशा दिलाता हूं कि तीसरी आवृत्ति में पुस्तक को अधिक सर्वमिय और लाभदायक बनाने का प्रयत्न करूंगा।

रामदेव

गुरुकुल कांगड़ी ३-१-१९६८ वि०।

विषय सूची ।

इतिहास का लक्षण और उस से लाभ—पृष्ठ १ से ५ तक ।

क्या प्राचीन आर्य्य इतिहास जानते थे ?

एक सभ्यजाति के लिये इतिहास की आवश्यकता संस्कृतभाषा में इतिहास शब्द का होना—संस्कृतसाहित्य में इतिहास के गुणवर्णन—क्यों भारतवर्ष का कारण कार्य्य शृंखलारूप पूर्ण इतिहास नहीं मिलता—प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकें—प्राचीन आर्यों के ऐतिहासिक होने में अन्यान्य युक्तियां—

पृष्ठ ६ से १४ तक

भारतवर्ष का इतिहास अब कैसे बन सकता है ।

प्राचीन संस्कृतसाहित्य का गूढ़ दृष्टि से अवलोकन—राजतरङ्गिणी, महाभारत, रामायण, ऐतिहासिक काव्यों और पुराणों का आन्दोलन—शिला लेखों पर विचार—पुराने खण्डहरों तथा सिक्कों की परीक्षा—विदेशी यात्रियों की पुस्तकों का पाठ—ईरान, मिश्र, कालडिया, चीन, यूनानादि देशों के प्राचीन इतिहासों का अवलोकन—

पृष्ठ १५ से २५ तक ।

वेद ।

भारतवर्षीय इतिहास के सम्बन्ध में इस विषय का महत्त्व—ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता—वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में युक्तियां—इस प्रश्न पर पश्चिमी विद्वानों का सम्भ्रम—

पृष्ठ २६ से ५० तक ।

ब्राह्मण ग्रन्थों का समय—उस समय का साहित्य

पृष्ठ ५१ से ५८ तक ।

यज्ञ शब्द के अर्थ

पाश्चात्य विद्वानों और उन के भारतीय शिष्यों का सम्भ्रम—यज्ञ के धात्वर्थ—सृष्टि से शिक्षा—भारत के इतिहास और सामाजिक संगठन में यज्ञ शब्द का प्रयोग—

पृष्ठ ५९ से ६९ तक ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में शिक्षा की रीति और विद्या का प्रचार ।

शिक्षा की रीति—सर्व साधारण को विना मूल्य उच्च से उच्च शिक्षा—कौन २ से विषय गुरुकुलों और परिषदों में पढ़ाए जाते थे—ज्योतिषशास्त्र की अवस्था—क्या आर्यों ने ज्योतिषशास्त्र चीनियों अथवा बेविलोनिया के लोगों से सीखा था—पण्डित बायट और वीवर की सम्मति—राजनियम शास्त्र की अवस्था—अङ्कगणित, रेखागणित और बीजगणित की अवस्था—व्याकरणशास्त्र और भाषाविज्ञान की अवस्था—भाषाविज्ञान की शिक्षा के केन्द्र—न्यायशास्त्र की अवस्था— पृष्ठ ७० से ८४ तक ।

राजा, उस का अधिकार और कर्तव्य तथा राजव्यवस्था ।

राजपदाधिकारी कौन हो सक्ता था—प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध नहीं होता था प्रत्युत राज्य प्रजातन्त्र होता था—राजतिलक संस्कार और उम से शिक्षा—राजा भी दण्डनीय होता था—रोमन राजव्यवस्था के साथ प्राचीन राजव्यवस्था का सम्मेलन—न्यायविभाग और प्रबन्धविभाग पृथक् २ थे—राजनीतिज्ञ भिन्न २ आचार्य्य और ऋषि—दण्डसम्बन्धी नियम, क्या वे कठोर थे—ब्राह्मणों और शूद्रों के साथ एक ही प्रकार के बर्त्ताव—मृत्यु-दण्ड की कई आचार्यों की सम्मति में अनावश्यकता, उस की स्थानापत्ति राजानियम शास्त्र का आशय—प्रायश्चित्त पर विचार—व्यावहारिक राज-नियम—दायभागसम्बन्धी राजनियम—स्वास्थ्यरक्षासम्बन्धी राजनियम—सर्वसाधारणहितसम्बन्धी राजनियम—भूमिकरसम्बन्धी राजनियम—प्राचीन राजनियमों पर एक साधारण दृष्टि— पृष्ठ ८५ से ११९ तक ।

वर्णाश्रम अवस्था, स्त्रियों की दशा साधारण अवस्था ।

वर्णाश्रम- ब्रह्मचारियों तथा उन के अध्यापकों के कर्त्तव्य गृहस्थाश्रम—विवाह की रीति—स्त्री पुरुष के कर्त्तव्य और अधिकार—सामाजिक रचना में स्त्री जाति की स्थिति—वानप्रस्थ और संन्यास वर्णाश्रमव्यवस्था और जातपात-शिष्टाचारादि विविध प्रकार की बातें— पृष्ठ १२० से १५९ तक ।

राजवंश—सभ्यता—यज्ञादि ।

साधारण अवस्था—कुरु और पंचाल—विदेह, कोशल, काशी आदि—

उस समय के कार्यकर्त्ता— उस समय की आर्थिक दशा— नगर और ग्रामों का वृत्तान्त—उस समय की सभ्यता पर एक साधारण दृष्टि—क्या प्राचीन आर्य्य गोमांसभक्षक थे ?—नरमेघ और अश्वमेघ यज्ञ के वास्तविक अर्थ—ब्राह्मणः न्यो के अलङ्कार और पश्चिमीय इतिहासवेत्ताओं का सम्भ्रम-उप-निषदों और ब्राह्मणों के अलङ्कार अन्य मतों की धर्म पुस्तकों में—प्राचीन समय में शुद्धि—

पृष्ठ १६० से १८९ तक ।

मनुस्मृति का निर्माण ।

मनुस्मृति कब बनी—यवन, काम्बोज और शक मनुस्मृति के श्लोक महा-भारत में मनुस्मृति के श्लोक वाल्मीकि रामायण में मनुस्मृति के परस्परविरुद्ध श्लोक असल श्लोकों की जांच की कसौटी-पुराकालीन ऐतिहासिक घटनाओं के निरूपण में भ्रम का कारण—ब्रह्मा, विराट्, मनु, मरीचि, भृगु, स्वायम्भुवमनु—मनुस्मृति की उत्पत्तिविषयक दो अनुमान और हमारी अन्तिम सम्मति—प्रायः तीन सौ श्लोक मनुस्मृति से निकल गए हैं और प्रायः ४०० श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

पृष्ठ १९० से २१६ तक ।

वर्णाश्रमधर्म

आर्य्य और दस्यु—द्विजाति और शूद्र—ब्रात्य—अनुलोमज, प्रतिलोमज, वर्णसङ्कर—चारवर्ण—ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य—शूद्र—क्या शूद्र ही आर्य्यावर्त के आदिनिवासी हैं ? शूद्र वा गलाम—चारों वर्णों के सामान्यधर्म—आश्रमों की व्यवस्था—ब्रह्मचर्याश्रम—गुरु और शिष्य—अनध्याय—गुरु ही वर्णव्यवस्थापक था—गृहस्थाश्रम—एक पुरुष की एक पत्नी—स्वयम्बर-विवाह—कन्याविष्कय का निषेध—पञ्चमहायज्ञ—खाद्याऽस्वाद्य—साधारण स्त्रोत्रान्धीनियम—मान्य के नियम—द्वियों की स्थिति—वानप्रस्थ—संन्यास—सब आश्रमियों के सामान्य-धर्म—

पृष्ठ २१७ से पृष्ठ २५७ तक ।

राजधर्म ।

राजा—राजा और प्रजा—राजा पूज्य है—राजा का प्रधान कार्य्य—राजा और मन्त्रीसभा—राजा और मुख्याधिकारी—सभा के बीच राजा का न्याय-प्रदान—राजा और ब्रह्मा की सभा—राजा और प्रजा की साधारण सभा—

सम्राज्य राजा-राज्य की भिन्न २ परिषदें-राजनीति और राजा की दिन-चर्या-राज्य के भिन्न २ विभाग-शासन वा प्रबन्धविभाग-सेना वा युद्धविभाग सेनाओं का विभाजन-दुर्गों का निर्माण-प्रधानदुर्ग में राजभवन-तीन मार्गों से जाने वाली सेनाएं-व्यूहों की रचना-युद्धसम्बन्धी नियम-विजयी राजा का कर्तव्य-करविभाग-न्यायविभाग-वैदेशिक विभाग-गुप्तचर-क्या मनुस्मृति की दण्डाज्ञा कठोर थी?-मुद्राओं के प्रकार-आदर्श राजा और आदर्श राज्य-
पृष्ठ २५८ से २७८ तक ।

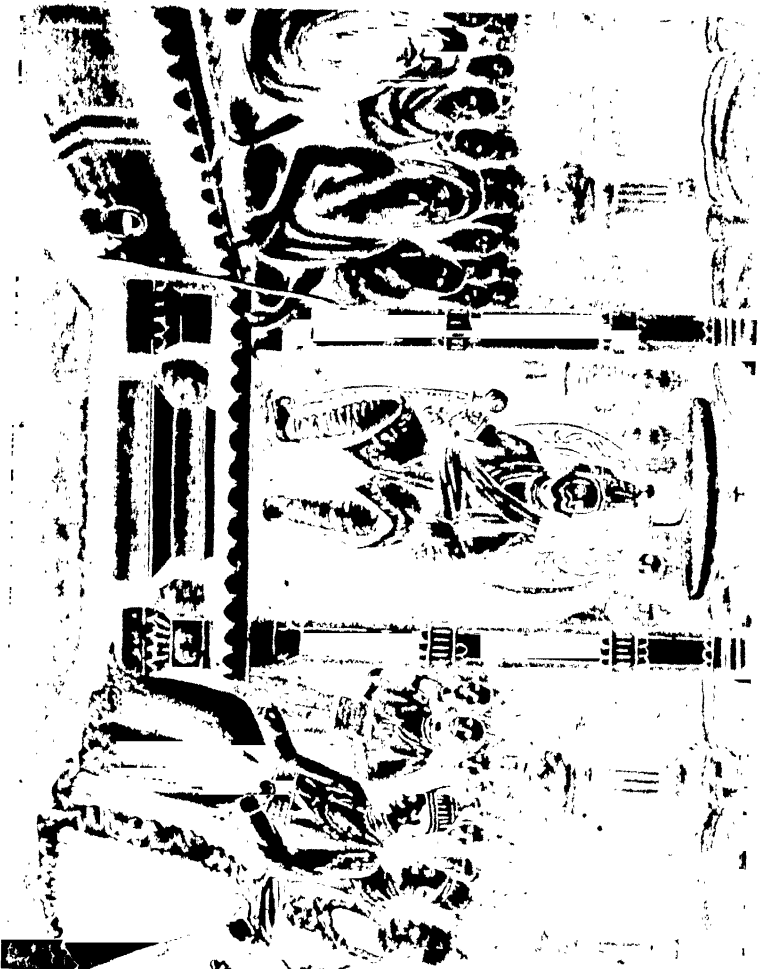
रामायण के समय का इतिहास-श्री रामचरित की प्रतिष्ठा-श्री रामचरित के विषय में बीबरादि का भ्रम-वाल्मीकि रामायण की श्लोक-संख्या-अयोध्या-अश्वमेधयज्ञ-महाराज दशरथ के पुत्रों की उत्पत्ति और उन की शिक्षा-श्री राम और विश्वामित्र-धनुषभञ्जन और विवाह-श्री रामचन्द्र जी के गुण-राजसभा का अधिवेशन तथा युवराज्याभिषेक की तय्यारी-कैकेयी की कठोरता-श्री राम की वनयात्रा और प्रजा का शोक-पञ्चवटी का युद्ध-राक्षसजाति-सीताहरण-वानरजाति-सुग्रीव से मैत्री और बालीवध-हनुमान का समुद्र तैरना-सीता का अनुसन्धान-सेतु का बांधना-लंकायुद्ध-श्री राम का अयोध्या लौटना और उन का राज्याभिषेक ।

पृष्ठ २७९ से ३५१ तक ।

महाभारत के समय का इतिहास ।

रामायण और महाभारत के समयों की तुलना-महाभारत के कर्त्ता और इस के श्लोकों की संख्या-महाभारत युद्ध का समय निरूपण-कौरव तथा पाण्डवों की उत्पत्ति-कौरव तथा पाण्डवों की शिक्षा-द्रोणाचार्य के लिए गुरुदक्षिणा-युधिष्ठिर का यौवराज्य और वनवास-द्रौपदी का स्वयम्बर-इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का स्थापन-राजसूय यज्ञ और दिल्ली का पहला राज दरबार-शूतक्रीड़ा और उस का विषमय परिणाम-बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास-युद्ध की तय्यारी अठारह दिनों का घोर संग्राम और उस का शोक मय परिणाम
पृष्ठ ३५२ से ३८० तक ।

यह उम राजमभा (पाउण्ड) का चित्र, जिन म आराम के सुधारवाधिका विषय म
 विचार हो रहा ह । राजमि गमन पर मद्राज नगर विराजमान ह । दक्षिण पृष्ठ २०६ ।



यह म उ म राजमभा (पाउण्ड) का चित्र, जिन म आराम के सुधारवाधिका विषय म
 विचार हो रहा ह । राजमि गमन पर मद्राज नगर विराजमान ह । दक्षिण पृष्ठ २०६ ।

* १०३ *
*

भारत का इतिहास ।

❀ प्रथम भाग ❀

❀ प्रथम परिच्छेद ❀

* इतिहास का लक्षण और उस से लाभ *

दुःख सागर से पार हाने के जो कतिपय प्रधान साधन हैं उन में से एक ऐतिहासिक ज्ञान भी है । अनेक शताब्दियों से इस भयङ्कर सागर के भंवर में पड़ी हुई हमारी नौका डगमगा रही है । हमारे जो पुरुष इस नौका को सुगति से चलाते थे वे तो परलोकवासी हो गए और हम आलसियों ने इस नौका संचालन की विधि उन से न सीखी । जब प्रचण्ड पवन बहने लगा, नौका अधिक डोलने लगी, अब गई तब गई की दशा उपस्थित हुई, तब हा हा कार आरम्भ हुआ । परन्तु इस क्रन्दन से क्या होता है ? सावधान हो कर हमें चाहिये कि हम उन विधियों का पता लगाएं जिन्हें धारण कर हमारे पुरुष इस नौका को सुगति से संचालित करते थे और हमारे कल्याण के विचार से जिन्हें वह अपने पुस्तकों में अङ्कित कर गए हैं और साथ ही दृढना चाहिए कि हम क्रोड़ों मनुष्यों में अब एक भी कर्णधार कहीं वर्तमान है वा नहीं जो इस दुःखसागर में डूबने से बचने के उपाय तथा शान्ति युक्त यात्रा की विधि हमें शीघ्र बताए ।

यह एक स्वाभाविक बात है कि जब मनुष्य किसी महान् कार्य सम्पादन की चिन्ता में निमग्न होता है तो कार्य्य शैली के परिज्ञान के लिये चाहता है कि उसे कोई ऐसा पुरुष मिले जिस ने उस प्रकार के कार्य्य पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की हो अथवा जिस ने अकृतकार्य्यता की दशा में भी अभीष्ट सिद्धि के लिये पूर्ण पुरुषार्थ किया हो । उक्त प्रकार के पुरुषों में से एक भी व्यक्ति यदि उसे मिल

जाता है तो कार्यारम्भ से पूर्व वह उस के साथ विचार करता और उस के अनुभवों को ध्यान से श्रवण करने लगता है । यह क्यों ? क्या वह उस के साथ विचार करने में जो समय लगाता है उसे वह अपने कार्यसम्पादन में नहीं लगा सकता ? गम्भीर विचार से ज्ञात होता है कि इस प्रकार का सम्मिलन और सम्भाषण भी कार्यसम्पादन के साधन ही हैं । जो मनुष्य किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर लेता है वह सफलता प्राप्ति के पूर्व पुरुषार्थ करते समय अनेक भूलें करता, अनेक कष्टदायक कठिनाइयों को लांघता, क्रमशः अनुभवी होता और तब जिस प्रकार सफलता प्राप्त की जाती है उन सब विधियों का ज्ञाता बनता है । ऐसे अनुभवी पुरुष के साथ विचार कर लेने से नूतन कार्यकर्ता कृतकार्यता के कारणों और कार्य प्रणाली को जान कर आशावान और उत्साहित होता, अनेक भूलों से बचता और कठिनाइयों को अल्पश्रम से लांघता हुआ सुगमता से उन्नति के मार्ग पर चलता है और इस प्रकार बहुत सा समय और श्रम जो कार्य से सर्वथा अपरिचित होने की अवस्था में नष्ट करता उसे बचा कर स्वकार्य सिद्धि में लगाता है । कृतकार्य पुरुष के अभाव में यदि उसे वह पुरुष मिल जाता है जो सफलता की प्राप्ति के लिये पूर्ण पुरुषार्थ करने पर भी स्त्राभिष्ट सिद्धि से वञ्चित रहा हो तो उस की कठिनाइयों, भूतों और अपक्व अनुभवों से भी लाभ उठाता हुआ नूतन कार्यकर्ता अपना सफलता के लिये अनेक नवीनोपाय सोचना और अनेक विध कष्टों से बचता है ।

यह तो हुई एक मनुष्य की वार्त्ता । अब किमी ऐसे कार्य पर विचार कीजिये जिसे अनेक मनुष्य मिल कर ही सम्पादन कर सकते हों, जैसे कि खान का खोदना । खनिज विद्या से अपरिचित १०० मनुष्य मिल कर यदि एक सुवर्ण की खान को खोदने लगें तो कार्यविधि से अनभिज्ञ होने के कारण उन्हें अनेक कठिन कष्ट उठाने पड़ेंगे परन्तु यदि उन्हें उन लोगों की कार्यविधि सविस्तर ज्ञात हो जाय जिन्होंने उन से पूर्व इस कार्य को किया हा तो वे निश्चिन्त हो अपने कार्य को सुगमता से करने लगेंगे और यदि पूर्व कार्यकर्ता इन नूतन कार्यकर्ताओं के पुरुषा हों तो कार्य रीति की प्राप्ति के साथ ही इन का मस्तिक पैतृक उत्साह और हृदय आह्लाद से परिपूर्ण हो जायगा, क्योंकि संसार का यह नियम है कि मनुष्य अपने पुरुषाओं की सफलता का वृत्तान्त श्रवण कर उत्साहित होता और उन का अनुकरण करने के लिये बद्ध परिकर हो जाता है । आप ही साँचें कि यदि आप के पिता वा अध्यापक धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हों अथवा किसी विशेष विद्या में विशेष निपुण

हों तो आप का मन कितना उत्साहित होता और अनुकरण की प्रबल इच्छा आप को किस प्रकार वशीभूत कर लेती है (परन्तु किसी अन्य के विषय में ऐसे वृत्तान्त श्रवण कर आप का हृदय उतना उद्वेलित नहीं होता), एवं यदि आप के पुरुषाओं ने किसी स्थान विशेष में अपनी बुद्धिमत्ता से सुकार्यों के सम्पादन में बारम्बार काँति प्राप्त की हो तो उस स्थान के साथ तथा उस भूमि (देश) के साथ भी जहाँ ऐसे महापुरुषों ने जन्म ग्रहण किया हो आप का स्नेह हो जाता है । यही कारण है कि आज भी लक्षां मनुष्य अयोध्या, मथुरा प्रभृति के नामों से उत्साहित हो रहे हैं ।

जो बात एक मनुष्य अथवा मनुष्यों के एक छोटे समूह के विषय में सत्य है वह एक मनुष्य महामण्डल वा जाति के विषय में भी चरितार्थ हो सकती है, क्योंकि मनुष्य व्यक्तियों के समारोह से ही एक मनुष्य महासमूह वा जाति बनती है । बहुत से कार्य ऐसे हैं जिन्हें सारी जाति मिल कर ही कर सकती है । यदि कोई सामाजिक कुरीतियां देश में हों तो सारी जाति का मिल कर ही सुधार का यत्न करना पड़ता है, क्योंकि यदि जाति का एक भाग कुरीतियों से पीड़ित हो तो शेष भाग भी सुखी नहीं रह सक्ता । यदि किसी देश में वाणिज्य करना बुरा समझा जाय तो इस का परिणाम यह होगा कि उस देश के निवासी सब के सब दरिद्री बन जायेंगे अतएव आवश्यक है कि जाति अपने धार्मिक, सामाजिक तथा अन्यान्य प्रकार के नियमों का भली भाँति सोच समझ कर बनावे और इन नियमों के निर्धारण के लिए उन सामाजिक तथा अन्यान्य प्रकार के नियमों पर भी विचार करले जिन का पालन इस के पुरुषा किया करते थे अर्थात् अपने पुरुषाओं का इतिहास भलीभाँति अध्ययन कर उक्त प्रकार के गम्भीर नियमों के निर्माणार्थ उद्यत हो ताकि उन्नति का मार्ग उस के लिये सुगम हो जाय ।

इतिहास

उस विद्या का नाम है जिस के अवलोकन से हमें किसी जाति के पुरुषाओं के वृत्तान्त अर्थात् उन की उन्नति और अवनति, उन की चेष्टा और शिथिलता उनकी भ्रान्ति और दक्षता एवं उन के सुखों और दुःखों का पूरा २ ज्ञान हो ।

भारतवर्षीय इतिहास ।

आर्य्य जाति की उन्नति और अवनति, उस की चेष्टा और शिथिलता उस की भ्रान्ति और दक्षता, अनेक समय उस के नेताओं की मूर्खता तथा स्वार्थपरता के

कारण उस के दुःखों और अन्यान्य समयों में उन की बुद्धिमत्ता तथा आत्मत्याग के कारण उस के सुखों का वृत्तान्त है ।

यह निश्चित है कि हम भारतवासी जब भारतवर्ष का इतिहास पढ़ेंगे तो अपने पुरुषाओं के महान् कार्यों को मनन कर उत्साहित होंगे, जार्तीय अभिमान उत्तेजित होगा तथा अपने कई पुरुषाओं की भूलों को देख कर निश्चित पदों से उन्नति के मार्ग पर चलेंगे । कौन आर्य्यसन्तान है जो यह सुन कर प्रसन्न न होगा कि महाराज रामचन्द्र ऐसे धर्मात्मा पुरुष थे कि सत्यप्रतिज्ञा पालनार्थ उन्होंने अयोध्या का राज्य परित्याग कर दिया, भीष्मपितामह ऐसे वीर थे कि वाणों की शय्या पर पड़े हुए भी शम दम का उपदेश कर सक्ते थे, प्राचीन आर्य्य ऐसे साहसी, उद्योगी तथा ईश्वर भक्त थे कि वेद की आज्ञा “समुद्रं गच्छ स्वाहा अन्तरिक्षं गच्छस्वाहा” के पालनार्थ जलयान तथा आकाशयानों के द्वारा देश देशान्तर की यात्रा करते और अपना धर्ममय राज्य सब के लिये सुखदाई बनाते थे । सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवल्याश्व, यौवनाश्व, वद्यूश्व, अश्वपति, शशविन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, ननक्तु, सर्याति, ययाति, अनरण्य, अक्षसेन, मरुत्त, भरतप्रभृति, सार्वभौम महाव्रतों के प्रतिपादक ऐसे योद्धा तथा विज्ञ थे कि सम्पूर्ण पृथिवी के सुशासन और सुख के लिये सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य संस्थापित कर सकते थे, और महाभारत युद्ध के कारण बलहान हो जाने पर भी आर्य्य इतने साहसी थे कि वे जावा, सुमात्रा आदि अनेक द्वीपों तथा अन्यान्य भू-भागों में भी अपने उपनिवेश वसा सक्ते थे, गुप्त वंश के राजा इतने पराक्रमा थे कि उन का राजनैतिक सम्बन्ध रोमा और यूनान के साथ था । कौन ऐसा नीच आर्य्य होगा जिस के मन में इन वृत्तान्तों के पढ़ने से यह प्रबल इच्छा उत्पन्न न होगी कि वह अपने प्रियदेश को उन्नत करने का पुनः प्रयत्न करे । इसी प्रकार भारतसन्तान जब यह पढ़ेंगे कि भारत में मुसलमानी राज्य केवल इस कारण संस्थापित हो सका कि कन्नौज के महाराज जयचन्द ने निज द्वेषवश महाराज पृथिवीराज को पद दलित करने के लिये स्वदेश द्रोहता की और नीच सिलावदी ने ठीक उस समय जब कि मुसलमानों के विरुद्ध आर्य्यों की जय होने वाली थी स्वदेशभक्त राणा साङ्गा का साथ छोड़ दिया, तो क्या उनका मन ईर्ष्या द्वेष और अनैक्यता को दलन करने की चेष्टा न करेगा और उन के हृदय में स्वदेशभक्ति का प्रबल प्रवाह उद्वेलित न होगा ? होगा और अवश्य होगा, इसी लिये भारतवासियों को बड़े प्रेम और उत्साह के साथ अपने देश का इतिहास पढ़ना चाहिये और उस से लाभ उठाने

का पूर्ण यत्न करना चाहिये । संसार में कोई भी सम्यक् जाति ऐसी नहीं जिस के सुयोदय पुत्र अपने इतिहास को सर्वप्रिय बनाने के अनेक यत्न न करते हों । क्या सम्यक् देशों को सम्यक्ता प्रदान करने वाली जाति अपने अनेक पुरुषों के महत् कार्यों का स्मरण कर के और अनेक पुरुषों की भूलों को मनन कर के एक बार पुनः संसार की आचार्या न बनेगी ? क्या यह पुण्य भूमि फिर से संसार को सच्ची सम्यक्ता का ष्यन दिखलावेगी । आशा तो यही पड़ती है कि जो जाति इतने क्लेशों से बच निकली है वह अपने इतिहास के द्वारा अपनी वास्तविक महानता को अनुभव करती हुई फिर उन्नति के शिखर पर पहुँचेगी जो इस का स्वत्व है ।

द्वितीय परिच्छेद ।

क्या प्राचीन आर्य इतिहास जानते थे ?

एक सभ्यजाति के लिये इतिहास की आवश्यकता—संस्कृत भाषा में इतिहास शब्द का होना—संस्कृत साहित्य में इतिहास के गुण वर्णन—क्यों भारतवर्ष का कारण कार्य श्रृंखला युक्त पूर्ण इतिहास नहीं मिलता—प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकें—प्राचीन आर्यों के ऐतिहासिक होने में अन्यान्य युक्तियां ।

इतिहास की महिमा हम पिछले परिच्छेद में वर्णन कर चुके हैं । इस परिच्छेद में हमें कतिपय पश्चिमी इतिहासवेत्ताओं के इस कथन की परीक्षा करनी है कि “प्राचीन आर्य ऐतिहासिक विद्या से अनभिज्ञ थे ” । वास्तव में यदि यह लान्छन ठीक हो तो हमें मानना पड़ेगा कि हमारे पुरुषा केवल अर्धसभ्य थे क्योंकि केवल दो ही अवस्थाओं में कोई जाति ऐतिहासिक ज्ञान से शून्य हो सकती है:—

(१) कि उस के नेता कोई ऐसे कार्य न किये हों जिनको उन की सन्तति साभिमान स्मरण कर सके ।

(२) कि उस के नेता अपनी सन्तति को ऐतिहासिक शिक्षा के लाभों से अवगत कर उन में देशभक्ति के भावों को उत्तेजित करने की आवश्यकता से अनभिज्ञ हों ।

पहली अवस्था तो हा ही नहीं सकती, क्योंकि यह प्रख्यात है कि प्राचीन आर्यावर्त में रेखा गणित, ज्योतिष तथा पदार्थ विज्ञान महान्नाति को पहुँचे हुए थे, वैद्यक सम्बन्धी आश्चर्यजनक अन्वेषण हो चुके थे, अध्यात्म-विद्या उन्नति के शिखर पर विराजमान थी, प्रजातन्त्र शासन प्रणाली का अभ्यासिक प्रचार था, तथा चक्रवर्ती साम्राज्य भी संस्थापित हो चुका था । अतएव यह सिद्ध नहीं हो सकता कि प्राचीन आर्यों के कार्य ऐसे न थे जो उन की सन्तान के उच्च भावों को उत्तेजित करते और उन की उन्नति में सहायक हो सकते । वास्तव में उन के कार्य तो केवल भारत ही नहीं प्रत्युत सर्व संसार को उन्नति के मार्ग पर चलने का आदेश करते हैं ।

द्वितीयावस्था भी संघटित नहीं होती क्योंकि जब हम प्राचीन और नवीन संस्कृत साहित्य की आलोचना करते हैं तो उसे इतिहास के गुण वर्णन से भर पूर पाते हैं । स्थालीपुलाक न्याय से यहां पर थोड़े से उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं:—

अथर्व वेद, काण्ड १५, अ० १, सूक्त ६, मन्त्र १०, ११ तथा १२ में निम्नलिखित शिक्षा है:—

“ स वृहतीं दिशमनुव्यचलत् । तमितिहासाश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ” ।

अर्थात् “ महत्वाभिलषी पुरुष जब (वृहतीम्) महत्व की ओर चलता है तब इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी उस के अनुगामी बन जाते हैं ” इस बात को जो पुरुष जानता है वह इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का प्रिय धाम (वासस्थान) बन जाता है । (यह मन्त्र इतिहास विद्या का बीज है) *

गृह्य सूत्र में लिखा है:

“ ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति ”

अर्थात् ब्राह्मणों को इतिहास पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी भी कहते हैं । अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ जो ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध हैं उन में कई प्रकार के इतिहास विद्यमान हैं ।

छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में जहां महर्षि सनत्कुमार और ऋषि नारद का संवाद है वहां सनत्कुमार के पृच्छने पर नारद ने निम्नलिखित प्रकार बतलाया है कि उन्होंने ने क्या २ अध्ययन किया है:—

“ सहो वाचवेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं७ सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पितृविद्यां७ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां७ सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि ”

अर्थात् हे भगवन् ! मैंने ऋक, यजु, साम, अथर्व, इतिहास, पुराण, वेदार्थ प्रतिपादकग्रन्थ, पितृविद्या, राशि, दैव, निधि वाकोवाक्य, एकायनविद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या सर्प देव जनविद्याओं को अध्ययन किया है । (इस उत्तर में इतिहास पुराण अर्थात् पुराकालीन इतिहास का नाम स्पष्ट आया है) ।

इसी प्रकरण में सनत्कुमार ने नारद को उपदेश दिया है:—

“विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं७सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमिति-
हास पुराणं पञ्चमम्”

अर्थात् विज्ञान (सायंस) के द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इति-
हास पुराण का तत्व ज्ञात होता है । (इस कथन का तात्पर्य तो यह है कि किसी
समय इतिहासविद्या भारत में ऐसी उन्नति को प्राप्त थी कि उसके कतिपय गूढाशय
पूर्ण ग्रन्थों को समझने के लिये विद्यार्थी को पहले विज्ञानवित् अर्थात् सायंस का
ज्ञाता बनना पड़ता था) ।

महाभाष्य व्याकरण के पस्पशाहिक में लिखा है:—

“महान् शब्दस्य प्रयोग विषयः.....

वाक्यकोवाक्यमितिहासः.....”

अर्थात् “ शब्दप्रयोग ” विषय बहुत बड़ा है.....वाक्यकोवाक्य इतिहासादि
चतुष्पाष्टि (६४) कलाओं की गणना कराता हुआ एक कवि लिखता है:—

“इतिहासागमाद्याश्च काव्यालङ्कार नाटकम्.....”

अर्थात् इतिहास, वेद, काव्य, अलङ्कार. नाटक.....आदि ६४ कलाएं हैं ।

राजकुमार चन्द्रापीड को कौन २ सी विद्याएं पढ़ाई गई थीं इस का वर्णन
करता हुआ कवि वाण अपने ग्रन्थ कादम्बरी में लिखता है: —

“स (चन्द्रापीडः) महाभारत पुराणेतिहास रामायणेषु परं कौशलमवाप”

अर्थात् वह राजकुमार महाभारत, इतिहास, पुराण, तथा रामायण में बड़ा
कुशल हो गया ।

राजा के वर्णन में कवि वाण ने कादम्बरी में लिखा है:—

“ स ऋदाचिदाख्यानकाख्यापिकेतिहास पुराणाकर्णनेन सुहृत्परिवृत्तो
दिवनैषीत्”

वह कभी २ प्रबन्ध, कहानियां, इतिहास, तथा पुराणों को सुन कर मित्रों के
साथ दिन व्यतीत करता था ।

महाभारत में लिखा है:—

“इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपवृंहयेत्”

अर्थात् इतिहास तथा पुराण से वेदार्थ दृढ़ करना चाहिये । इस से पता लगता है कि प्राचीन आर्य ऐतिहासिक विज्ञानशास्त्र के इस नियम को भी भली भांति जानते थे कि जब तक किसी मनुष्य ने बहुत सी सांसारिक स्थूल घटनाओं के परस्पर सम्बन्धों को न समझा हो तब तक वह सूक्ष्म नियमों को ठीक अनुभव नहीं कर सक्ता क्योंकि स्वभावतः ज्ञान की गति स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर है ।

एक कवि लिखता है:---

“धर्मार्थकाममोक्षानामुपदेशसमन्वितम् पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहासप्रवक्षते”

अर्थात् इतिहास वह विद्या है जिस में प्राचीन बातों के वर्णन के साथ २ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का उपदेश हो । इस से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में इतिहास न केवल घटनाओं का तिथि वार वर्णन ही करता था किन्तु साथ ही कारण कार्थ्य की शृङ्खला द्वारा उन घटनाओं से जो शिक्षा मिलती थी वढ़ भी जतलाता था ।

इन उदाहरणों से भली भांति विदित होता है कि प्राचीन आर्य इतिहास को एक प्रकार का विज्ञान और धर्मार्थ काम मोक्ष की प्राप्ति में सहायक मानते थे एवं इस की सहायता से अपने अनेक काव्यों को शिक्षाप्रद तथा मनोरञ्जक बनाया करते थे । भला, जिस इतिहास की विद्यमानता की सार्क्षा नारद, सनत्कुमार, पतञ्जलि प्रभृति स्पष्ट शब्दों में दे रहे हैं उस के ज्ञाता भारत में न हुए हों यह कैम सम्भव हो सकता है ? एवं भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक साहित्य की अविद्यमानता कोई कैसे सिद्ध कर सकता है ?

अब प्रश्न उपस्थित यह होता है कि यदि प्राचीन आर्य लोग इतिहास के लाभों से परिचित थे तो इस समय कारण कार्य शृङ्खलायुक्त समस्त भारत का इतिहास क्यों नहीं मिलता, जिस में तिथिवार सब घटनाओं का सविस्तर वर्णन हो ? मिले कैसे ? क्या भारत पर आक्रमण करने वाले मुसलमानों की साम्प्रदायिक पक्षपात से अब भी संसार अपरिचित है ? जिस समय मुसलमानी मत से असम्मत भारत सन्तान को वशीभूत करने की बलात चेष्टा की जाती थी, जिस समय सहस्रों पुरुषों से उन की पत्नियां भ्राताओं से भग्नियां छीनी जाती थीं, कर्भी २ कृतल आम अर्थात् सर्व जन बध की आज्ञा प्रचरित होती थी, उस समय कुरान के प्रतिद्वन्दी भारतीय ग्रन्थ भला कैसे बच सकते थे ? उदान्तापुरी का प्राचीन विश्वविद्यालय महाराज महिपाल के समय महोन्नति को प्राप्त था, जिस में अन्यान्य प्रकार के विद्यार्थियों के अतिरिक्त हीनायन

सम्प्रदाय के १००० एक सहस्र बौद्ध साधु तथा महायान सम्प्रदाय के ५००० पांच सहस्र बौद्ध साधु शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, उस के महान् पुस्तकालय को जिस में ब्राह्मणों तथा बौद्धों के ग्रन्थ भरे पड़े थे, १२०२ ईसवी में बख्तियार खिलजी के सेनापति मुहम्मद बिनसीम ने जला दिया और उक्त साधुओं को मार डाला । * ऐसी दुर्घटनायें कितनी हुई इस का पता कौन लगा सकता है ! (वर्तमान संस्कृत

* देखिये राय सरतचन्द्रदास बहादुर सी० आई० ई० का अंग्रेजी उपख्यान जो साहित्य सभा कलकत्ता में, सर रोपर लेथब्रिज एम० ए० के० सी० आई० ई० की प्रधानता में हुआ था और जो प्रयाग के मासिकपत्र हिन्दुस्तान रिविउ अक्टू मार्च १८०६ में छपा है, वहां लिखा है:—

“The temple of Odantapuri vihara which is said to have been loftier than either of the two (Budha Gaya and Nalanda) contained a vast collection of Buddhist and Brahmanical works which, after the manner of the great Alexandrian library, was burnt under the orders of Mohamed Ben Sim General of Baktyar Khilji in A.D. 1202.” (The Hindustan, Review, March 1906. P. 187.) .

“During the reign of the son of king Mahipal who was called Pal the Great i. e. Mahapal, there were 1000 monks of the earlier school of Buddhism called Hinayana & about 5000 monks of the Mahayana school at Odantapuri. The Pal kings had established a monastic university at Odantapuri with a splendid library of Brahmanical and Buddhist works which was destroyed at the sack of the monastery and massacre of its monks by the Mohamedans in A. D. 1202.” (The Hindustan Review, March 1906, P. 190).

अर्थात् उदान्तापुरी के विहार मन्दिर में (जिस के विषय में कहा जाता है कि वह बुद्धगया तथा नलन्द के विहार मन्दिरों से भी जंजा था) ब्राह्मणों तथा बौद्धों के बनाए ग्रन्थों का एक बहुत बड़ा सङ्कलन था जो कि अलेग्ज़ेंड्रिया के महान् पुस्तकालय की भांति १२०२ ईसवी में बख्तियार खिलजी के सेनापति मुहम्मद बिनसीम की आज्ञानुसार जलाया गया (हिन्दुस्तान रिविउ, मार्च १८०६ पृष्ठ १८७) ।

महाराज महिपाल के पुत्र महाराज महापाल के शासन समय उदान्तापुरी में बौद्धों के पुराने पन्थ हीनायन सम्प्रदाय के एक सहस्र १००० साधु तथा नवीन पन्थ महायान सम्प्रदाय के ५००० पांच सहस्र साधु निवास करते थे । साधुओं के लाभार्थ पालवंश के महाराजाधों ने उदान्तापुरी में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया था जिस में एक सुन्दर और विशाल पुस्तकालय ब्राह्मणों तथा बौद्धों के ग्रन्थों से पूरित विद्यमान था। यह पुस्तकालय १२०२ ईसवी में (जब कि मुसल्मानों ने उक्त साधु आश्रम पर चढ़ाई कर साधुओं को मार डाला) मुसल्मानों के द्वारा जला दिया गया । (हिन्दुस्तान रिविउ मार्च १९०६) ।

ग्रन्थों में अनेक ऐसे ग्रन्थों के नाम आते हैं जिन का इस समय कहीं भी पता नहीं लगता । इस का कारण क्या ? यही कि अनेक भारतीय ग्रन्थ मुसलमानी ईर्ष्यानि में भस्म हो गये) जब आर्य्य जाति पर यह विपत्ति पड़ी तो उस के नेताओं ने यह सोचा कि इतिहासादि साधारण ग्रन्थ तो फिर भी बन सकते हैं परन्तु यदि वेदों, उपनिषदों, तथा दर्शनादि शास्त्रों का नाश हो गया तो न केवल आर्य्य जाति ही विनष्ट हो जायगी प्रत्युत संसार मात्र की आत्मिक मानसिक तथा सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ेगी । अतएव वह वेदोपनिषद् दर्शनादि कतिपय ग्रन्थों को विशेष रूप से कण्ठस्थ करने लगे जिस से आर्य्यों के सैकड़ों ग्रन्थ बच गये परन्तु सहस्रों परमोपयोगी ग्रन्थों की रक्षा न हो सकी, वेदों की प्रायः १००० एक सहस्र शाखाओं का नाश हो गया, धनुर्वेद, आयुर्वेद, शिल्पविद्या, इतिहासादि के सैकड़ों ग्रन्थ विलुप्त होगये । तथापि मानना पड़ेगा कि हमारे पुरुषों ने उस घोर विपत्ति के समय बड़ी बुद्धिमत्ता से काम किया । यदि आज इस गिरी हुई अवस्था में भी भारत सन्तान का कुछ मान्य योरोप तथा अमेरिकादि देशों में है तो उस का कारण केवल यही है कि गौतम, कणाद, पतञ्जलि और व्यास की पूजा सभ्य संसार में होती है ।

परन्तु क्या सारी इतिहास की पुस्तकों का नाश हो गया ? नहीं, इस समय भी काश्मीर का इतिहास मिलता है जिस का नाम राजतरङ्गिणी है जिस के कर्ता कल्हन के विषय में डाक्टर स्टाइन नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक मानते हैं कि कल्हन इतिहास के सच्चे अर्थों को जानते थे और मिस्टर एचब्रूस आश्चर्य प्रकट करते हैं कि जिस समय योरोप में वास्तविक ऐतिहासिक बुद्धि का विकास भी नहीं हुआ था उस समय भारत में कल्हन सरीखे इतिहासवेत्ता कैसे उत्पन्न हो गए ! कल्हन का कार्य अद्भुत है और ईवोल्यूशन थियोरी अर्थात् विकास विचार के नियमों में आवद्ध नहीं होता !

सोचने की बात है कि महाराज विक्रमादित्य की बारहवीं शताब्दि में जब कि भारत का अधःपतन हो रहा था, कल्हन सरीखे इतिहासवेत्ता उत्पन्न हो सकते थे तो उस समय जब कि भारत उन्नति के शिखर पर विराजमान था इस देश में कितने और कैसे २ ऐतिहासिक विज्ञानी उत्पन्न हुए होंगे ! कल्हन लिखते हैं कि राजतरङ्गिणी लिखने के पूर्व मैंने ११ ग्यारह ऐतिहासिकों के पुस्तकों को अवलोकन किया, परन्तु शोक ! महाशोक ! कि मुसलमानों की कृपा से उन में से एक का भी कहीं पता नहीं चलता ।

प्राचीन आर्यों की तो कथा ही क्या है उन की पतित सन्तति भी ऐतिहासिक घटनाओं को स्मृत वा अङ्कित रखना आवश्यक समझती थी । जिस समय भारत में हाहाकार मचा हुआ था और आर्यों की लिखित पुस्तकों को मुसल्मान नष्ट कर रहे थे उस समय देश के शेष भाग और चारण सामयिक ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन लिखने की अपेक्षा कण्ठस्थ रखना समुचित समझ प्रसिद्ध २ घटनाओं को अपनी स्मृति में रखने लगे । यही कारण है कि सुप्रसिद्ध निष्पक्ष ऐतिहासिक टाड महाशय जब क्षत्रियों का इतिहास लिखने लगे तो उक्त चारण तथा भाटों से उन्हें तिथिवार उन सब ऐतिहासिक घटनाओं का ठीक २ पता मिल गया जिन्हें उन्होंने अपने सुप्रतिष्ठित इतिहास राजस्थान में अङ्कित कर रखा है । मरहटों की शक्ति जब प्रकट हुई, मुसल्मानी अन्याचार का सामना भारतीय सफलता के साथ करने लगे तब पुस्तकों के नाश का भय कुछ न्यून हुआ और मरहटे, महाराज शिवजी (संवाजी) तथा पेशवाओं के राज्य समय का वृत्तान्त मरहटी भाषा में लेखबद्ध करने लगे जो अब तक विद्यमान है ।

जो पक्षपाती यह कहते हैं कि प्राचीन अर्यों को ऐतिहासिक विद्या का ज्ञान न था वह यह बतावे कि अबुलफजल ने जो भारत का इतिहास लिखा है उसकी सामग्री उसने कहाँ से एकत्रित की ? यदि ऐतिहासिक विद्या का ज्ञान ही न था तो महाराज अशोक अपने राज्य समय की घटनाओं को तिथि सहित पर्वतों की शिखरों पर क्यों लिखवाया करते थे ? क्या समालोचक महाशयों ने कभी चीनी यात्री ह्यूनसैन के भारत भ्रमण वृत्तान्त का ध्यानपूर्वक पढ़ा है ? ह्यूनसैन स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं * “घटनाओं को लेखबद्ध करने के लिये प्रत्येक प्रदेश में एक राजपुरुष होता था जिस का कार्य

* With respect to the records of events, each province has its own official for preserving them in writing. The record of these events in their full character is called Ni-lo-pieha (Nilpita, blue deposit). In these records are mentioned good and evil events, with calamities and fortunate occurrences (Records of western countries, Book II. Literature; translated from the Chinese of Hiuen Tsiang of A. D. 629. English edition of 1906. P, 78.)

अर्थात् घटनाओं को लेखबद्ध करने के लिये प्रत्येक प्रदेश में एक राजपुरुष होता था जिस का कार्य यह था कि घटनाओं का वृत्तान्त लिखता रहे उनके लेखों का नाम “नीलोपित्र” “नीलपित” (नीलपत्री) वा “नीलकोष” था । इन लेखों में घुघटनाएं तथा दुर्घटनाएं सभी बर्णित होती थीं एवं देश की आपत्ति तथा सौभाग्य सूचक घटनाएं सब

यह था कि घटनाओं का वृत्तान्त लिखता रहे उनके लेखों का नाम नीलोपिच वा नीलपित (नीलपत्री) वा नीलकोष था, इन लेखों में सुघटनाएं तथा दुर्घटनाएं सभी वर्णित होती थीं एवं देश की आपत्ति तथा सौभाग्य सूचक घटनाएं सब विद्यमान रहती थीं । ” आजकल भी यूरोपीय देशों में राज्य प्रबन्ध के लिये प्रत्येक विभाग से ब्लूबुक अर्थात् नील पत्रियां निकलती हैं जिन के आधार पर ही आधुनिक ऐतिहासिक इतिहास लिखा करते हैं । भारतीय नीलपत्री तथा यूरोपीय ब्लूबुक इन दोनों नामों में जो समता है वह वर्तमान ऐतिहासिकों के मन में नाना प्रकार की कल्पनाएं उत्पन्न कर रही है । क्या यह असम्भव है कि यूरोपियनों ने ब्लूबुक लिखने की प्रणाली नीलपत्री के निमार्ण से ही सीखा हो :

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत वर्ष के इतिहास में कोई समय ऐसा था जब कि कवि लाग अपनी काल्पनिक रचनाओं के लिये सामग्री भी प्रायः ऐतिहासिक पुस्तकों से लेते थे और इसी कारण उन्हें इतिहास दर्शी भी बनना पड़ता था । क्षेमेंद्र कृत कवि कण्ठाभरण, प्रथम सन्धि के निम्नलिखित श्लोक से कवि के लिए इतिहास दर्शी बनने की आवश्यकता स्पष्ट ज्ञात होती है:—

पठेत् समस्तान् किल कालिदास कृतप्रबन्धानितिहासदर्शी ।

कामाधिवास प्रथमोद्गमस्य रक्षत्पुरस्तार्किकगन्धमुग्रम् ॥

संस्कृत भाषा में ऐतिहासिक काव्यों की विद्यमानता सिद्ध कर रही है कि प्राचीन आर्यावर्त में इतिहास पर कई पुस्तक लिखे गए थे, यदि नहीं लिखे गए थे तो कवि कालिदास ने रघुवंश लिखने के लिये ऐतिहासिक सामग्री कहाँ से एकत्रित की थी ? और पुराणों में जो वंशावलि यां दी हुई हैं उनका ज्ञान पुराण के कर्त्ताओं को कहाँ से हुआ ? कई काव्यों के पढ़ने से बोध होता है कि एक समय इस देश के विद्यालयों में इतिहास भलीभांति पढ़ाया जाता था एवं इतिहास के अनेक ग्रन्थ उपस्थित थे । हर्षचरित के प्रमाण से हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब महाराज हर्ष का चित्त उदास हुआ करता था वह इतिहास सुना करते थे । कादम्बरी में लिखा है कि महाराज ने अपने पुत्र के लिये गुरुकुल खुलवाया और उस में भिन्न २ विद्याओं

विद्यमान रहती थीं । (रेकर्ड्स आफ़ वेसटर्नकट्रीज़, बुकसेकंड, लिटरेचर नामक पुस्तक पृष्ठ ७८ जो चीनी यात्री ह्यूनसैन के ६२९ ईसवी के लिखे चीनी ग्रन्थ का अंग्रेज़ी अनुबाद है, जो कि १८०६ ईसवी में छापा गया था) ।

के अध्यापकों के साथ साथ इतिहास का अध्यापक भी नियुक्त किया । यदि इतिहास थे ही नहीं तो अध्यापक राजकुमार को यह विद्या कैसे पढ़ाते थे ! रामायण और महाभारत दो महान् ऐतिहासिक काव्य इस समय उपस्थित हैं । यद्यपि उन में प्रशस्त श्लोक बहुत हैं तथापि उन के विषयों के ऐतिहासिक होने में कोई सन्देह नहीं । रामायण के एक अलङ्कार युक्त पुस्तक होने और महाभारत से पछे लिखे जाने के विषय में यूरोपीय ऐतिहासिकों ने जो नए २ और विचित्र विचार घड़े हैं उन का खण्डन हम रामायण तथा महाभारत के प्रकरणों में करेंगे । यदि प्राचीन आर्य्य इतिहास के लाभों को नहीं समझते थे तो वाल्मीकि और व्यास ने इतनी बड़ी २ पुस्तकों के लिखने का कष्ट क्यों उठाया ? यूनानी इतिहासवेत्ता मेगस्थनीज अपने भारत निवास का वृत्तान्त लिखते हुए, कहते हैं कि “ महाराज चन्द्रगुप्त के देश में भिन्न २ घटनाओं की वार्ता संग्रह करने के लिये कई राजपुरुष नियुक्त थे ” *निश्चय है कि इन्हीं घटनाओं के सार वृत्तान्त से इतिहास बनता होगा । इतिहास सङ्गठन के विषय में इस से भी दृढ़तर प्रमाण महाराज अशोक का छठा शिलालेख है जिस में अङ्कित है कि “जो कुछ घटना किसी नगर में हो उसे पत्रावेत्ता नामक राजपुरुष लेखबद्ध कर लेवे”

पूर्वोक्त प्रमाणों से यही परिणाम निकलता है कि प्राचीनार्य्य, ऐतिहासिक विज्ञान को जानते थे, उन्होंने इतिहास की कई पुस्तकें लिखीं जिन में से बहुतेरों का मुसलमानी राज्य के समय नाश हो गया, तथापि जो पुस्तकें बची हुई हैं वह प्राचीनार्य्यों के ऐतिहासिक विज्ञान प्रदर्शन में काम दे रही हैं और सिद्ध करती हैं कि आधुनिक विज्ञानविद् इतिहास लिखने में जिस शैली का अवलम्बन करते हैं वह विधि भी प्राचीनार्य्य ऐतिहासिकों को ज्ञात थी ।

* This institution of official reporters (Pativedakas) existed in the time of Chandragupta (Asoka, The rock inscriptions P. 121) Vincent A. Smith.

The sixth class consists of the overseers, to whom is assigned the duty of watching all that goes on, and making reports secretly to the king
The ablest and most trustworthy men are appointed to fill these offices. (Mc Rindle's Ancient India page 85)

॥ तृतीय परिच्छेद ॥

भारतवर्ष का इतिहास अब कैसे बन सकता है ॥

प्राचीन संस्कृत साहित्य का गूढ़ दृष्टि से अवलोकन—राज तरङ्गिणी, महाभारत, रामायण, ऐतिहासिक काव्यों और पुराणों का आन्दोलन—शिला लेखों पर विचार-पुराने खण्डहरों तथा सिक्कों की परीक्षा—विदेशी यात्रियों की पुस्तकों का पाठ—ईरान मिश्र, कालडिया, चीन, यूनानादि देशों के प्राचीन इतिहासों का अवलोकन ॥

एक समय था जब कि, विदेशों में, राजाओं का वृत्तान्त और उन का वंश वर्णन ही इतिहास समझा जाता था। उस समय का इतिहासवेत्ता इस देश के एक साधारण भाट से कुछ अधिक न था। क्योंकि जीते हुए राजाओं का वर्णन, उन के पुरुषाओं के नाम तथा उन के पुत्र पुत्रियों की संख्या तथा उन के जन्म मरणादि तिथियों को स्मरण रखना वा लिख लेना ही साधारण भाटों का काम था। फिरिश्ता भी इसी कोटि का ऐतिहासिक था। परन्तु यह ऐतिहासिक विचार दीर्घ कालतक स्थिर न रहा। प्राचीन ग्रन्थों की आलोचना तथा प्रजातन्त्र शासन प्रणाली ने उक्त विचार को पलटा दे दिया। आज कल वह पुरुष विज्ञ इतिहासवेत्ता समझा जाता है जो किसी जाति की सामाजिक, शारीरिक, मानसिक, आत्मिक राजनैतिक तथा आर्थिक अवस्थाओं का वर्णन करे और इन विषयों में उस जाति के मनुष्यों की उन्नति अथवा अवनति के कारणों का पता लगावे।

आर्यों की अब भी अनेक ऐसी पुस्तकें उपस्थित हैं जिन में उन के संस्कारों तथा आचार व्यवहार का वर्णन है, यदि पूर्ण परिश्रम किया जाय तो यह पता लगाना भी कठिन नहीं है कि किन २ समयों में आर्यजाति में किस प्रकार के आचार का प्रधानत्व था अर्थात् किन २ संस्कारों सुविचारों वा कुविचारों और सुरीतियों वा कुरीतियों का राज्य था। इन तमाम परिवर्तनों को यदि वैज्ञानिक कारण कार्य्य श्रृंखला में जोड़ा जाय तो इतिहास का जो अब एक नया लक्षण बतलाया जाता है (जो वास्तव में अति प्राचीन और यथार्थ लक्षण है) तदनुसार भारत का इतिहास सम्पादित हो सकता है। केवल इतनी त्रुटि होगी कि विशेष २ घटनाओं के अन्तर्गत्त का काल निर्णित न हो सकेगा। अब आवश्यकता यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों, श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों, उपनिषदों, व्याकरणों, काव्यों, उपाख्यानों, पुराणों,

तन्त्रों, तथा अनेक कथाओं की खानों के अन्दर जो इतिहास की सामग्री उपस्थित हैं उन्हें कठिन श्रम से खोद कर निकालें और स्वच्छ धातु को बालू और मट्टी से पृथक् कर पवित्र बनावें ।

काश्मीर के इतिहास राजतरङ्गिणी में अनेक घटनाओं का वर्णन तिथि सहित दिया हुआ है । इस इतिहास के अवलोकन से न केवल काश्मीर का ही इतिहास ज्ञात होगा प्रत्युत समीपवर्ती देशों का वृत्तान्त भी अवगत होगा । और क्योंकि काश्मीर अनेक बार भारत साम्राज्यान्तर्गत रह चुका है जिस से काश्मीर राज्य के लिये भी अनेक प्रकार की आज्ञाएं साम्राज्य के मध्यवर्ती शासनकारी मण्डल से प्रचरित हुई होंगी अतएव उक्त पुस्तक के अवलोकन से उक्त समय के साम्राज्य के शासनकारी नियमों का भी कुछ पता लग सकता है ।

रामायण में केवल खुवंश और अयोध्या प्रदेश का ही इतिहास वर्णित नहीं है प्रत्युत दक्षिणदेशस्थ वानर जाति, सिंहलद्वीपवासी आदि के भी सामाजिक, मानसिक और साधारण अवस्थाओं का एक सत्य चित्र खींचा हुआ है ।

महाभारत में भारत के अतिरिक्त, बिलोचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तानादि अनेक देशों का भी वर्णन है ।

उक्त पुस्तकों की सहायता से पुराणों की वंशावलियों की जांच की जाय तो विशेष समयों का शृङ्खला रूप इतिहास भी बन सकता है ।

महाराज अशोक तथा अन्यान्य नृपतियों ने जो शिला लेख खुदवाए थे वह भी बड़े काम के हैं । इन शिला लेखों को मिस्टर फ्लैट ने एकत्रित कर पुस्तकाकार रूपवा दिया है और उन के अर्थों को भी प्रकाशित कर दिया है ।

प्राचीन नगरों के जो खण्डरात इस समय पाए जाते हैं उन का निरक्षण करने से भी विशेष ऐतिहासिक कालों के लोगों की सभ्यता का बड़ा ज्ञान प्राप्त हो सकता है । देहली में इन्द्रप्रस्थ दुर्ग की ड्योढ़ी की छत के पत्थर देख कर महाभारत के समय के लोगों की शिल्प क्रिया पर आश्चर्य होता है । अभी बंगाल के जिल बर्दवान के ग्राम सीताहट्टी में पृथिवी खोदते समय एक राजभवन के चिन्ह मिले हैं । इस राजभवन पर जड़ा हुआ १३ सेर सुवर्ण का एक पत्र मिला है जिस पर कई पंक्तियां खुदी हुई हैं । इन से पता लगता है कि इस राजभवन के निर्माता राजा नल थे, इत्यादि ।

बहुत से पुराने सिक्के भी आज कल मिलते हैं । उन के अवलोकन से राजाओं के कालनिर्णय में बहुत सहायता मिलसक्ती है ।

समय २ पर यूनान चीनादि देशों के जो विदेशी यात्री भारत में आए उन्होंने यहां भ्रमण कर यहां का वृत्तान्त लिखा इन वृत्तान्तों से न केवल हमें उस समय का इतिहास ही ज्ञात होता है प्रत्युत उक्त वृत्तान्त आयों को उन अनुचित आक्षेपों से भी बचाते हैं जो मुसल्मान ऐतिहासिकों ने साम्प्रदायिक पक्षपात के वशीभूत हो उन पर किये हैं । यदि इस समय केवल मुसल्मान ऐतिहासिकों के ही लेख होते तो अनेक इतिहासवेत्ता मुसल्मानों के लेखों पर ही विश्वास कर लेते परन्तु अब उक्त निष्पक्ष विदेशियों की सम्मति उपस्थित होने से इतिहास का एक निष्पक्ष विद्यार्थी सम्मतियों का सम्मेलन कर के सत्य और असत्य की परीक्षा कर सकता है । इन यात्रियों में से कातिपय का अति संक्षिप्त वृत्तान्त निम्नलिखित है :—

मेगस्थनीज़—यह महाशय सैलूकस निकैटोर की ओर से राजप्रतिनिधि बन कर महाराज चन्द्रगुप्त के दरबार में आया था । यह जितने वर्षों तक यहां रहा भारत की रीति नीति को सूक्ष्म दृष्टि से देखता और लेखबद्ध करता रहा । परन्तु शोक कि भारत के विषय में जो पुस्तक उसने लिखी वह पूर्णतः नहीं मिलती । उस पुस्तक के प्रमाणों को अन्यान्य यूनानी ऐतिहासिकों ने अपने २ ग्रन्थों में जो उद्धृत किये हैं वही भाग अब मिलते हैं । इन सब भागों को एकत्रित कर महाराज विक्रमादित्य के सम्वत् १८९३ में मह शय शेन बैक ने “मेगस्थनीज़ इंडिया ” के नाम से पुस्तकाकार छपवा दिया था । और सम्वत् १९३४ में उक्त भागों का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में महाशय मैकेंडल ने “एंशंट इंडिया, ऐजडिस्क्राइब्ड् बाइ मेगस्थनीज़ ऐंड ऐरियन ” नाम से छपवाया था । मेगस्थनीज़ महाराज विक्रमादित्य से २०६ वर्ष पूर्व भारत में आया था इसके लेखों से भारतवर्ष की उस समय की मानसिक, सामाजिक, राजनैतिक और आत्मिक अवस्थाओं का परिज्ञान होता है ।

फैहाइन—यह चीनी यात्री सम्वत् ४५७ विक्रमीय में तीर्थ यात्रा के लिये भारत में आया था । उस ने उद्यायन (काबुल) स्वात, गान्धार, तक्षशिला, पिशावर, मथुरा, कोशल, विशाली, लङ्कादि अनेक प्रदेशों तथा नगरों को देखा था । बौद्ध सम्प्रदाय और उन के साधुओं तथा नेताओं के विषय में यह यात्री विशेष लिखता है अतएव इस की बातें उक्त विषय में हमारे लिये बहुमूल्य हैं ।

ह्यूनमैन—यह भी एक चीनी यात्री था । सम्बन् ७८६ विक्रमीय में यह भारत में आया था इस ने प्रायः संपूर्ण भारत में भ्रमण किया और यहां के भूगोल इतिहास और धर्म के विषय में एक पुस्तक लिखा जिस का नाम “ट्यागसांपूकी” है । इस पुस्तक का अनुवाद लण्डन युनिवर्सिटी कालेज के चीनी भाषा के प्राफेसर बील्ड साहब ने अंग्रेजी भाषा में कर दिया है जिस के अवलोकन से प्रायः सम्पूर्ण भारत का उस समय का वृत्तान्त ज्ञात होता है ।

अलब्रूनी या अब्दुरेहम—इस का जन्म मध्य एशिया के खीवा नगर में सम्बन् १०२० में हुआ था यह भारतवर्ष में कई वर्षों तक ब्रमता रहा । इस ने महमूद गज़नवी के आक्रमण तथा उस समय की भारतीय सभ्यता के विषय में एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है जिस के प्रत्येक पृष्ठ से सापेक्ष निष्पक्षता टकनी और उस समय की सामाजिक तथा विद्या सम्बन्धी दशाओं का पता लगता है । इस का अनुवाद भी डाक्टर एडवर्ड सेन्ना ने प्रकाशित कर दिया है ।

बर्निस्पर—यह फ्रांसीसी यात्री सम्बन् १६८२ विक्रमीय में उत्पन्न हुआ था, मिश्र और पेंसिल्वेनिया देशों में भ्रमण कर औरंगजेब के राज्य समय भारत में आया था । बारहवर्ष तक यह औरंगजेब का डाक्टर (चिकित्सक) बना रहा और उस समय के भारत तथा मुगलराज्य के विषय में एक पुस्तक लिखना रहा इस ने अपना सम्पूर्ण यात्रा का वृत्तान्त जो लिखा है उस से अन्यान्य अनेक विषयों के ज्ञानातिरिक्त, मुगलराज्य का संक्षिप्त वृत्तान्त, तथा औरंगजेब के समय का विस्तृत वृत्तान्त ज्ञात होता है ।

टैवर्नियर—यह फ्रांसीसी यात्री सम्बन् १६६२ में फ्रांस देश की राजधानी पेरिस में पैदा हुआ था । इस का पिता भूगोल विद्या का बड़ा प्रेमी था और प्रायः अपन छोटे भाई तथा अन्यान्य पुरुषों के साथ भूगोल सम्बन्धी वार्ताएं किया करता था । इस संस्कार ने टैवर्नियर पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह १६ वर्ष की अवस्था से ही विदेश यात्रा करने लगा । फ्रांस के आस पास के देशों की यात्रा कर तथा रूस और फारस में भ्रमण कर सम्बन् १६९८ में वह भारत में आया जिस समय कि बादशाह शाहजहां दिल्ली के राज सिंहासन पर विराजमान था इस यात्रा में उस ने आगरा, बुरहानपुर, सूरत, गोवां, गोलकुण्डा तथा ढाकादि भारत के नगरों को देखा और प्रायः दो वर्ष भ्रमण कर फारस होता हुआ पेरिस को लौट गया । सम्बन्

१७०२ में वह पुनः भारत के सुरत नगर में पहुंचा और दौलताबाद, नान्दर होता हुआ गोलकुण्डा पहुंचा । इस समय गोलकुण्ड के अतिरिक्त रावल कुण्डा तथा साउ-मेलपुर की खानों से भी हीरे निकलते थे जिन स्थानों को उस ने अवलोकन किया इस वार प्रायः एक वर्ष तक भारत में रः कर टैवर्नियर फ़ारस को चला गया । वहां से सम्बत् १७०५ में वह पुनः भारत को लौटा और भारत के पश्चिमीय सीमा में कुछ काल भ्रमण कर यवद्वीप का गया और वहां से फिर अपने जन्म स्थान को लौट गया । पुनः अनेक देशों की यात्रा करता हुआ फ़ारम के बन्दर अब्बास में वह सम्बत् १७०८ में पहुंचा और वहां गोलकुण्डा के भारतीय जहाज़ पर सवार होकर भारत के लिये रवाना हुआ, मुसलीपट्टम में उतर कर और वहां से मद्रास गोलकुण्डा सुरत, अहमदाबाद, औरंगाबाद में घूम कर प्रायः सम्बत् १७१० में भारत से फ़ारस होता हुआ अपनी जन्म भूमि को लौट गया । सम्बत् १७१६ में वह पुनः भारत में आया जब कि औरंगजेब दिल्ली में राज्य कर रहा था । शाइस्ताख़ां से इस यात्रा में उस की विशेष मैत्री हो गई और गोलकुण्ड की हीरे की खानों को उस ने भली भांति देखा इस वार प्रायः एक वर्ष में ही वह भारत से लौट गया । सम्बत् १७२२ में वह पुनः मूरत पहुंचा और यहां से बुरहानपुर, सीरॉज और ग्वालियर होता हुआ औरंगजेब की सेवा में आगरा पहुंचा औरंगजेब के हाथ इस ने अनेक बहुमूल्य रत्न (जवाहरात) बचे और बादशाह के अनेक रत्नों के साथ प्रसिद्ध हीरा काहनूर को भी अवलोकन किया । बर्नियर नामक प्रसिद्ध फ़ारसीसी डाक्टर भी उसे यहीं मिला और उस के साथ आगरा से बंगाल की ओर रवाना हुआ । मार्ग में इलाहाबाद, बनारस, पटना, राजमहलादि नगरों को देखता हुआ ढाका पहुंचा जहां अपने पुराने मित्र शाइस्ताख़ां के हाथ अनेक रत्न बचे । कासिम बाज़ार होता हुआ वह पटने वापिस आया जहां सूर्य ग्रहण की घटना को उस ने अवलोकन किया । इस यात्रा में उस ठीक २ ज्ञात हो गया कियेरोपीय लोग किस किस प्रकार भारत में अपनी २ ज्येष्ठता संस्थापन के लिये उचित और अनुचित उपायों को अवलम्बन कर रहे हैं । सम्बत् १७२४ में वह भारत से फ़ारस देश होता हुआ अपनी जन्म भूमि को लौट गया । इस प्रकार प्रायः ४० वर्षों तक यह यात्री विदेशों में घूमता रहा । और विविध प्रकार के रत्नों के वाणिज्य से लक्षों रुपये एकत्रित कर अपने जीवन के शेष भाग को शान्ति सहित व्यतीत करने की इच्छा से फ़्रांस देश में ठहर गया । प्रायः इक्कीस वर्षों तक यह शान्ति सहित रह सका और

इसी समय में उस ने अपनी कुल यात्रा के वृत्तान्तों को फ़रांसीसी भाषा में प्रकाशित किया । सम्वत् १७४६ में जब कि यह वृद्ध हो गया था इसे पुनः पूर्वीय देशों की ओर खाना होना पड़ा परन्तु जब कि वह रूस की राजधानी मास्को तक ही पहुँचा था उस का थका हुआ आत्मा शरीर पञ्जर को परित्याग परलोक को पयान कर गया । टैर्नियर के भारत भ्रमण का वृत्तान्त “ वी, बाल ” साहब ने अंग्रेज़ी भाषा में छपाया है जिस के अवलोकन करने से भारतीय इतिहास की तत्कालीन अनेक बातें ज्ञात होती हैं ।

इब्न बतूता—इस का जन्म अफ़्रीका के तंजीरप्रदेश में सम्वत् १३६१ में हुआ था । यह मूर जाति का मुसलमान था । अफ़्रीका के उत्तरीय भागों, पालिस्टाइन, फ़ारसादि देशों में घूमता हुआ सम्वत् १३९० में यह भारत में आया जिस समय दिल्ली में मुहम्मद तुग़लक राज करता था । मुहम्मद तुग़लक ने इसे दिल्ली का काज़ी बनाया जिस पद पर यह आठ वर्ष तक काम करता रहा, अन्त में बादशाह की आज्ञा से यह सम्राट् चीन के दरबार को खाना हुआ खम्भात की खाड़ी से नौका पर सवार हो इसे चीन जाना था । अतएव यह दिल्ली से खम्भात की ओर चला इस मार्ग का वृत्तान्त इस ने विस्तारपूर्वक लिखा है, खम्भात से नौका पर कलकट आया यहां से चीनी नौका पर सवार होने ही को था कि इतने में उसे ज्ञात हुआ कि वह सब नौकाएँ जिन पर चीन सम्राट् के लिये मुहम्मद तुग़लक के भेजे हुए उपहार लदे हुए थे डूब गए । इस कुसमाचार को इस ने दिल्ली पहुँचाना उचित न समझा और दक्षिण भारत के अनेक स्थानों, मालद्वीप तथा लंका में घूम कर बङ्गाल में पहुँचा वहां से सुमात्राद्वीप और वहां से चीन को गया । चीन से लौटते हुए सुमात्रा, मालाबार, ओमन, फ़ारसादी में घूमता हुआ पुनः अपनी जन्मभूमि तंजीर प्रदेश के फ़ैज़नगर में आगया । यहां से पुनः चल कर स्पेन और अफ़्रीका में घूमता रहा जब कि इस के सुल्तान ने इसे अपनी राजधानी में बुलवाया और अपने मन्त्री इब्न जुज़ाई के द्वारा इस की यात्रा का पूर्ण वृत्तान्त लिखवा लिया । सम्वत् १४३४ में यह यात्री मरा । उक्त यात्रा वृत्तान्त का अनुवाद फ़रांसीसी भाषा में हो गया है । इस में भारत का जो वृत्तान्त है उस से उस समय की भारतीय दशाओं का पता लगता है ।

इन के अतिरिक्त भारतवर्ष के इतिहास निर्माण में अन्यान्य देशों के प्राचीन इतिहासों से भी सहायता मिल सकती है । मिश्र, ईरान, बेबिलोनिया, कैल्डिया, रोमा, यूनान

और चीन के लोग प्राचीन समय में भी भारत के साथ व्यापार करते थे अतएव सम्भव है कि उक्त देशों के प्राचीन इतिहासों में भी भारत का कुछ वर्णन हो । उक्त इतिहासों की खोज भी हो रही है और आशा है कि यह अन्वेषण भारतीय इतिहास पर भी प्रकाश डालेगा । इस पुस्तक में हम कहीं २ इन देशों के इतिहासों का भी प्रमाण देंगे

(१) परिशिष्ट

भारत का प्राचीन इतिहास बन सकता है या नहीं इस विषय पर योरोपीय ऐतिहासिकों के मत भिन्न २ हैं । जब सरविलियमजॉन्स संस्कृत साहित्य की खानों को खोदने लगे तब लोंग बड़ी २ आशाएं बांधने और अनुमान करने लगे कि अब आर्यावर्त के प्राचीन इतिहास का पता लग जायगा जिस से संसार को बड़ा लाभ पहुंचेगा परन्तु सरविलियमजॉन्स के अग्रे अन्वेषण का परिणाम यह हुआ कि उस समय भारत का प्राचीन इतिहास बन न सका इस कारण चारों ओर निराशा छा गई और लोग समझने लगे कि भारत का कोई इतिहास ही विद्यमान नहीं है । परन्तु फ्रांस देश के पूर्वीय भाषाओं के ज्ञाता एम, अबेल, रेमुसेट (M. Abel Remusat) ने फिर भी कुछ आशा बँधाई । वह लिखता है “यदि भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री प्रस्तुत न थी तो अब्बुलफ़ज़ल ने हिन्दुओं का इतिहास कैसे लिखा” पुनः मिस्टर विल्सन ने काश्मीर के इतिहास राजतरङ्गिणी का अनुवाद जब अंग्रेजी में प्रकाशित कर दिया तो योगेपीय ऐतिहासिक चकित हो गये क्योंकि राजतरङ्गिणी विस्पष्ट सिद्ध कर रही है कि नियमबद्ध ऐतिहासिक लेख प्रणाली एक ऐसी विद्या नहीं है जो भारतवासियों को ज्ञात न थी । राजतरङ्गिणी यह भी दर्शाती है कि कल्हन के समय तक ऐतिहासिक सामग्री का भारत में एकत्रित होना ऐसा कठिन न था जैसा कठिन कि अब हो रहा है । इस कठिनाई के विषय में प्रसिद्ध ऐतिहासिक कर्नलटाड अपने इतिहास “राजस्थान” की भूमिका पृष्ठ ८—९ में लिखते हैं:—

* “ यदि हम लोग उन राजनैतिक परिवर्तनों तथा विक्षोभों की ओर दृष्टिपात करें जो कि हिन्दुस्थान में महमूद गज़नवी के आक्रमण काल से संघटित

*“If you consider the political changes and convulsions which have happened in Hindustan.....was that a time to think of historical records?” Introduction to Rajasthan. P. 8-9.

होते रहे हैं तथा उन सब असह्य दुराग्रहों एवं पक्षपातों पर ध्यान दें जिन्हें कि महमूद के अनेक उत्तराधिकारियों ने दिखलाया तो पता लगेगा कि हिन्दुओं का जातीय इतिहास इतना कम क्यों मिलता है और इस दुर्घट परिणाम पर भी पहुंचना नहीं पड़ेगा कि हिन्दू उस (ऐतिहासिक) कला से अनभिज्ञ (नावाक़िफ़) थे जिस का अतुशीलन अन्यान्य देशों में अति प्राचीन काल से हो रहा है । क्या यह सम्भव है कि हिन्दुओं जैसी उच्च सभ्यता को प्राप्त जाति जिन में विविध यथार्थ विज्ञान पूर्णान्त और सुप्रचारित हो चुके हों, जिन्होंने भवन निर्माण, शिल्प कविता, संगीतादि सुन्दर कलाओं का अतुशीलन एवं उन के सूक्ष्म लक्ष्यों को निश्चित कर उन की शिक्षा सुन्दरतम विस्तृत नियमों के साथ अन्यों को दी है, वह ऐतिहासिक घटनाओं, अपने राजाओं के चरित्रों, और उन के राज्य शासन सम्बन्धी कार्यों को अङ्कित करने जैसी साधारण कला से सर्वथा अनभिज्ञ (नावाक़िफ़) हों ? यह विश्वसनीय नहीं कि जहां ऐसी मानविक शक्तियां वर्तमान थीं वहां उन विविध घटनाओं के सुलभक न थे जो उस समय के माननीय विदेशीय ऐतिहासिकों के मतानुसार अङ्कित और प्रसिद्ध करने योग्य थीं । हस्तिनापुर 'इन्द्रप्रस्थ, अनहलवारा और सोमनाथ नगर दिल्ली और चित्तौर के जय-स्तम्भ, आबू और गिरनार के मन्दिर, तथा एल्लिफ़ेंटा और इल्लारा की गुफ़ाएं इस विषय की साक्षियां हैं । भला यह कौन मान सकता है कि उस समय जब कि उक्त महान् निर्माण निर्मित हुए एक भी भारतीय ऐतिहासिक वर्तमान न था ? तथापि महाभारत के समय से अलेकजंडर (सिकन्दर) की चढ़ाई समय तक का तथा इस महती घटना से महमूद गुज़नी के समय तक का शुद्ध स्वदेशीय इतिहास का एक अत्यल्प भाग विच्छेद (पैराग्राफ़) भी सिवाय उसके (जिस का वर्णन हम ऊपर कर आए हैं) पाश्चात्य विद्वानों की जिज्ञासा के सन्मुख प्रकट नहीं किया गया । कविचन्द निर्मित वीरभाव-पूरित दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथिवीराज विषयक इतिहास में अनेक ऐसी सूचनाएं आती हैं जिन से अनुमान होता है कि चन्द कवि के इतिहास की तरह अन्य कई पुरुषों के बनाए इतिहास भी विद्यमान थे जिन में महमूद और शहाबुद्दीन के बीच के समय १००० एक सहस्र से ११९३ ईसवी तक का इतिहास प्रस्तुत था । परन्तु अब ये इतिहास कहीं भी नहीं मिलते । जब कि आठ शताब्दियों तक हिन्दू लोग ऐसे विजेताओं के आधीन रहे जो उन की प्राचीन भाषा (संस्कृत) से सर्वथा अनभिज्ञ थे, जब कि प्रायः प्रत्येक हिन्दू राजधानी पर बारम्बार

चढ़ाई कर असम्य, दुराग्रही, विद्वेषी तथा क्रुद्ध शत्रुओं ने उन्हें बारम्बार लूटा, तदनन्तर यह आशा करनी कि भारतीय साहित्य को वह अपोर्ण्य हानि नहीं पहुंचनी चाहिये थी जो उस के अन्यान्य उपयोगी स्वयं को पहुंचा, सर्वथा व्यर्थ है । मैं स्वयम् जब कभी राजवाड़ा के इतिहास पर विवेचन करता हुआ उसे त्रुटिगुक्त वाचन का चेष्टा करता था तो मुझे उस चेष्टा में कई बार इस न्याययुक्त कथन द्वारा रोक दिया जाता था कि हमारे नृसतिगण जब कि व्रतना-वस्था को प्राप्त थे अर्थात् जब कि उन्हें एक दुर्ग से दूसरे दुर्ग में भ्रमण पड़ता था, जब कि उन्हें पर्वतों की कन्दराओं में गुप्तरात्रि से रहना पड़ता था जब कि यह भी ठिकाना नहीं था कि जो भोजन उन के लिये तय्यार हो रहा है उभ वह खा सकेंगे या नहीं, ऐसे समय में क्या कोई ऐतिहासिक घटनाओं का आङ्कन करने की ओर ध्यान लगा सकता था ? ”

भारतीय ऐतिहासिक परिज्ञान वृद्धि के विषय में प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाशय विंसेट, ए, स्मिथ अपने इतिहास “अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया” के पृष्ठ ८, ९ तथा १० में लिखते हैं:—

* “संस्कृत के विशेष विद्वानों ने वैयाकरणों और दूसरे ग्रन्थकर्त्ताओं की पुस्तकों से प्राचीन लोक-कथा के विषय में नैमित्तिक निर्देश निकाले हैं जाकि मिल-

* Sanskrit specialists have extracted from the works of grammarians and other authors many incidental references to ancient traditions, which collectively amount to a considerable addition to historical knowledge.....
.....The most systematic record of Indian historical tradition is that preserved in the dynastic lists of the Puranas. Five out of the eighteen works of this class, namely the Vayu, Matsya, Vishnu, Brahmanda and Bhagwat contain such lists. The Brahmanda and Bhagwat Puranas being comparatively late works, the lists in them are corrupt, imperfect, and of slight value. But those in the oldest documents the Vayu, Matsya and Vishnu, are full, and evidently based upon good authorities... ..Modern European writers have been inclined to disparage unduly the authority of the Puranic lists but closer study finds in them much genuine and valuable historical tradition. For instance, the Vishnu Purana gives the outline of the history of the Maurya dynasty with a near approach to accuracy, and the Radehffe manuscript of the Matsya is equally trustworthy for Andhra History. Proof of the surprising extent to which coins and inscriptions confirm the Matsya list of the Andhra kings has recently been published (Early History of India by V. A. Smith P. 8, 9 and 10.)

कर हमारे ऐतिहासिक परिज्ञान को बहुत बढ़ाते हैं.....
 भारतीय ऐतिहासिक लोक-कथा का क्रमानुगत लेख पुराणों की वंशावलियों में सुरक्षित है अठारह पुराणों में से पांच अर्थात् वायु, मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड और भागवत में ऐसी वंशावलियां हैं। ब्रह्माण्ड तथा भागवत पुराण क्योंकि अन्यों की अपेक्षा पीछे बने हैं अतः इन में जो वंशावलियां दी हुई हैं वे भ्रष्ट, अपूर्ण और अत्यल्प मूल्य की हैं परन्तु जा वंशावलियां सब से पुराने पुराणों में अर्थात् वायु, मत्स्य और विष्णु में हैं वे पूर्ण और साधारणतः अच्छे प्रमाणों पर आरोपित हैं ।
 नवीन योरोपीय इतिहास वेत्ता पौराणिक वंशावलियों के प्रमाणों को अनुचित रीति से तिरस्कृत करना चाहते हैं । परन्तु विशेषावलोकन से पता लगता है कि उनमें बहुत सी सच्ची और बहुमूल्य लोक कथाएं हैं । एक दृष्टान्त लीजिये । विष्णुपुराण में मौर वंश के इतिहास का स्थूल वर्णन है जोकि प्रायः यथावृत्त है । मत्स्य पुराण का हस्त-लेख जो “रंडक्लिफ़” ने प्राप्त किया है उसी प्रकार से अन्धरा वंश के इतिहास के लिये विश्वासपात्र है । अन्धरा राजाओं की जो वंशावलि मत्स्यपुराण में दी हुई है, सिक्क और शिला लेख जिस आश्चर्यजनक प्रकार से उस का अनुमोदन करते हैं उस का प्रमाण थोड़ी देर हुई प्रकाशित किया जा चुका है । ”

प्रसिद्ध भारतीय ऐतिहासिक कलहन की राज तरङ्गिणी का जो अनुवाद “डाक्टर स्टाइन” ने किया है उसकी विस्तृत समालोचना करते हुए “ महाशय, एच, ब्रूस ” ईस्ट एंड वेस्ट नामक मासिक पत्र के नवम्बर १९०६ ई० के अङ्क में एक स्थान पर ऐसा लिखते हैं:—

* “जैसा कि डाक्टर स्टाइन कहते हैं एक मात्र प्रचरित इतिहास जो इस समय मिलता है, जिसे संस्कृत साहित्य ने उत्पन्न किया है और जिसमें एक सच्चे इतिहास

* Kalhana's work is, as Dr. Stein says “practically the sole extant product of Sanskrit literature possessing the character of a true Chronicle.” This has always, or at least since Europe discovered Indian literature, given to it a peculiar interest and importance. Kalhan by a *tour de force* or by what must be called a miracle of genius managed to attain to a real historic sense. He writes at the beginning: “That noble minded poet is alone worthy of praise whose word, like that of a Judge, keeps free from love or hatred in relating the facts of the past.” This too, was in the twelfth century, when such a sense of accuracy had entirely disappeared in Europe. (East and West, Vol. V. No. 61, November 1906 P. 1090—91.)

के गुण विद्यमान हैं, कल्हन का ग्रन्थ है । इस ऐतिहासिक गुण ने बराबर अथवा कम से कम उस समय से जब कि यूरोप ने भारतीय साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया, कल्हन के इतिहास को विशेष रुचिकर आलोचना तथा प्रसिद्धि का पात्र बना दिया है । कल्हन ने एक विचित्र शक्तिमत्ता से अथवा जिसे हमें बुद्धि का आश्चर्यमय कौशल कहना पड़ता है उसके द्वारा वास्तविक ऐतिहासिक ज्ञान का प्राप्त कर लिया था । कल्हन (अपने ग्रन्थ के) आरम्भ में ही लिखता है “केवल वही धर्मात्मा कवि प्रशंसा के योग्य है जिस का वचन एक न्यायाधीश की नाई भूत कालीन घटनाओं के वर्णन करने में राग द्वेष से पृथक् रहता है” और यह लेख बारहवीं शताब्दि का जब कि ऐसे याथातथ्य वर्णन की बुद्धि यूरोप से सर्वथा विलुप्त हो गई थी । ”

चाहे महाशय एच ब्रूस कल्हन की बुद्धि को विचित्र अथवा आश्चर्यमय बतलावें परन्तु हम तो यही कहेंगे कि कल्हन के पूर्व अनेक ऐतिहासिक भारत में हो चुके थे जिनके ग्रन्थों के अवलोकन से कल्हन ने वास्तविक ऐतिहासिक बुद्धि प्राप्त की थी । यह कभी माना ही नहीं जा सकता कि राजतरङ्गिणी में सम्पूर्ण वह गुण हों जो डाक्टर स्टाइन बतलाते हैं यदि साथ ही यह भी न माना जाय कि उस से पूर्व अनेक ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी गई थीं । पश्चिमी लेखकों ने अपने मन में यह विचार स्थिर कर रक्खा है कि प्राचीन आर्य्य असभ्य थे जब कभी उन के इस प्रिय विचार के विरुद्ध कोई प्रमाण संस्कृत ग्रन्थों से मिलता है तो वे चकित हो जाते हैं और कल्हन न जो शिक्षा इतिहासवेत्ताओं को प्रदान की है तदनुकूल आचरण न करत हुए राग द्वेष और पक्षपात में फँसकर आग्रह किये जाते हैं और ऐसे प्रमाणों को या तो टालना चाहते हैं अथवा उनके वास्तविक अर्थों को पलटने का यत्न कर उस की महानता को तिरस्कृत कर देते हैं । यह एक विचित्र दुर्भाग्य है कि ऐसे देश का भूत काल इतिहास शून्य समझा जाता है जहां वेदों अनेक प्राचीन आष ग्रन्थों तथा लोक कथाओं को सहस्रों वर्षों से गुरु से शिष्य प्राप्त करत आते हैं । और जहां क्रमशः एक प्रभुति के पश्चात् दूसरी प्रभुति अपनी स्मर्ण शक्ति क बल से सैकड़ों ग्रन्थों को कण्ठस्थ रखती आती है और इस कण्ठस्थ रखने को धर्म समझती हुई उसे एक बहुमूल्य पैतृक धन समझ रही है । क्या इन ग्रन्थों से भारत के इतिहास का कुछ भी पता नहीं लगता ? अवश्य लगता है, और वह समय विशेष दूर नहीं है जब कि इन ग्रन्थों के अनुशीलन से भारत का एक सामान्य इतिहास अवश्य बन जायगा ।

चतुर्थ परिच्छेद

वेद

भारतवर्षीय इतिहास के सम्बन्ध में इम विषय का महत्व ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता—वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में युक्तियां—इस प्रश्न पर पाश्चिमी विद्वानों का सम्भ्रम ।

“वर्तमान सृष्ट्यारम्भ के पूर्व भी वेद विद्यमान था, क्योंकि यह सनातन ईश्वर का सनातन ज्ञान है अतः यह संसार मात्र के लिये है” ऋषिसन्तानों का ऐसा ही विश्वास है । आर्य लोग मानते हैं कि वेद को किसी मनुष्य वा मनुष्यों ने नहीं बनाया इसी कारण इस में किसी प्रकार का इतिहास नहीं है ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब ग्रन्थकर्ता का ऐसा विश्वास है तो फिर एक देश विशेष के इतिहास में वेद विषय पर लिखने की क्या आवश्यकता है । इस का उत्तर यह है कि योरोपियन इतिहासवेत्ता वेद को प्राचीन आर्यों का प्रारम्भिक इतिहास मानते और उस से ऐतिहासिक घटनायें निकालते हैं इस लिये आवश्यक है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक प्रश्नों को हल करते समय इन दोनों पक्षों पर भी विचार किया जावे । वास्तव में इन दोनों पक्षों में इतना विरोध है कि एक को स्वीकार करने वाले का प्राचीन आर्यवर्त के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि बिंदु दूसरे पक्ष के मानने वाले के दृष्टि बिंदु से सर्वथा विपरीत हुए बिना नहीं रह सकता आर्य जाति का विश्वास है कि वेद सम्पूर्ण मानसिक, अध्यात्मिक तथा प्राकृतिक विद्याओं का भण्डार है, प्राचीन साहित्य, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, विविध विज्ञान ये सब के सब वेद का ही आश्रय लेते हैं । इस के विपरीत यूरोपीय विद्वान वेद को “बच्चों की बलबलाहट” बलाते हैं और कहते हैं कि जिन ऋषियों ने इन्हें बनाया, वे असभ्य और सीधे थे, जब किसी नवीन दृश्य को देखते थे तो उन के हृदय आह्लाद और मन आश्चर्य से भर जाते थे और अपने इन मानसिक भावों का विकास वे ग्रामीण रस युक्त कविता में प्रकाशित करते थे । जिन कविताओं का नाम वेद है वे तत्त्वपूजा विषयक हैं । वैदिक समय के पश्चात् देश में क्रमशः सुशिक्षा और सभ्यता का प्रचार हुआ । वैदिक समय की शिक्षा ग्रामीण प्रकार की थी, मनु के समय वह सभ्यता संकुल हुई इत्यादि । इतिहास का विद्यार्थी जब वैदिक समय की सभ्यता का पता लगाने

लगता है तो उस के सन्मुख उक्त दो प्रकार की सम्मतियां उपस्थित होती हैं और वह सन्देह में पड़ जाता है कि इन दो परस्पर विरुद्ध सम्मतियों में से किस को उचित और किस को अउचित मानें । अतः आवश्यकता है कि हम उक्त दोनों प्रकार के विचारों की पूरी परीक्षा करें ।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के विषय में विचार नहीं हो सकता जब तक कि “ ईश्वरीय ज्ञान ” की आवश्यकता सिद्ध न की जाय । कई पुरुष भवन में पड़ कर ऐसा कहने लगते हैं कि मनुष्य बिना किसी उच्च शक्ति की सहायता के ही क्रमशः अपनी उन्नति कर लेता है और पूर्ण सम्यक् बन जाता है । इन का कथन कहां तक ठीक है इस का विवेचन भी साथ ही हो जाना चाहिये ।

संसार का अनुभव हमें बतलाता है कि बालक कभी उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसे कोई विद्वान् शिक्षा न दे । इस विषय पर मुगल बादशाह अकबर तथा असीरिया के महाराज असुर बाणीपाल (Asur Baniपाल) (जिस यूनानी सार्डिना पैलस कहते थे) ने विशेष प्रकार से विचार किया था महाराज असुरबाणीपाल ने एक बालक को मनुष्यों के प्रायः सब प्रकार के संस्कारों से बचाने के लिये एक जंगल में बारह वर्ष तक रक्खा था ताकि उसे मानुषी भाषा ज्ञान न हो उस बालक की सेवा के लिये भी गूंगी तथा बहरी स्त्रियां नियत की गई थीं । बारह वर्ष के पश्चात् जब वह बालक महाराज असुर बाणीपाल के द्वार में लाया गया तो वह मानुषी भाषा बोल न सकता था केवल बकरे की तरह में में करने लगा । अनुसन्धान करने पर जान हुआ कि यह बालक जंगल में जहां रहता था वहां एक बकरी बंधी रहती थी उसी से बालक ने में में करना सीख लिया । अकबर ने भी इसी प्रकार परीक्षा की थी और उस परीक्षा का परिणाम भी वही निकला था ।

कई वर्ष हुए कि आर्य्य अनाथालय बरली में एक बालक लाया गया था जो कच्चा मांस खाता था और भेड़िये की तरह चलता था । अनुसन्धान करने पर जान हुआ कि इस बालक को भेड़िया उठा ले गया था और उसी ने इसे पाला था यदि वह अनाथालय में न लाया जाता तो कुछ दिनों में वह भेड़िये के सब दुर्गुण सीख लेता और उस में मनुष्यता बिलकुल न आती ।

इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वयम् कभी उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसे कोई शिक्षक न मिले । बुद्धि अपने आप उन्नत नहीं होती । बुद्धि

का बहिरङ्ग ज्ञान के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसे कि दियासलाई का अग्नि के साथ । दियासलाई में जलने की शक्ति तो होती है परन्तु जब तक उस को अग्नि अथवा रगड़ के द्वारा उष्णता नहीं पहुंचाई जाती वह जल नहीं सकती । इसी प्रकार बुद्धि में ज्ञान धारण शक्ति तो है परन्तु जब तक उस का सम्बन्ध किसी ज्ञानी के साथ न हो बुद्धि में ज्ञान आ नहीं सकता । अब विचारना यह चाहिये कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भ में जब सब मनुष्य बुद्धि में बालक के समान थे और आज कल का तरह एक दूसरे को शिक्षा नहीं दे सकत थे तो ज्ञान का आरम्भ किस प्रकार हुआ । निश्चय है कि मनुष्यों की अपेक्षा किसी उच्च चैतन्य शक्ति ने उन्हें ज्ञान दिया होगा । परन्तु वह उच्च चैतन्य शक्ति परमात्मा के बिना कोई अन्य सिद्ध नहीं हो सकती अतः सिद्ध हुआ कि परमात्मा ने ही इस सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को ज्ञान दिया । यदि वह ज्ञान न देता तो मनुष्य भी पशुओं के समान ज्ञान हीन होते अथवा पशुओं की तरह इन में भी केवल नैसर्गिक सहज बुद्धि होती । आज कल कोई नहीं देखता कि बन्दर अपने आप किसी प्रकार की उन्नति करता ही नहीं ऐसा सुनने में आता है कि आज से ५०० पांचसौ वर्ष पूर्व बन्दरों की जो अवस्था थी उस में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ हो । बन्दरों की बात तो दूर रही आज कल भी ऐसी मनुष्य जातियां उपस्थित हैं जो पहल कभी सम्य थीं और फिर गिर गई क्योंकि अन्य सुशिक्षित जातियों में से इन में शिक्षकों का आना बन्द होगया ऐसी गिरा हुई जातियां जो शताब्दियों से दुरावस्था को प्राप्त हैं वह भी अभी तक स्वप्रयत्न से उच्चावस्था को प्राप्त नहीं हुई । एक पतित जाति अन्दामन द्वीप में निवास करती है जिस का नाम निगरेटा है । इन लोगों में कोई लिपि नहीं है । न ये कपड़े बुनना जानते और न सीना और न खेता ही कर सकते हैं । इन्हें लोहा, पीतलादि धातों का प्रयोग बिल्कुल नहीं आता । आग इन के यहां बराबर जलती रहती है । जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं जलती हुई आग अपने साथ ले जाते हैं । उन में ऐसा कदाचित् ही कोई मनुष्य होगा जो दश तक गिन सके । किसी प्रकार यदि कोई पांच तक भी गिन ले तो वह गणितज्ञ माना जाता है । वे कपड़े नहीं पहनते कभी २ पत्तों से शरीर ढक लेते हैं । वे न तो ईश्वर की प्रार्थना करते और न किसी प्रकार की पूजा परन्तु ऐसा विश्वास रखते हैं कि एक कोई परमात्मा है जो लोगों को दण्ड देने के लिये जल प्लावन भेजा करता है । उन का यह भी विश्वास है कि समुद्र और नदियों के भिन्न भिन्न देवता हैं परन्तु इन देवताओं

की आराधना का कष्ट वे कभी नहीं उठाते । इन के भीतर न कोई इतिहास है और न कोई लंबी चौड़ी लोक कथा, शनैः २ इस जाति का नाश हो रहा है ।

यदि स्वभावतः उत्तरोत्तरोन्नति का विचार ठीक है अर्थात् मनुष्य जाति स्वयम् बिना किसी अन्य महान् चेतन की सहायता के उन्नति कर सकती है तो क्या कारण कि उक्त निगरेटा जाति शताब्दियों से हीनावस्था में पड़ी रही और उस ने किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं की ।

अतः ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता सिद्ध हो गई । अब यह विवेचनीय है कि ईश्वरीय ज्ञान है कौन सा :

आर्यावर्त के प्राचीन ऋषि मुनि तथा वर्तमान समय के क्रोड़ों पौराणिक भी “वेद” को ईश्वरीय ज्ञान मानते आए और मानते हैं, पारसी, लोग “जिन्द अवस्था” को वेद मानते हैं, ईसाइयों का मत है कि बाइबिल ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक है, मुसलमानों का यह सिद्धान्त है कि कुरान ईश्वरीय ज्ञान है । यह सब कथन तो ठीक हो नहीं सकते अतः कुछ ऐसी परीक्षाएं नियत करनी चाहियें जिन से उक्त कथनों के सत्यासत्य का निर्णय हो सके ।

परीक्षाएं

(क) ईश्वरीय ज्ञान का पहला लक्षण यह है कि वह अपने आप को ईश्वरीय ज्ञान कहे अर्थात् उस के नाम से यह टपके कि वह ज्ञान है न कि पुस्तक । पुस्तक बनाने वाला मनुष्य हो सकता है न कि परमात्मा । परमात्मा साकार तो है ही नहीं कि वह बैठ कर पुस्तक लिखेगा, वह तो केवल हृदयों में ज्ञान का प्रकाश करता है ।

जिन्द अवस्था का अर्थ है “ पवित्र लेख की व्याख्या ” अतः इस शब्दार्थ से सिद्ध होता है कि किसी धर्मात्मा पुरुष ने इसे लिखा है ।

“बाइबल” शब्द यूनानी धातु “बिबालिया” से निकला है जिस का अर्थ बहुत सी पुस्तकें हैं । बाइबल के दो भागों के नाम ओल्डटेस्टामेण्ट और न्युटेस्टामेण्ट हैं जो छतिनी धातु “ टेस्टर ” से निकलता है जिस का अर्थ साक्षी होना है । अतः इन धात्वर्थों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि बहुत सी पुस्तकों को जमा करके बाइबल बनाई गई थी और उसमें जिन २ घटनाओं का वर्णन है उस के लिये

साक्षी भी एकत्रित की गई थी । अस्तु इस के नाम से तो यही सिद्ध होता है कि यह मनुष्यकी बनाई हुई है, ईश्वर की नहीं । ईश्वर निराकार सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है अतः ईश्वर के विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि उस ने बहुत सी पुस्तकें एकत्रित कीं अथवा साक्षी ढूंढने गया ।

अलकुरान एक संयुक्त शब्द है जो अर्बी के दो शब्दों से बना है, एक 'अल' दूसरा 'कुरान' । "कुरान" "कर-आ" धातु से निकला है जिस का अर्थ 'पढ़ना' है अतः अलकुरान का अर्थ हुआ वह लेख जा विशेष प्रकार से पढ़ा गया हो । इस से सिद्ध हुआ कि अलकुरान भी लिखी हुई पुस्तक का नाम है न कि ईश्वर के ज्ञानका ।

"ग्रन्थ साहब" का अर्थ तो स्पष्ट ही ग्रन्थ है अतः इस के विषय में विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं दीखती ।

"वेद" "विद्" ज्ञाने धातु से निकला है । वेद का अर्थ है "ज्ञान" । यह किसी लेख वा पुस्तक का नाम नहीं प्रत्युत उस ज्ञान का नाम है जो परमात्मा ने मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकाशित किया है यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र ८ में लिखा है:—

स पर्यगाच्छुक्रमक्रायमन्नमसनाविरथशुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी
परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतेऽथान् व्यदवाच्छाश्व तीभ्यः समाभ्यः ॥
यजुर्वेद अ० ४० मं० ८ ॥

वह परमात्मा सब में व्यापक शक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित और अच्छेद्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से मदा पवित्र, जो पाप युक्त पापकारी अथवा पाप में प्रीति करने वाला कर्मा नहीं होना, जो सर्वज्ञ, सब जीवों के मनो की वृत्तियों को जानने वाला, दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला, अनादि स्वरूप त्रिपकी संयोग से उत्पात्ति वियोग से विनाश नहीं होता, जो माता पिता गर्भवास जन्म वृद्धि मरण को प्राप्त नहीं होता वह परमात्मा, सनातन अनादि स्वरूप अपने २ स्वरूप से उत्पात्ति विनाश रहित जीव रूप प्रजाओं के लिये यथावत् अर्थों ज्ञानों का उपदेश (वेदद्वारा) करता है ।

(ख) यह आवश्यक है कि परमात्मा अपने ज्ञान का दान सृष्टि के आरम्भ में दे । क्योंकि मनुष्य का काम इस के बिना निकल ही नहीं सकता । दूसरी बात यह है कि परमात्मा दयालु और न्यायकारी है वह ऐसा नहीं कर सकत कि सृष्टि

के आरम्भ मे सहस्रों वर्षों तक शतों प्रभूतियों को अपने ज्ञान से वञ्चित रख पीछे से मनुष्यों को ज्ञान प्रदान करें । इस कसौटी पर भी यदि वेद, ज़िन्दावस्था, बाइबल कुरान और ग्रन्थसाहब जांचे जाय तो वेद ही ईश्वरीय ज्ञान ठहरता है क्योंकि कुरान बाइबल, ज़िन्दावस्था और ग्रन्थसाहब के विषयमें कोई भी ऐसा नहीं कहता कि ये सृष्टि की आदिमें हुए । कुरान को बने प्रायः १३०० वर्ष हुए, बाइबल के ईसा-मसीह की यह १९०८ वीं शताब्दी है । ईसाइयों के हज़रत आदम को भी उन के मतानुसार उत्पन्न हुए प्रायः ६००० छः सहस्र वर्षों से अधिक नहीं हुए । ज़िन्दा-अवस्था के विषय में युरोपीय विद्वानों की सम्मति है कि वह प्रायः ४००० चार सहस्र वर्षों का बना हुआ है सम्भव है कि यह अनुमान सर्वथा ठीक न हो परन्तु इस में सन्देह नहीं कि ज़िन्दा-अवस्था महर्षि व्यास के समय से पीछे का अर्थात् पांच सहस्र वर्षों से कम दिनों का है क्योंकि ज़िन्दा-अवस्था में महर्षि वेदव्यास का वर्णन आया है । उस में “शत्रो देवो रामेष्ट्य आयो भवन्तु पीतये शंयारभिचवन्तु नः” इस वेद मन्त्र का वर्णन आया है और यह भी लिखा है कि जिस समय ईरान में वेदों का प्रचार था उस समय वहां धर्म बहुत फैला हुआ था । अतः सिद्ध हुआ कि ज़िन्दा-अवस्था वेद से बहुत पीछे हुआ । वेद को भारत के सभी ऋषि महर्षि सदा स अनदि मानते आये हैं । वेद सम्बन्ध वा सृष्टि सम्बन्ध अब तक बराबर चला आता है । जहां २ भूगर्भ विद्या की उन्नति होती जाती है, त्यों २ संसार के विद्वान् सृष्टि सम्बन्ध की ओर आ रहे हैं । कहां तो युरोप में पहिले यह माना जाता था कि संसार को बने केवल छःसहस्र वर्ष व्यतीत हुए हैं और कहां अब वहां के विद्वानों का यह मन हो रहा है कि यह संसार कौड़ों वर्षों से चला आता है । क्या कोई आश्चर्य की बात होगी यदि उक्त विद्वान् कतिपय वर्षों में वेद में बल्लए हुए सृष्टि सम्बन्ध को ही ठीक मानने लगे और ऋषियों की भांति इन का विश्वास भी वेदों पर जम जाय !

कोई समय था जब कि युरोपीय विद्वान् यह कहा करते थे कि वेदों को बने प्रायः ३४०० चाँतीस सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए । परन्तु प्राचीन इतिहासों का जब अधिक अन्वेषण होने लगा तो पता लगा कि आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व इस देश का मिश्र के साथ बाणिज्य सम्बन्ध था और इसी प्रकार का सम्बन्ध प्रायः ९००० पांच सहस्र वर्ष पूर्व इस देश का बेबिलोनिया के साथ था * ! अतः

*In the ruins of Mugheir, ancient ur of the Chaldees, built of Urea or Ur-Bagash the first king of united Babylonia who ruled not less than

निश्चिन होता है कि पांच सहस्र वर्षों ५००० से भी शताब्दियों पूर्व वेद विद्यमान थे क्योंकि कोई भी मनुष्य जाति दूर देशों के साथ तब तक व्यापार नहीं कर सकती जब तक कि उस ने पोत (जहाज़) बनाना न सीख लिया हो तथा साथ ही साथ कई प्रकार की अन्यान्य उन्नतियां भी न कर लीं हों । भारत के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित बाल गङ्गाधर तिलक अपनी पुस्तक “आरियन” में ज्योतिष विद्या के प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि विशेष २ ब्राह्मण भागों के बने १२००० बारह सहस्र वर्षों से भी अधिक व्यतीत हो चुके हैं । इतिहास जिन ग्रन्थों को अति प्राचीन बालता है । उनमें से एकभी ऐसा नहीं जिन के निर्माण काल में वेद ईश्वरोक्त न माना जाता हो । वेदों में जो सृष्टि सम्बन्ध दिया है, वह नवीन वैज्ञानिक अन्वेषणों से ठीक सिद्ध हो रहा है । सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता हम प्रथम ही सिद्ध कर चुके हैं । और अभी सिद्ध किया है कि वेद से प्राचीन किसी अन्य उप-देश का पता नहीं चलता और यह भी बतलाया है कि वेदको बड़े बड़े प्रामाणिक ग्रन्थ तथा पुरुष ईश्वरोक्त कह चुके और कह रहे हैं अतः यदि यह सिद्ध होजाय कि ईश्वरीय ज्ञानमें जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है वह सभी वेदों में पाए जाते हैं पुनः ऐसा कौन विचारशील पुरुष होगा जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार न करे ?

(ग) परमात्मा के सब दान उन सब प्राणियों के लिये होते हैं जो उन से लाभ उठा सके । क्योंकि बुद्धि सब मनुष्यों में होती है इस लिये ईश्वरीय ज्ञान भी मनुष्यमात्र के लिये होना चाहिये । सब के लिये सामान्यतः लाभदायक होने के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी देश विशेष की भाषा में न हां ताकि उस के समझने में सब को समान परिश्रम करना पड़े ।

कुरान अरबी में है, बाइबल इब्रानी में, जिन्द अवस्था पहलवी में ग्रन्थसाहब पञ्जाबी में । इन सब भाषाओं को देश भाषा कह सकते हैं परन्तु वेद इन भाषाओं में

3000 years E.C, was found a piece of Indian teak (Vedic India, by Zenaide A Ragozin, 3rd edition. P. 305).

अर्थात् मुयेनगर के खरड्डरा में जिसे कैलडिंगा वासी “उर” नगर कहते थे और जिसे “ऊ ईया” वा “उर बगश” नाम पुह्य ने (जो संयुक्त बेबिलोनिया का प्रथम राजा था) निर्मित किया था और जो ईवा के जन्म से कम से कम ३००० तीन सहस्र वर्ष पूर्व राज्य करता था, भारतीय सायुधान लकड़ी का एक टुकड़ा मिला था (वैदिक इतिहास तृतीयवृत्ति पृष्ठ ३०५ महाशय कैनेद य, रागोजिन निर्मित)

से किसी में भी नहीं है । वह ईश्वरीयवाणी (वेद) यौगिक भाषा में है जो आदि सृष्टि में उत्पन्न हुवे मनुष्यमात्र की भाषा थी और जिस से अपभ्रंश हो कर आज इतनी भाषाएं जगत में फैल गई हैं ।

वेद की रचना अद्भुत है । इस में एक ऐतिहासिक प्रमाण भी है । धूर्तों ने भारतवर्ष के समग्र आर्ष साहित्य में अपने पाखण्ड मत को प्रामाणिक बनाने के लिये प्रक्षिप्त श्लोक, वाक्य जड़ दिये हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों से ले कर महाभारत तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जिस में बांसियों प्रक्षिप्त श्लोक न हों । महाभारत में ता असली श्लोकों की अपेक्षा कई गुण श्लोक प्रक्षिप्त हैं । परन्तु क्या कारण कि वेदों में एक अक्षर भी प्रक्षिप्त नहीं मिलता । वेदों के अक्षर और मात्राएं २०००० बांस सहस्र वर्ष पूर्व जितनी थीं उतनी ही अब हैं । यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वेदों में प्रक्षिप्त श्लोक मिलाने से धूर्तों की कोई स्वार्थ सिद्धि नहीं हो सकती थी क्योंकि यदि धूर्त लोग धोखेसे यह सिद्ध कर सकते कि श्रुति में भी उनके मत की पुष्टि होती है तो उन का पाखण्ड मत बहुत चलता और उन की घृणित रीतियों का बहुत प्रचार होता । हम इस से तो यही परिणाम निकालते हैं कि वेद मन्त्रों की रचना इस प्रकार की है कि मनुष्य उस का पूर्णतः अनुकरण कर ही नहीं सकता । धूर्तों ने ऋषियों की लेख प्रणाली का अनुकरण तो इस प्रकार कर लिया है कि ग्रन्थ की भाषा मात्र देख कर यह बतलाना कठिन है कि कौन से श्लोक इन में प्रक्षिप्त हैं । परन्तु वेद मन्त्र बनाने का उन को साहस ही नहीं हुआ क्योंकि वे जानते थे कि ऐसा करने से उन की पोल तत्काल खुल जायगी । इस विषय में एक लौकिक दृष्टान्त की ओर ध्यान दीजिए । जर्मनी देश में यदि कोई नए प्रकार का लैम्प बन ता इंग्लैंड के कारीगर वैसा ही लैम्प बना देते हैं, दोनों लैम्पों को देख कर कोई नहीं बचला सकता कि इन में असल कौनसी और नक़ल कौनसी है । परन्तु आज तक किसी न कृत्रिम सूर्य, चन्द्र, तारागण बनाने का यत्न नहीं किया क्योंकि ऐसा यत्न करना अपने पाखण्ड का परिचय देना है । यह बात भी विचारणीय है कि यदि उत्तरोत्तर उन्नति (ईवोल्यूशन थियोरी) का सिद्धान्त ठीक माना जाय तो वेद की भाषा साधारण और अशुद्धियों से भरपूर होनी चाहिये । परन्तु हम यह देखते हैं कि वेद की भाषा अति ललित और प्रभावशाली है और यदि संसार में कोई पूर्ण व्याकरण है तो वह वेद का व्याकरण है अतः इस परीक्षा के अनुसार भी केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान ठहरते हैं ।

(व) ईश्वर का ज्ञान सब मनुष्यों के लाभ के लिये हांता है । इस लिये उस

में किसी देश विशेष का इतिहास अथवा भूगोल नहीं हो सकता । बाइबल में यहूदियों का इतिहास अधिक है उस में पालिस्टाइन से सम्बन्ध रखने वाले बीसियों स्थानों का वर्णन है । ऐसी अवस्था में उस पुस्तक के विषय में यही कहा जा सकता है कि उस में एक जाति का इतिहास है और उस जाति के नेताओं ने अपने अनुयायियों के आत्मिक लाभ के लिये उसे लिखा है । इसी प्रकार कुरान अबस्थान के दृश्य वर्णन से भरपूर है, उस में मुहम्मद साहब के जीवन वृत्तान्त बहुत लिखे हैं, उन से जो भूलें हो गईं उन्हें अच्छी सिद्ध करने का यत्न किया गया है, उस में स्वर्ग के जो दृश्य खींचे गये हैं वह केवल ऐसे पुरुषों की बुद्धि को मोहित कर सकते हैं जो ऐसे स्थान में उत्पन्न हुए हों जहां जल का अभाव सा हो, भूमि उपज शून्य हो और जिस में वृक्ष और वनस्पति लेश मात्र न हों । उस में बहुत सी ऐतिहासिक भ्रम-मूलक असम्भव कथाएं आती हैं । ग्रन्थसाहब में भी कई असम्भव कथाएं हैं यथा “भगवत हंत मारच्या हरनाखस नरसिंहरूप होइ देह धरयो । नामा कहै भगति वश केशव अजहूं बलि कै द्वार खरो” * ज़िन्दावस्था के विषय में भी यही कहा जा सकता है । परन्तु वेदों में किसी पुरुष विशेष वा जाति विशेष का इतिहास नहीं है । उस में किसी पुरुष, जाति वा देश का नाम भी नहीं है ।

परन्तु योरोपीय विद्वानों ने भ्रम में पड़ कर और यह न जान कर कि वैदिक शब्दों के अर्थ केवल धातुज अर्थात् यौगिक होते हैं (नैगमरूढि भवं हि सुसाधु, नाम च धातुजमाह निरुक्तं व्याकरणे शकटस्य च तोक्म्) वैदिक मन्त्रों का अर्थ पौराणिक कथाओं के आधार पर किया है । उन लोगों ने यह समझ लिया है कि भारतवर्ष का इतिहास भी और देशों के इतिहास की नाई है । परन्तु वास्तव बात यह नहीं है भारतवर्ष का इतिहास उत्तरोत्तर अवनति का इतिहास है जिसे अनेक योरोपीय विद्वानों का भी कई वार मानना पड़ा है । पुराणों के आधार पर वेदों का अर्थ करना वैसा ही हास्य जनक है जैसा कि नवीन फ़ारसी का कोष लेकर पहलवी भाषा के किसी पुस्तक का अर्थ लगाने का यत्न करना अथवा जैसा कि आज कल के अंग्रेजी कोष तथा व्याकरणके सहारे “चौसर” की किताबों का अर्थ समझने का उद्योग करना । जब फ़ारसी और अंग्रेजी जैसी नवीन भाषाओं की यह दशा है कि पांच वा छैसो वर्ष अथवा एक वा दो सहस्र वर्षों के बीच उन के शब्दार्थों में आश्चर्य जनक परिवर्तन हो

* नवल विश्वेरे प्रेस लखनऊ का १ : ८३ का कथा हुआ श्री शुभग्रन्थ साहब पृष्ठ ८६३ ।

जाता है तो कैसे माना जाय कि सहस्रों वर्षों के व्यतीत हो जाने पर संस्कृत भाषा के शब्दार्थों में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ होगा ।

वेदों और वैदिक साहित्य के सत्यार्थ समझने के लिये अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु तथा निरुक्तादि के पढ़ने की आवश्यकता है । जिन मन्त्रों के अर्थों को न समझ कर इन विद्वानों ने वेद में से इतिहास निकालने का यत्न किया है उन में से दो चार को लेकर हम परिशिष्ट में बतलायेंगे कि अर्थ का अनर्थ किम प्रकार किया गया है । हम यह नहीं कह सकने कि योरोपीय विद्वानों ने दुष्ट भाव से वेदों के अर्थों का अनर्थ किया परन्तु यह अवश्य कहेंगे कि उन्हें वैदिक मन्त्रों का अर्थ करते हुए यह ध्यान अवश्य था कि इन वेद मन्त्रों का ऐसा अर्थ न निकले कि उन के मान वा प्रचार किये हुए सिद्धान्तों में किसी प्रकार का भेद पड़ जाय, जैसे कि "मोनियर विलियम्स" कहते हैं वेदों का यत्न था कि "वेद छः सहस्र वर्ष से पूर्व का सिद्ध न हो" क्योंकि ईसाई धर्म में लिखा है कि सृष्टि का वन प्रायः छ सहस्र वर्ष व्यतीत हुए, उन को भय था कि "यदि वेद दश वा बीस सहस्र वर्ष पूर्व का भां सिद्ध हो जायगा तो उन का बाइबल एक साधारण पुस्तक ठैर जायगा।" उक्त योरोपीय विद्वानों में से कतिपय उत्तरोत्तर उन्नति विचार (इवाल्यूशन थियोरी) के पोषक थे अतः चाहते थे कि इस विचार की पृष्टि में प्राचीन ग्रन्थों से साक्षी मिले, और इसी लिये वे वैदिक मन्त्रों का अर्थ ऐसा करना चाहते थे जिस में उन से मनुष्यों की प्रारम्भिक सम्यता सिद्ध हो । जहां कहीं उन्हें ऐसे वेद मन्त्र मिले जो वैज्ञानिक सत्ता के बोधक हैं उन्होंने ने उन के उलट अर्थ सोचने प्रारम्भ कर दिये, और तोड़ मरोड़ कर उन का अर्थ अपने मतलब का घातक लिख दिया । शोक की बात यह है कि भारतीय विद्वान् ऐसे विषयों के अन्वेषण में अपना समय लगाना नहीं चाहते. उन के भाँतर से मानो अन्वेषण का भाव ही नष्ट हो गया है इस कारण जो कुछ योरोपीय विद्वानों ने लिखा सम्य संसार ने उसी पर विश्वास कर लिया । भारत के सुपूतों को चाहिये था कि योरोपीय विद्वानों के वेद सम्बन्धी अमूलकता के लेखों का खण्डन करते । परन्तु यह खण्डन तब तक नहीं हो सकता जब तक अन्वेषण कर्ता वेदों के अर्थों के जानने की चेष्टा आर्ष प्रणाली अनुसार न करें । यही कारण है कि राजा राजेन्द्रलाल मित्र तथा महाशय रमेशचन्द्रदत्त आदि भारत वासियों ने वैदिक विषयों का अनुशीलन करते हुए भी योरोपीय विद्वानों का अनुकरण कर लिया । परन्तु महर्षि दयानन्द ने ऐसा नहीं किया क्योंकि उन्होंने ने वैदिक

मन्त्रों का विचार उस विधि से किया जिस विधि से कि उन का विचार प्राचीन महर्षिगण किया करते थे अथात् विधिवत् ब्रह्मचर्य्य धारण कर तथा योगाभ्यास से आत्मा को पवित्र कर उन्होंने न वैदिक मन्त्रों का अर्थ किया जिस का प्रभाव यह हुआ कि सुशिक्षित श्रेणी के बहुत से लोग जो योरोपीय विद्वानों की सम्मति को मानते हुए वैदिक मन्त्रों को बच्चों की बलबलाहट समझ रहे थे वे उन्हें विज्ञानमय मानने लगे । आज कल भी बड़े बड़े विद्वान् महर्षि दयानन्द कृत वैदिक अर्थों की ओर आकर्षित हो रहे हैं और यदि वैदिक मतानुयायियों ने उक्त वेदाथों का यथेष्ट प्रचार किया तो एक न एक दिन सारा संसार महर्षि कृत अर्थों के महत्त्व की ओर शिर झुकाएगा और महर्षि का उद्देश्य पूर्ण होगा । वह दिन जिस में शीघ्र आए इस लिये प्रत्येक वैदिक धर्मावलम्बी को पूर्ण पुरुषार्थ करना उचित है ।

(ङ) ईश्वर सर्वज्ञ है अतएव उस का कोई कार्य्य त्रुटि युक्त नहीं कहा जा सकता । संसार में हम यह देखते हैं कि जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को बारम्बार बदलता रहता है और अपनी पूर्व आज्ञाओं के विरुद्ध नई आज्ञाएं प्रकाशित करता रहता है उस को मनुष्यों का कोई समूह भी अपना नेता बनाना नहीं चाहता क्योंकि उस की बुद्धि विशेष भ्रम युक्त अपरिपक्व एवं कल्याणकारी विषयों के समझने में अयोग्य मानी जाती है । जब कि बुद्धिमान् पुरुष भी दूरदर्शिता और विचार से काम लेते हुए यथासम्भव ऐसे नियम बनाते हैं कि जो चिरस्थाई हों तो फिर ईश्वर के विषय में यह कहना अज्ञानता नहीं तो क्या है कि वह पहले एक आज्ञा प्रकाशित करता है और फिर उस के विरुद्ध दूसरी आज्ञा का घोषणा देता है और इसी प्रकार बारम्बार नई आज्ञाएं देता और पीछे से उन के विपरीत अन्यान्य आज्ञाओं को प्रचारित करना चाहता है ।

बाइबल में कई स्थानों पर ऐसा लेख आता है कि ईश्वर ने अपनी भूलके लिये पश्चात्ताप किया, कई स्थानों पर बाइबल का ईश्वर धमकियां देता है और उन्हें पूरा नहीं करता, दण्ड देने की घोषणा देता है परन्तु पीछे से क्षमा करदेता है । बाइबल के भिन्न २ भागों के विषय में कहा जाता है कि वे भिन्न भिन्न समयों पर आसमान से उतरे । क्या परमात्मा का पहला ज्ञान अपूर्ण था जो उसे नवान ज्ञान प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ?

इसी प्रकार मुसलमान मानते हैं कि पहले परमात्मा ने क्रमशः जबूर, तौरेत तथा अब्जील के ज्ञान प्रकाशित किये फिर उन सब को क्रमशः उत्तरोत्तर निषिद्ध

करता रहा । यहां पर भी वही प्रश्न किया जा सकता है कि क्या परमात्मा अज्ञानी है जा पहले कुछ कहता और पीछे से उसी के विरुद्ध कुछ अन्य कहने लगता है ?

वेद जैसे सृष्टि की आदि में थे वैसे ही अब भी हैं, उन में एक मात्रा का भी भेद नहीं हुआ है । जैसे परमात्मा अनादि है वैसे ही उस का ज्ञान (वेद) भी अनादि है, उन के किसी भी सिद्धान्त के परिवर्तन की आवश्यकता परमात्मा को कभी भी प्रतीत नहीं हुई अतः वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है ।

(च) प्राकृतिक संसार का कर्ता परमेश्वर है इस में किसी भी आस्तिक को सन्देह नहीं है अतः उस के सृष्टि नियम जो संसार में चल रहे हैं उन के विरुद्ध वह ज्ञान नहीं हो सकता जिस उस ने मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकाशित किया है ।

परन्तु बाइबल में सृष्टि नियम विरुद्ध लिखा है कि इमूमसीह मरियम कुमारी के पेट से पैदा हुए, उन्होंने ने मुर्दों को जीवित किया, अन्धों को बिना किसी औषाध के आंखें दा इत्यादि ।

इसी प्रकार कुरान में लिखा है कि सूर्य की चड़ के चश्मे (सरोवर) में डूबता था, पहाड़ बादलों की तरह चलते थे, मूसा ने पत्थर पर अपना असा (दण्ड) मारा और उस पत्थर से बारह चशमों (सरोवर) बह निकले इत्यादि ।

पुराणों में लिखा है अगस्तुर्मान ने समुद्र को पी लिया, एक दैत्य सारी पृथिवी को चटाई की तरह लपेट उसे सिरान्हे रख सा गया इत्यादि ।

ग्रन्थ साहब में भी पुराणों की तरह अनेक कथाएं लिखी हैं ।

परन्तु वेदों में सृष्टि नियम विरुद्ध एक भी बात नहीं है ।

पश्चिमीय विद्वान् जो यह कहते हैं कि वेदों में अनेक भ्रम मूलक कथाएं हैं वे सर्वथा स्वयम् भ्रम में हैं, उन्होंने ने वेदों के आशयों को नहीं समझा । जिन वैदिक मन्त्रों से पश्चिमीय विद्वान् भ्रम मूलक कथाएं निकालते हैं वे वेदमन्त्र वास्तव में विशुद्ध अलङ्कारों को वर्णन करते हैं जैसा कि हम उदाहरण स्वरूप दो चार वेदमन्त्रों के अर्थ परिशिष्ट में प्रकाशित कर बतलाएंगे ।

छ “ जब आत्मा मन, और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकारादि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है, उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है, वह जीवा-

त्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है ” इस से सिद्ध होता है कि परमात्मा की शिक्षा, पवित्र होती है । परन्तु इस के विपरीत बाइबल, कुरान तथा पुराणादि में कई अपवित्र बातें पाई जाती हैं जिस कारण इन में से कोई भी ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहला सकता । परन्तु वेद की शिक्षा अति पवित्र है उस की पवित्र शिक्षा का नमूना कातिपय वेद मन्त्रों के द्वारा हम परिशिष्ट में प्रकट करेंगे जिन के अवलोकन से पता लगेगा कि जैसी उच्च शिक्षा वेद की है वैसी संसार भर के किसी पुस्तक की नहीं है ।

(ज) मनुष्यों के कल्याण के लिये परमात्मा ने जिस ज्ञान का उपदेश किया हो उसे सब विद्याओं का भण्डार होना आवश्यक है । परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सब विद्याएं उस में विस्तृत रूप से बतलाई गई हों, सब विद्याओं के मौलिक सिद्धान्त यदि उस में हैं तो वह मनुष्यों के कल्याण के लिये पर्याप्त है । जिस प्रकार कि भौतिक सूर्य्य मण्डल प्रत्येक प्रकार के प्रकाश का कोष है उसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान भी विद्या रूपी प्रकाश का मूल है । चन्द्रमा यदि प्रकाशित है तो सूर्य्य के किरणों से, वायु यदि बहता है तो सूर्य्य के ताप से, पृथिवी मात्र पर जहां कहीं आग्नि है वह सब का सब वायु के सहार जलता है और वायु का प्रवाह सूर्य्याधीन है अतः सूर्य्य ही सब प्रकार के भौतिक प्रकाशों का मूल है । जब कि परमात्मा की भौतिक सृष्टि में देखते हैं कि सब प्रकार के भौतिक प्रकाशों का भण्डार भौतिक सूर्य्य प्रकाश दे रहा है तो यह कैसे माना जा सकता है कि मानसेक और आत्मिक जगत् में ज्ञान रूपी प्रकाश का प्रदान करने वाला सूर्य्य सर्व विद्याओं से भरपूर न होगा ? अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वरीय ज्ञान में सब विद्याएं विस्तृत रूप से होनी चाहिएं अथवा उस में सब विद्याओं का मौलिक सिद्धान्त मात्र होना चाहिए ? जब कि ईश्वर सर्वज्ञ है तो क्या वह सब विद्याओं को विस्तृत रूप से वर्णित नहीं कर सकता ? इस के उत्तर के लिये भी सृष्टि क्रम को देखिये । सूर्य्य हमें केवल प्रकाश देता है जिस की सहायता से आंखें देखती हैं । यदि आंखें देखना न चाहें अथवा अन्यथा देखें तो सूर्य्य सब वस्तुओं का यथार्थ रूप नहीं दिखा सकता । हां यदि नेत्र देखना चाहें तो सूर्य्य उन्हें सब कुछ दिखा सकता है । इस के अतिरिक्त परमात्मा ने संसार में जितने पदार्थों की रचना की है वह एक न एक कार्य के लिये है, कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं बनाई गई । अतः नेत्रों का काम भी यदि सूर्य्य ही करदे तो चक्षु जिन की सूक्ष्म रचना परमात्मा की महानता की घोषणा दे रही हैं

निरर्थक ही सिद्ध हो जाय । जिस प्रकार भौतिक संसार में चक्षु हैं उसी प्रकार मान-सिक और आत्मिक जगत् में बुद्धि है । यदि वेद में सब विद्याएं पूर्ण विस्तार सहित वर्णित होवें तां बुद्धि निरर्थक सिद्ध हो अतः परमात्मा ने वेदों में सर्व विद्या सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों को बतलाया ताकि मनुष्य अपनी बुद्धि को दौड़ा कर विद्याओं का विस्तार कर सकें । हां यह बात कभी नहीं हो सकती कि विद्यार्थी अपना बुद्धि के बल से बिना किसी शिक्षक की सहायता के विद्या सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों को भी स्वयम् जान ले ।

बाइबल और कुरान में विद्याओं के मूल सिद्धान्तों की विद्यमानता की बात तो दूर रही उन में अनेक बातें ऐसी भरी हुई हैं जो विद्या विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध हैं । इस सम्बन्ध में कई बातें तो पहले भी लिखी जा चुकी हैं अन्यान्य कांतपय और भी सुनिये । बाइबल और कुरान में लिखा है कि भूमि चौड़ी है, फ़रिश्ते आसमान पर रहते हैं, सृष्टि को बने केवल छःसहस्र वर्ष हुए इत्यादि इत्यादि जिन्हें पढ़ कर कोई विद्वान् यह स्वीकार नहीं कर सकता कि उक्त पुस्तकें परमात्मा की अथवा किन्हीं विद्वानों की वा किसी विद्वान् की भी बनाई हुई हैं । बाइबल के विज्ञान विरुद्ध होने का एक दृढ़ प्रमाण यह भी है कि युरोप में ईसाई पुरोहितों तथा आचार्यों की ओर से वैज्ञानिकों पर सदा अत्याचार होते रहे हैं । प्रसिद्ध विद्वान् गैलिलियाँ इस कारण बन्दागृह में डाला गया कि उस ने बाइबल की शिक्षा के विरुद्ध इम सत्-सिद्धान्त का प्रचार किया कि भूमि सूर्य के चतुर्दिक् घूमती है । देवा हियोफिया, ईसाई, पादरी सिरिल की आज्ञा से नग्न की गई और बीच बाजार में जान से मारी गई । उस देवा का अपराध (जिसे ईसाई अपराध बतलाते थे) केवल यह था कि वह रेखागणित की विद्या लोगों को पढ़ाया करती थी । पादरी कहते थे कि रेखागणित की विद्या असत्य है क्योंकि बाइबल में इस विषय में कुछ नहीं लिखा । कोलम्बस जब अमेरिका का पता लगाने के लिये एक जहाज ले जाना चाहता था तब उस ने इस कार्य में पुर्तगाल के महाराज की सहायता लेनी चाही । महाराज ने कोलम्बस की प्रार्थना पर विचार करने के लिये पादाड़ियों की एक सभा एकत्रित की । पादाड़ियों ने वादानुवाद के पश्चात् निश्चित किया कि भूमि के किसी अन्य महा-खण्ड के विषय में बाइबल में कुछ नहीं लिखा है अतः कोलम्बस बाइबल के सिद्धान्त विरुद्ध व्यर्थ श्रम करना चाहता है अतएव उसे सहायता नहीं मिलनी चाहिये । इस

निष्पात्ति (फैसले) के कारण बेचारे कोलम्बस को पुर्तगाल महाराज के यहां से निराश लौटना पड़ा ।

परन्तु वेदों में विज्ञान विरुद्ध एक भी बात नहीं है प्रत्युत ये महोच्च गम्भीर शिक्षाओं से भरे हुए हैं । इस विषय का निर्भ्रान्त और पूर्ण निश्चय तो तब होता है जब कि कोई बाल्यावस्था से ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण कर अपने आत्मा को साधन सम्पन्न बनाए और वेदाङ्गों तथा उपाङ्गों को अध्ययन कर पुनः वेदांशों पर विचार करे, तथापि नमूने की तरह कातिपय वेद मन्त्रों के भावार्थ हम यहां प्रस्तुत करते हैं जिन सं वेदों के कुछ महत्व प्रकट होंगे:—

आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरम्पुरः । पितरश्च प्रयन्त्स्वः ।
यजुर्वेद । अध्याय ३ । मन्त्र ६

यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है ।

महर्षि यास्क अपने ग्रन्थ निरुक्त में लिखते हैं "गौरिति पृथिव्या नामधेयम् । यद् दूरं गता भवति" अर्थात् पृथिवी का नाम "गौ" इस कारण है कि यह दूर दूर तक चलती रहती है ।

या गौर्वत्तनि पर्येति निष्कृतं पथो दुद्धाना व्रतनीरवारतः । सा प्रष्टुवाणा वरुणाय दाशुषं दवेभ्यो दाशद्दविषा विवस्वते । ऋग्वेद अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १

पृथिवी अपने व्यास पर घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा उस आकाश मार्ग से कर रही है जिसे परमात्मा ने उस के घूमने के लिये निर्दिष्ट किया है और अन्यान्य लोक भी नियमित गति से घूम रहे हैं । यह पृथिवी अनेक प्रकार के रस फलादि से प्राणियों का तृप्त कर रही है । इत्यादि ।

यदा ते हर्यता हगी वावृधाते दिवे दिवे । आदित्ते विश्वा भुवनानि ये-
मिरे । ऋग्वेद अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ३

अर्थात् सब लोकों के साथ सूर्य का आकर्षण है और सूर्यादि लोकों के साथ ईश्वर का आकर्षण है इसी कारण सब लोक अपनी अपनी कक्षा में चलते और इधर उधर विचलित नहीं होते हैं ।

आकृष्णेन रजसा वत्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यश्च । हिरण्यंयन सविता
रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ यजुर्वेद अ० ३३ । मं० ४३ ॥

सविता अर्थात् सूर्य्य वर्षादि का कर्ता प्रकाश स्वरूप तेजोमय रमणीय स्वरूप के साथ वर्तमान सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा और सब मूर्तिमान् द्रव्यों को दिखाता हुआ सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सहवर्तमान अपनी परिधि में घूमता रहता है ।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्य्येणोत्तभिता द्यौः । ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥ अथर्व कां० १४ । अनु० १ । मं० १ ॥

यह पृथिवी आकाश में परमात्मा की शक्ति से सूर्य्याकर्षण द्वारा धारित है । सब प्रकाशों का मूल सूर्य्य है त्रसरेणु भी सूर्य्य की शक्ति से धारित है । और चन्द्रमा सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशित हा रह! है ।

कः स्वदेकाकी चरति कउ स्वज्जायते पुनः । कि १७ स्वद्विमस्य भेषज किम्बावपनं महत् ॥ सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषज भूमिरावपनं महत् । यजुर्वेद अ० २३। मं० १, १०

यहां चार प्रश्न हैं और क्रमशः उन के चार उत्तर दिये गये हैं ।

चार प्रश्न ।

(१) कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपने प्रकाश से प्रकाश वाला है ? (२) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है ? (३) शीत का औषध क्या है ? (४) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है ?

चार उत्तर ।

(१) इस संसार में सूर्य्य एकाकी अर्थात् अकेला विचरता और अपनी कौल पर घूमता है तथा प्रकाश रूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है (२) उसी सूर्य्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है । (३) शीत का औषध अग्नि है । (४) यह पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज वान का बड़ा खेत है ।

अनाःरम्भणे तदवीरये थामनास्थाने अग्र भणे समुद्रे । यदश्विना ऊहथुसु ज्युमस्तं शतारित्रां नावमातास्थिवांसम् ॥ ऋग्वेद अ० १ । अ० ८।३०८ मं० ५।

अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में बिना आलम्बन से कोई भी नहीं ठहर सकता उन में किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान के नहीं मिल

सकता इस लिये अन्तरिक्ष और समुद्र में चलने योग्य यानों को अपने कार्यों की सिद्धि के लिये रचलो ।

(झ) अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सृष्टि की आदि में परमात्मा ने किस प्रकार मनुष्यों को वेदों का ज्ञान प्रदान किया । परमात्मा साकार तो है नहीं कि उस ने पुस्तक लिख कर छपवादी हो अथवा सुनादी हो तो फिर वेदों का ज्ञान मनुष्यों को कैसे हुआ ?

१— शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४, अध्याय ९, ब्रा० ४, क० १० में लिखा है:—

एवं वा अरेस्य महतो भृतस्य निःश्वासितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः शामवेदो ऽथर्वागिरमः ।

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य सहजतया बिना श्रम के श्वास अपने शरीर से निकालता है उसी प्रकार जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उस ने सहजतया ऋक्, यजु, साम और अथर्व वेदों को उत्पन्न किया है ।

२— शतपथ ब्राह्मण काण्ड ११ अध्याय ९ में स्पष्ट लिखा है:—

तेभ्यस्तप्तभ्यस्त्रयां वेदा अत्रायंताग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ।

अर्थात् परमात्मा ने तीन वेदों की उत्पत्ति इस प्रकार की कि अग्नि ऋषि के हृदय में ऋग्वेद का, वायु ऋषि के हृदय में यजुर्वेद का और सूर्य ऋषि के हृदय में सामवेद का प्रकाश किया और इसी प्रकार अन्य प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अङ्गिरा ऋषि के हृदय में अथर्ववेद का प्रकाश किया ।

यदि कोई कहे कि परमात्मा ने वेदों के शब्द अर्थ और उन के सम्बन्ध का ज्ञान एकाएक चार मनुष्यों के हृदयों में कैसे डाला जब कि इस प्रकार की कोई अन्य घटना इस समय दृष्टिगोचर नहीं होती तो इस का उत्तर यह है कि आज कल भी एक जीवात्मा दूसरे जीवात्मा पर अपना प्रभाव एकाएक डालता है । जिस के अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर हुआ करते हैं ।

वह घटना आज कल मैजमरेजम के नाम से प्रसिद्ध है जिस को प्राचीन समय में योगावेश का एक साधारण भाग माना करते थे । मैजमरेजम की क्रिया द्वारा, एक दृढ़ इच्छा का पुरुष एक निर्बल इच्छा वाले मनुष्य के हृदय में अपना जो ज्ञान चाहे एकाएक डाल सकता है । जब कि मैजमरेजम करने वाला पुरुष उस मनुष्य के हृदय में जिस ने अंग्रेजी कभी नहीं पढ़ी अंग्रेजी पुस्तक का ज्ञान डाल

सकता है और उस के मुख से उन शब्दों का उच्चारण करवा सकता है जिन्हें उस ने पहले कभी नहीं सुना तो फिर क्या सर्व-शक्तिमान् परमात्मा के लिये यह असम्भव है कि वह पवित्र चार जीवात्माओं पर ऐसा प्रभाव डाले कि वह वेदों के शब्द अर्थ और उन के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करते हुए वैदिक शब्दों का उच्चारण कर सकें ? जिस प्रकार मैजमरेजम करने वाले के सबनेक्ट (जिम पर मैजमरेजम किया जाता है) की इच्छा इतनी वशीभूत और परार्थान हो जाती है कि मैजमरेजम करने वाला जैसा चाहता है वैसा ही उस से बुलवाता है उसी प्रकार परमात्मा ने उक्त चार ऋषियों के द्वारा वेदों को प्रकाशित किया । “ परमात्मा सर्व शक्तिमान् है, मुख प्राणादि साधनों के बिना भी वह मुख प्राणादि का काम अपने अनन्त सामर्थ्य से कर सकता है जिस प्रकार निराकार रहते हुए भी सारी सृष्टि की रचना कर लेता है । मन में मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि उस के भीतर प्रश्नात्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये । उस ने उक्त चार ऋषियों के आत्माओं में व्यापक रहने के कारण उन के आत्माओं में अपने अनन्त सामर्थ्य से वेदों को प्रकाशित कर दिया । ” उक्त चार ऋषियों को परमात्मा के उपदेश के पूर्व वेदों का कुछ भी ज्ञान न था अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त ऋषियों ने वेदों को रचा ।

(ज) वेदों की संख्या के चार होने में भी एक वैज्ञानिक नियम काम कर रहा है । संसार भर की जितनी घटनाएं हैं इन का परिगणन तीन काण्डों में आ सकता है अर्थात् ज्ञान काण्ड, कर्म काण्ड और उपासना काण्ड । ऋग्वेद ज्ञान-काण्ड का भण्डार है, यजुर्वेद उस ज्ञान को कर्म में परिणत करने की रीति बतलाता है और सामवेद में उपासना विषयक ज्ञान है । अथर्व वेद में उक्त तीनों प्रकार के विषयों का सम्मिलित प्रयोग बतलाया गया है और इसी कारण उसे विज्ञान काण्ड कहते हैं ।

उपरोक्त युक्तियों से हम ने स्पष्टतः बतला दिया है कि सृष्टि की आदि में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है और वह ईश्वरीय ज्ञान ऋक्, यजु, साम और अथर्व हैं ।

(२) परिशिष्ट

वेदों की पवित्र तथा उच्च शिक्षा का नमूना ।

तद्दृष्णोः परमं यदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋग्वेद
अ० १ । अ० २ । व । ७ । मं० ५ ॥

जैसे प्राणी सूर्य के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से मूर्तिमान् पदार्थों को देखते हैं
वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से विद्या वा श्रेष्ठ विचार युक्त अपने शुद्धात्मा
में जगदाश्वर को सब आनन्दों से युक्त और प्राप्त होने योग्य मोक्षपद को देखकर
प्राप्त होते हैं ।

यस्मान्न जातः परो अन्वो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजा-
पतिः प्रजया सञ्चरराणस्त्रीणि ज्योतीः, ऽपि सचत स पांडशी । यजुर्वेद अ० ८ ।
मन्त्र ३६ ॥

जिस परब्रह्म से दूसरा कोई भी उत्तम पदार्थ नहीं है जो सब जगह व्यापक
हो रहा है वही सब जगत् का पालन कर्ता और अश्वत्स है उसी ने आगे सूर्य
और यजुश्ची इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश के लिये रचा है वही पांडश-
कला युक्त जगत् का स्वामी है ।

तमीशानं जगतस्तस्थुपस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषानो
यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ ऋग्वेद अ० १ । अ० ६ ।
व० १५ । मं० ५ ॥

जो सब जगत् का बनाने वाला है जो चेतन और जड़ जगत् का राजा और पालन
कर्ता है जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है उस की हम
लोग अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं सब सुखों से पुष्ट करने वाले जिस प्रकार
आप हमारे सब सुखों के बढ़ाने वाले हैं वैसे ही रक्षा भी करें ।

सनो वन्युर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा
अमृतमानशानास्मृतीये धामन्नधैरयन्त ॥ यजु० अ० ३२ । मन्त्र १० ॥

जिस जीव और प्रकृति से विलक्षण आधार रूप जगदीश्वर में मोक्ष सुख को
प्राप्त हुए विद्वान् लोग सर्वत्र अपनी इच्छा पूर्वक विचरते हैं जो सब लोक लोका-
न्तरों और जन्म स्थान नामों को जानता है वह परमात्मा हमारे भाई के तुल्य मान्य

सहायक और सब जगत् का उत्पन्न करने हारा है तथा वही सब पदार्थों और कर्म फलों का विधान करने वाला है ।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपा-
स्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमाभि संविवश ॥ यजुर्वेद अ० ३२ । मंत्र ११ ॥

जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा सूर्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है और जो पूर्वादि दिशाओं तथा आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भर-पूर हो रहा है जिस की व्यापकता से एक अणु भी रिक्त (खाली) नहीं है जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पात्ति करने वाला है उस आनन्द स्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य मन से यथावत् जानता है वही उस का प्राप्त होके मोक्ष सुख को भोगता है ।

वेदाद्भेदं पुरुषं महान्तमःदित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति
मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यन्तऽयनाय ॥ यजु० अ० ३१ । मं० १०

मैं इस महान् व्यापक स्वप्रकाश स्वरूप अज्ञानान्धकार रहित परमात्मा को जानता हूँ । उसी को जान के दुखदाई मरण को मनुष्य उल्लंघन कर जाता है । मोक्ष की प्राप्ति के लिये सिवाय उस परमात्मा के ज्ञान के अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिकं तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य
वाह्यनः॥ यजुर्वेद अ० ४० । मं० ५ ॥

परमात्मा सम्पूर्ण लोकों को चला रहा है परन्तु आप निष्कम्प है । वह दूर से दूर वर्तमान और अत्यन्त निकट भी है वह सब जगत् के भीतर व्यापक हो रहा है और सब जगत् के बाहर भी व्यापक है ।

स पर्यगच्छुक्रमकायमन्नमस्नाविरथंशुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी
परिभूः स्वयम्भूर्याथातध्यतोऽर्यान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजुर्वेद
अ० ४० । मं० ८ ॥

वह परमात्मा सब में व्यापक शीघ्रकारी सर्व शक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और का-
रण शरीर से रहित, छिद्र रहित और अच्छेद्य, नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप
बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र, जो पापयुक्त पाप-
कारी अथवा पाप में प्रीति करने वाला कभी नहीं होता' जो सर्वज्ञ, सब जीवों के
मनों की वृत्तियों को जानने वाला, दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला, अनादि

स्वरूप जिस की संयोग से उत्पत्ति वियोग से विनाश नहीं होता, जो माता पिता गर्भवास जन्म वृद्धि मरण को प्राप्त नहीं होता वह परमात्मा, सनातन अनादि स्वरूप अपने २ स्वरूप से उत्पत्ति विनाश रहित जीव रूप प्रजाओं के लिये यथावत् अर्थों ज्ञानों का उपदेश वेद द्वारा करता है ।

(३) परिशिष्ट

यहां निदर्शन रूप कतिपय ऐसे वेद मन्त्रों के आशय प्रकाशित किये जाते हैं जिन के वास्तविक अर्थ न समझ कर यूरोपीय विद्वानों ने ऐतिहासिक अर्थ किये हैं ।

प्रनू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते । वैश्वानरो दस्युमग्नि-
जघन्वाँ अभूनात्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥ ऋग्वेद । मण्डल । १ । सूक्त । ५९ ।
मन्त्र ६ ॥

इस का अर्थ प्रोफेसर मैक्समूलर सम्पादित सैक्रेडबुक्स आफ दि ईस्टसेरीज के “वैदिक हिम्स” नामक ग्रन्थ भाग २ के पृष्ठ ५९ में इस प्रकार लिखा हुआ है:—

अब मुझे उस बैल की महानता का घोषणा करने दो जिसे शत्रुओं का नाशक समझ पुरुवंशी पूजते हैं । अग्निवैश्वानर ने दस्यु को मार कर वायु मण्डल को कंपा दिया और शम्बर (राक्षस) को काट डाला *

यूरोपीय विद्वानों ने इस वेद मन्त्र में आए हुए “वृषभस्य” शब्द का अर्थ “सर्वोत्कृष्टस्य” अर्थात् “सब से उत्तम” न समझ कर इस का अर्थ “बैल” कर दिया । इसी प्रकार “पूर्व का अर्थ” जैसा कि निघण्टु—कर्त्ता यास्क—महर्षि ने “पूर्व इति मनुष्य नाम, निघं० २ । ३” मनुष्य किया है वैसा न समझ कर “पुरुवंशी” किया । और वैसे ही “शम्बरम्” का अर्थ यास्काचार्य ने “शम्बरमिति मेघ नाम, निघं० १ । १०” जो मेघ किया है वह न जान कर उस का अर्थ “शम्बर” नाम कल्पित राक्षस कर दिया है । और इस प्रकार इस वेद मन्त्र से एक इतिहास निका-

* Let me now proclaim the greatness of the bull whom the Purus worship as the destroyer of enemies. Agni Vaisvanara, having slain the Dasyu, shook the (aerial) arena and cut down Sambara. (Sacred Books of the East, Vedic Hymns, Part 2. P. 49.)

लने का यत्न किया है । परन्तु वास्तव में यह वेद मन्त्र परमात्मा की महिमा का द्योतक है यथा:—

उक्त वेद मन्त्र का सत्यार्थ

जिस परमेश्वर को विद्वान् मनुष्य अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं वही स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा भेषों के नाश कर्ता सूर्य की तरह सम्पूर्ण पदार्थों को दिखाते हैं अर्थात् सब का ज्ञान प्रदान करते हैं । जिस प्रकार सूर्य ढाकू रूप भेषों को मारता, कम्पायमान करता और उन्हें छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार परमात्मा दुष्टों को दण्ड देते हुए अविद्यान्धकार का नाश करते हैं । जिस परमात्मा के बीच सर्व दिशाएं भी व्याप्य हैं उस सर्व-व्यापक सर्वोत्कृष्ट परमात्मा की महिमा को हम भली भांति शीघ्र वर्णन करें ।

बोधघ्नमा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः । अच्छा न हूत उदरम् ॥ ऋग्वेद ।
मण्डल ४ । सूक्त १५ । मन्त्र ७

उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात् । प्रयता सद्य आददे ॥
ऋ० । मण्ड० ४ । सू० १५ मं० ८

एष वां देवावश्विना कुमारः । साहदेव्याः । दीर्घायुरस्तु सोमकः ॥
ऋ० । मण्ड० ४ । सू० १५ मं० ९

ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त १५ के इन ७, ८, ९ संख्या वाले तीन मन्त्रों का अर्थ, प्रोफेसर मैक्समूलर सम्पादित "संकेडबुकस आफ़ दि ईस्ट" सिराज़ के "वैदिक हिम्स" नामक ग्रन्थ भाग २ के पृष्ठ ३६० में इस प्रकार लिखा हुआ है:—

जब सहदेव के पुत्र उस राजकुमार ने दो लाल घोड़ों के साथ (दो लाल घोड़े देने की इच्छा से) मेरा स्मरण किया (तब) मैं उस पुरुष की तरह खड़ा हो गया जो बुलाया गया हो (अर्थात् जिसे आने के लिये किसी ने पुकारा हो *)

और मैंने सहदेव के पुत्र उस राजकुमार से, उन दो पूजनीय लाल घोड़ों को जिन्हें उस ने मुझे दिया, अति शीघ्र ग्रहण कर लिया †

* When Sahdeva's son, the prince, thought of me with two bay horse, I rose up like one who is called. (Sacred Books of the East, Vedic Hymns, Part 2, P. 360.)

† And immediately I accepted from Sahdeva's son, the prince, those adorable two bay horses which he offered me. (Sacred Books of the East, Vedic Hymns, Part 2, P-360)

हे अश्विन देवताओ ! सहदेव का पुत्र यह सोमक नामक राजकुमार, आप के लिये, दीर्घजीवी हो *

यूरोपीय विद्वानों ने इन वेद मंत्रों में आये हुए साहदेव्याः शब्द का अर्थ “ये देवैःसह वर्तन्ते” अर्थात् “जो विद्वानों के साथ रहने वाले हैं” न जान कर इस शब्द का “सहदेव नामक राजा विशेष का पुत्र” अर्थ ग्रहण किया है । “अश्विनौ शब्द का अर्थ “सर्व विद्या-व्यापिनौ” अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं में व्याप्त अर्थात् “सब विद्याओं के जानने वाले” ऐसा न कर के इस शब्द का “अश्विन” नामक “कल्पित देवता गण” अर्थ किया है । “सोमक” शब्द का अर्थ है सोम इव शीतल स्वभावः” अर्थात् चन्द्रमा के सदृश शीतल स्वभाववाला परन्तु इस का अर्थ यूरोपीय विद्वानों ने “कल्पित राजा—सहदेव के कल्पित पुत्र सोमक नामक राजकुमार” किया है । इसी कारण इन वेद मंत्रों के अर्थ यूरोपीय विद्वान् न समझ सके और इन से इतिहास निकालने लगे ।

उक्त वेद मंत्रों के सत्यार्थ ।

इन वेद मंत्रों के द्वारा परमात्मा ने अध्यापक तथा उपदेष्टा और उन के ब्रह्मचारियों को उन के कर्तव्यों का उपदेश दिया है जो कि इस प्रकार है—

ब्रह्मचारी अपने अध्यापक से निवेदन करे “हे अध्यापक ! मैं विद्वज्जनों का साथी कुमार (ब्रह्मचारी) हूँ मैं प्रशंसित रीति से जिन बातों को न जानता होऊँ उन का अच्छे प्रकार उत्तम बोध दीजिये ताकि (द्रुत गामी) घोड़ों की सहायता से शीघ्र चलने वाले पुरुष की तरह पठन और अभ्यास की सहायता से मैं शीघ्र विद्या को पार हो जाऊँ ।

(इस निवेदन के सुनने पर)

विद्या दाता तथा अविद्या के हरण करने वाले प्रयत्नवान् अध्यापकोपदेशक को उचित है कि वे विद्वानों के सहवर्ती कुमार (ब्रह्मचारी) से विद्याध्ययन की प्रतिज्ञा ग्रहण करें और ब्रह्मचारी उन से शीघ्र २ विद्या ग्रहण करने लगे ।

(तब)

हे विद्वानो ! सब विद्याओं में व्याप्त आप अध्यापकोपदेशक को उचित है कि

* May this prince Somaka, Sahdeva's son, live long, for your sake, O divine Asvins. (Sacred Books of the East. Vedic Hymns, Part, 2. P. 360)

उन विद्वानों के सहवर्ती चन्द्रमा सदृश शतिल स्वभाव वाले कुमार ब्रह्मचारी के लिये ऐसा यत्न करें कि वह बहुकाल पर्यन्त जीने वाला होवे ।

प्रथे में बन्ध्वेसे गां वोचन्त सूरयः पृश्निं वोचन्त मातरम् अधा पितरमि-
ष्णिणं रुद्रं वोचन्त शिकसः ॥ ऋग्वेद मण्डल ५ । सूक्त ५९ । मंत्र १६ ।

इस का अर्थ प्रोफेसर मैक्समूलर सम्पादित सैक्रेड बुक्स आफ् दी ईस्ट संरीज के वैदिक हिम्स नामक ग्रन्थ भाग १ के पृष्ठ ३१३ में इस प्रकार लिखा हुआ है:—

उन बुद्धिमान्, स्वामी, मरुतों ने, जब कि उन के सम्बन्धियों के विषय में अन्वेषण खाज पूछ पाछ हुई तो मुझ से गाय के विषय में कहा और कहा कि पृश्नी उन की माता है और बलवान् रुद्र उन के पिता हैं *

यूरोपीय विद्वानों ने इस वेद मंत्र में आए हुए “ बन्ध्वे ” शब्द का अर्थ जो “ inquiry for their kindred अर्थात् उन के सम्बन्ध (रिश्तदारी) के विषय में पूछ पाछ ” किया है वह ठीक नहीं । इस का अर्थ है “ बन्धूनामिच्छायै ” अर्थात् “ बन्धुओं की इच्छा के लिये ” अर्थात् ऐसी इच्छा के लिये शुभ कामना के लिये, जो मनुष्यों को अपना बन्धु अर्थात् प्रेमी बनाने के लिये है । यह वास्तविक अर्थ न जानने से ही यूरोपियों ने इस वेद मंत्र में आए हुए अन्तरिक्ष वाचक “ पृश्नी ’ शब्द से स्त्री विशेष और दुष्टों को भय-प्रद वाचक “ रुद्र ” शब्द से पृश्नी के पति रुद्र नामक पुरुष विशेष का अर्थ ग्रहण कर लिया है ।

उक्त वेद मंत्र का सत्यार्थ ।

परमात्मा उपदेश करते हैं:—

“ जो विद्वज्जन बन्धुओं की इच्छा के लिये (मनुष्यों को अपना बन्धु, स्नेही, प्रेमी, अपने समान बनाने के लिये) मेरी वाणी (वेद) को उत्तम प्रकार कहते अर्थात् वेद का भली भाँति उपदेश करते हैं, जो पृश्नि अर्थात् अन्तरिक्ष विषय को बतलाते हैं तथा जो माता के विषय में उपदेश करते और शक्ति-शाली पिता के

* They, the wise Maruts, the lords, who, when there was inquiry for their kindred, told me of the cow, they told me of Prisni as their mother, and of the strong Rudra as their father (Sacred Books of the East, Vedic Hymns, Part I. P. 313)

(५०)

भारतवर्ष का इतिहास ।

विषय में तथा दुष्टों का दण्ड देने वाले न्यायाधीश रुद्र के विषय में अथवा जो प्यारी माता के समान स्नेही, शक्ति-शाली पिता के समान रक्षक तथा न्यायाधीश रुद्र के समान दुष्टों को दण्ड देने वाले परमात्मा के विषय में उपदेश करते हैं वे सत्कार के योग्य हैं ! ’



❧ दूसरा भाग ❧

❧ ब्राह्मण ग्रन्थों के समय का इतिहास ❧

प्रथम परिच्छेद

ब्राह्मण ग्रन्थों का समय-उस समय का साहित्य ।

आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व योरोप महादेश का तीन चौथाई भाग प्रायः जाङ्गलिक था । यूनान से रोमादि देशों तथा योरोप के अन्यान्य भागों में क्रमशः दो सहस्र वर्षों के भीतर ही विद्या (विशेष कर प्राकृतिक विद्या) इतनी फैल गई कि लोग आज कल योरोप को सर्व शिरामणि मानने लग गए हैं । अतः अनुमान करना चाहिये कि वर्तमान सृष्टि की आदि में (जिसका समय एक अर्ब छियानव करोड़ वर्षों से भी अधिक व्यतीत हो चुका है) जब कि वेदों की अनुपम शिक्षा को अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा, नाम ऋषियों ने और उन के बाद ब्रह्मादि ऋषियों ने प्रचरित किया होगा तो थोड़े ही दिनों में कितनी उन्नति हुई होगी ! सैकड़ों मन्त्र द्रष्टा ऋषि और ऋषिपत्नियों वा ऋषिकन्याएं विशेष २ मन्त्रों के भावों के सुप्रचार के कारण ही जब कि उन २ मन्त्रों के ऋषि (प्रचारक) कहलाए तब कोई भी शङ्का नहीं कर सकता कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भ में वेदों के प्रकाशित होने के पश्चात् वैदिक धर्म का सुप्रचार न हुआ । वैदिक धर्म की थोड़ी सी शिक्षा ग्रहण करने से जब कि हम लोगों का डांवाडोल हृदय शान्ति की ओर जा रहा है तो अनुमान करना चाहिये कि जिस समय वेदों की ११२७ ग्यारह सौ सत्ताईस शाखाओं का पठन पाठन प्रचरित होगा उस समय के मनुष्य कैसी सौन्दर्यपूर्ण सभ्यता को प्राप्त होंगे ।

इन क्रोड़ों वर्षों के भीतर कितने ग्रन्थ बने कितने ब्रह्मर्षि और राजर्षि मनुष्य समाज को कितना उन्नत कर गए इस का ठीक २ पता लगाना अत्यन्त कठिन है । मानव-समाज के सौभाग्य से इतने विप्लवों के पश्चात् भी चारों वेद तो ज्यों के त्यों हमें मिले ही परन्तु हर्ष की बात है कि वेदों के अर्थ बोधन कराने वाले तथा नाना प्रकार के इतिहासों से पूरित अति प्राचीन ब्राह्मण नामक ग्रन्थ भी हमें मिल गए । आज कल आर्षेय-ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, मन्त्रोपनिषद्-ब्राह्मण, संहितोपनिषद्-ब्राह्मण,

वंश-ब्राह्मण, महा-अद्भुतब्राह्मणादि नामों से प्रसिद्ध जो अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिन में थोड़े सत्य के साथ वेद-विरुद्ध अनेक प्रकार की बातें भरी पड़ी हैं वे वास्तव में ब्राह्मण नहीं हैं क्योंकि इन ग्रन्थों में ब्राह्मणों के पूरे गुण नहीं मिलते । प्रामाणिक-ब्राह्मण केवल चार हैं । ऋग्वेद सम्बन्धी ऐतरेय ब्राह्मण, यजुर्वेद सम्बन्धी शतपथ-ब्राह्मण, सामवेद सम्बन्धी साम-ब्राह्मण तथा अथर्ववेद सम्बन्धी गोपथ-ब्राह्मण ॥

किसी २ का जो यह कथन है कि ऐतरेय-ब्राह्मण के कर्त्ता इत्तरा के पुत्र केवल महिदास ऐतरेय हैं, शतपथ के बनाने वाले केवल याज्ञवल्क्य ऋषि हैं, और इसी प्रकार साम-ब्राह्मण तथा गोपथ-ब्राह्मण के बनाने वाले भी एक एक ही ऋषि हैं वह प्रमाणों से पृष्ट नहीं होता । वास्तव में ब्राह्मणों के बनाने वाले केवल चार ही नहीं प्रत्युत अनेक ऋषि हैं । और सम्भव है कि इन के किन्हीं २ भागों के बनने में भिन्न भिन्न समय भी लगे हों तथा पीछे से भी इन में कुछ प्रक्षेप किया गया हो ।

इन ब्राह्मणों के विषय में योरोपीय विद्वानों की पहले सम्मति थी कि इन को बने ३५०० पैंतीससौ वर्षों से अधिक व्यतीत नहीं हुए परन्तु इस विषय में क्रमशः ज्यों २ अधिकतर अन्वेषण होता गया त्यों त्यों उक्त विद्वानों की सम्मति बदलती गई और ब्राह्मण ग्रन्थों के भीतर ही जो ज्योतिष सम्बन्धी बातें लिखी हैं उन से अब निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक भाग कम से कम १२००० बारह सहस्र वर्ष पूर्व के बने हुए हैं । हमारा विश्वास है कि ब्राह्मणों की जितनी आलोचना होगी उतने ही वे अधिकतर प्राचीन सिद्ध होते जायेंगे ।

अनादि वेदों के प्रकाश के पश्चात् संस्कृत-साहित्य में क्रमशः कौन २ से और कितने ग्रन्थ बने इस का यद्यपि ठीक २ निर्णय होना अब कठिन है तदपि हम इतना अनुमान कर सकते हैं कि वर्तमान काल में संस्कृत-साहित्य में जितने ग्रन्थ मिलते हैं उन सब में प्रायः ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ-ब्राह्मण विशेष प्राचीन हैं परन्तु शतपथ-ब्राह्मण में जो यह लिखा है “ यत्किञ्चिन्मनुरवदत् तद् भेषजम्-भेषजतायाः ” अर्थात् जो कुछ मनु कहते हैं वह औषधियों की भी औषधि है इस से बोध होता है कि मनु की शिक्षा इन ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण के पूर्व भी वर्तमान थी । साम-ब्राह्मण के छान्दोग्य-भाग, प्रपाठक ३, खण्ड ११, प्रवाक् ४ से भी ज्ञात होता है कि इन ब्राह्मण-ग्रन्थों से पूर्व ब्रह्मा, प्रजापति तथा मन्वादि की शिक्षाएं फैल रही थीं । ब्राह्मणों के समय में भी विशेष २ ऋषि तथा उन के शिष्यों

के द्वारा वैदिक-मन्त्रों के किए कतिपय व्याख्यानों (जिन्हें वेद की शाखाएं कहते थे) से वैदिक-धर्म का प्रचार हो रहा था ।

गोपथ-ब्राह्मण पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक में जहां ओङ्कार के विषय में छत्तीस ३६ प्रश्न हैं वहां अन्यान्य प्रश्नों के साथ यह भी पूछा गया है “किं वै व्याकरणम् (इस “ओ३म्” के विषय में व्याकरण क्या कहता है ?), शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति? (शिक्षक लोग इस का उच्चारण किस प्रकार करते हैं ?) किं छन्दः? (इस विषय में छन्द का मत क्या है?), किं ज्योतिषम् ज्योतिष का मत इस विषय में क्या है?), किं निरुक्तं ? (निरुक्त का मत इस विषय में क्या है ?) । इन्हीं प्रश्नों के साथ कल्प-विषयक भी प्रश्न है । इन प्रश्नों का सविस्तर उत्तर देते हुए व्याकरण के मतानुसार बतलाया है कि “ओ३म्” शब्द “आप्लृ” धातु अथवा “अव” धातु से बना है और आगे चल कर लिखा है कि “ओ३म्” अव्यय भी है और अव्यय किसे कहते हैं इस के लिये निम्नलिखित श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया है:—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु
वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्यति तदव्ययम् ।

अर्थात् जो तीनों लिङ्ग, सब विभक्तियों तथा सब वचनों में भी परिवर्तित नहीं होता उसे “अव्यय” कहते हैं ।

इन सब के देखने से ज्ञात होता है कि गोपथ-ब्राह्मण के समय से पूर्व कोई संस्कृत-व्याकरण श्लोक-बद्ध भी था तथा वेदों के शेष पांच अङ्ग शिक्षा, कल्प, निरुक्त छन्द और ज्योतिष भी वर्तमान थे । सम-ब्राह्मण के छान्दोग्य-भाग प्रपाठक ७, खण्ड १, प्रवाक २ के पढ़ने से जहां महर्षि सनतकुमार और नारद का सम्वाद है यह भी पता लगता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से पूर्व अनेक-प्रकार की विद्याएं पढ़ाई जाती थीं । वहां सनतकुमार के पूछने पर नारद ने बतलाया है कि उन्होंने ने ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा निम्नलिखित विद्याएं भी पढ़ी है:—

“इतिहास, पुराण” (History)

“वेदानां वेदम् ” अर्थात् वेदों के अर्थ जिन विद्याओं से जाने जाय यथा व्याकरण, निरुक्तादि (Grammar & philology &c.)

“ पित्र्यं ” पितरों की सेवा सुश्रूषा द्वारा प्रसन्न रखने की विद्या (Anthropology)

“राशिम्” गणित-विद्या, मैथेमैटिक्स (Mathematics)

“दैवम्” उत्पात-विद्या यथा भूकम्प, जलप्लावन, विद्युत्कोप, वायु कोप फिज़ि-कल-जियाग्रफी (Physical Geography)

“निधिम्” खानों की विद्या, (Minerology)

“वाको वाक्यम्” तर्क शास्त्र, लाजिक (Logic)

“एकायनम्” नीति-विद्या, Ethics)

“देवविद्याम्” ठीक २ नहीं कहा जा सकता कि यहां देव शब्द का क्या अ-भिप्राय है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में जो आठ वजु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, बिजली-और हवन यज्ञ को तेर्नास देव माना है यदि उन की व्याख्या देव-विद्या में हो तो निस्तन्देह यह विद्या बहुत बड़ी होगी जिस के अन्तर्गत सम्पूर्ण तत्व-विद्या यथा रसा-यन, शिखादि सर्वा होंगे और साथ ही मैट्र वा तत्व से भिन्न चेतन-जीव की भी व्याख्या होगी (physical science)

“ब्रह्मविद्याम्”—जिस में ब्रह्म की व्याख्या हो । (Brahma vidya)

“भूतविद्याम्”—प्राणियों की विद्या अर्थात् प्राणियों के प्रकार वर्णन तथा उनकी रचनादि (Zoology, Anatomy etc.)

“क्षत्रविद्याम्”—धनुर्विद्या तथा राजशासन विद्या (Military science & Art of Government.)

“नक्षत्रविद्याम्”—ज्योतिष स्ट्रानामी (Astronomy)

“सर्पदेवजनविद्याम्”—का तात्पर्य ठीक २ ज्ञात नहीं होता परन्तु सम्भव है कि इस में सर्पों के विष दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन हो । (Science treating of venomous reptiles etc.)

यद्यपि ऊपर गोपथ के प्रमाण से हम ने बतलाया है कि गोपथ के निर्माण के पूर्व भी निरुक्त वर्तमान था परन्तु इस से यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि महर्षि यास्क का वर्तमान वैदिक-कोष अर्थात् निरुक्त ब्राह्मणों के पहले था, क्योंकि महर्षि यास्क अपने निरुक्त के अध्याय ९ में लिखते हैं “इत्यपि निगमो भवति” इतना निगम अर्थात् वेद है तथा “इति ब्राह्मणम्” अर्थात् इतना ब्राह्मण है । जब कि महर्षि यास्क अपने ग्रन्थ में ब्राह्मणों का वर्णन करते हैं तो यास्कीय-निरुक्त ब्राह्मणों से पूर्व का निर्मित सिद्ध नहीं हो सकता और इसी प्रकार श्रौत-सूत्र और गृह्य-सूत्र

भी ब्राह्मणों से पूर्व के नहीं हैं क्योंकि सूत्र-ग्रन्थों में ब्राह्मणों के विषय में लेख आते हैं यथा “ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी रिति” अर्थात् ब्राह्मणों के नाम इतिहास, पुराण कल्प, गाथा और नाराशंसी भी हैं । यास्क्रीय निरुक्त में ब्राह्मणों के प्रमाणों के अतिरिक्त याज्ञिक और गाथकों के वचन भी आते हैं परन्तु याज्ञिक और गाथकों के ग्रन्थ कौन २ से थे इस का अब पता नहीं चलता यास्क्रीय निरुक्त में वर्तमान-श्रौत तथा गृह्य-सूत्रों का प्रमाण नहीं आता इस से अनुमान होता है कि वर्तमान श्रौत तथा गृह्य-सूत्र यास्क्रीय निरुक्त के पीछे बने हैं परन्तु वर्तमान षड्दर्शन सूत्र कब बने इस का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है । महर्षि कपिल का सांख्य तो अति प्राचीन है । वैशेषिककार कणाद महर्षि भी बहुत पुराने हैं । महर्षि गौतम का न्याय सूत्र वात्स्यायन ऋषि के पूर्व था । महर्षि पतञ्जलि का योगदर्शन महर्षि व्यास के समय अर्थात् महाभारत-युद्ध के समय से (जिसे हम आगे चलकर सिद्ध करेंगे कि प्रायः १००० पांच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था) पहले बना था क्योंकि उस पर महर्षि व्यास का भाष्य है । उत्तर-मीमांसा (वेदान्तमूत्र) के कर्ता महर्षि व्यास तथा पूर्व मीमांसा के कर्ता महर्षि जैमिनि समकालीन थे । पूर्व कथित प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वेदों के अङ्ग तथा उपाङ्ग उपवेद तथा अन्यान्य विद्याएं बहुत प्राचीन काल से चली आती हैं परन्तु उन का अति-प्राचीन रूप अब प्रायः दृष्टि गोचर नहीं होता वह सब विद्याएं अब प्रायः परिवर्तित शब्दों में वर्णित दिखाई देती हैं । कतिपय विद्याएं (यथा धनुर्वेद, शिल्प वेदादि) तो अब नाम मात्र रह गई हैं । अंगिरा, और भारद्वाज की शस्त्रास्त्र-विद्या अब कहीं भी नहीं मिलती । विश्वकर्मा, त्वष्टा, देवज्ञ तथा “मय” कृत शिल्प-शास्त्र का कहीं भी पता नहीं है । तात्पर्य यह है कि अनेक घोर विप्लवों ने विद्या सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों को विनष्ट कर दिया है मानों संसार के शुभ चिन्तक सैकड़ों ऋषियों के सैकड़ों वर्षों के परिश्रमों से बने सहस्रों ग्रन्थ छार हो गए हैं, शोक ! *

अब हम इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों के समय के इतिहास के पीछे सूत्रों के समय का इतिहास लिखेंगे तदनन्तर क्रमशः अन्यान्य समयों के इतिहास लिखे जायेंगे ।

* तबकाले नासरी में लिखा है कि कुतुबुद्दीन ऐबक पादशाह के ज़माने में जब शहर बिहार फतह हुआ तो एक लाख के करीब तो सिर्फ ब्राह्मण ही कतल किए गये थे और हिन्दुओं का एक कदीमी कुतुबक़ाना जिस में बहुत पुरानी २ किताबें मौजूद थीं ज दिया गया ।

अब विचारना चाहिये कि ब्राह्मणों में किन २ विषयों का वर्णन है । ब्राह्मणों में सम्वाद रूप से जीवों को सद्गति देने वाली ब्रह्म-विद्यादि का वर्णन है यथा महर्षि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का सम्वाद । वहाँ महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि हे मैत्रेयी ! “य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् आत्मनोन्तरोयमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः” (शतपथ-ब्राह्मण) जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है जिस को मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है, जीवात्मा से भिन्न रह कर जीव के पाप पुण्यों का साक्षात् हो कर उन के फल जीवों को देकर नियम में रखता है, वहाँ अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्गामी आत्मा है अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है उस को तू जान । इस प्रकार के सम्वाद गाथा नाम से प्रसिद्ध हैं । ब्राह्मणों में इतिहास हैं यथा देवासुरसंग्रामादि का वर्णन । ब्राह्मणों में जगत की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का वर्णन है जिसे पुराण कहते हैं । ब्राह्मणों में अनेक वेद-ग्रन्थों के अर्थ लिखे हैं, अनेक द्रव्यों के गुणों का वर्णन है जिसे कल्प कहते हैं । ब्राह्मणों में यज्ञों का विस्तार पूर्वक वर्णन है । गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि अग्न्याधेय, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणावन्त, तथा सहस्रदक्षिणा नामक यज्ञ क्रमशः किए जाते हैं, “स य एवमेतान् यज्ञ क्रमान्वेद यजेन स आत्मा स लोको भूत्वा देवानप्येति” (गोपथ पूर्व भाग, प्रपाठक ९) जो कोई क्रमशः कहे हुए इन यज्ञों की विधी को जानता है वह पुरुष यज्ञ द्वारा सुप्रसिद्ध होता हुआ दिव्य गुणों को प्राप्त हो जाता है । वेदों में जिन धर्मों का उपदेश है तथा जिन पदार्थों का वर्णन है उन को जान कर कौन २ मनुष्य उत्तम बना तथा धर्म विरुद्ध चल कर वा पदार्थ विज्ञान रहित होकर कौन २ दुखी हुआ ब्राह्मणों के इस वर्णन को नाराशंसी कहते हैं । इसी नाराशंसी में कतिपय मनुष्यों की संक्षिप्त जीवनी भी है ।

अनेक विद्वानों का मत है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ और आरण्यक-ग्रन्थ भिन्न २ हैं परन्तु बहुतां की सम्मति यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भागों को ही आरण्यक कहते हैं, यथा शतपथ-ब्राह्मण के अन्त में बृहदारण्यक रक्खा हुआ है ।

जितनी प्रामाणिक उपनिषदें हैं उन में से ईशोपनिषद तो यजुर्वेद का चालिसवां

अध्याय है । शेष उपनिषदों में से कतिपय उपनिषद् तो आरण्यकों से निकली हैं और कतिपय वेदों की जो ११२७) ग्यारहसौ सत्ताईस शाखाएं प्रचरित थीं उन में से निकली हुई हैं ।

प्रामाणिक उपनिषद् दश हैं जिन के नाम हैं “ईश, केन कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक । ”

इन में से (१) “ईश वा ईशावास्य वा वाजसनेय संहितोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है । (२) केन वा तलवकारोपनिषद् सामवेद की किसी प्राचीन शाखा से निकली है, साम-ब्राह्मण के आरण्यक में यह विद्यमान नहीं है क्यों कि सामब्राह्मण का आरण्यक छान्दोग्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है (३) कठ, कठ-वल्ली वा काठकोपनिषद् यजुर्वेद की कठशाखा से निकली है (४) प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद की किसी प्राचीन शाखा से निकली है क्योंकि अथर्ववेद का जो गोपथ-ब्राह्मण है उस में प्रश्नोपनिषद् वर्तमान नहीं है । हां यदि प्रश्नोपनिषद् गोपथ का आरण्यक सिद्ध हो जाय और गोपथ से सदा पृथक् वर्तमान मानी जाय तो इस अथर्ववेदीय-ब्राह्मण को आरण्यक कह सकेंगे । (५) मुण्डकोपनिषद् भी अथर्ववेद की किसी प्राचीन शाखा से निकली है । गोपथब्राह्मण में इस का भी कहीं पता नहीं है । (६) माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेद की माण्डूक्य शाखा से निकली है । (७) ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय ब्राह्मण का आरण्यक भाग माना जाता है परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के नाम से जो ग्रन्थ छया हुआ है उस में यह आरण्यक भाग नहीं मिलता प्रत्युत यह आरण्यक, उपनिषद् नाम से ही प्रसिद्ध पृथक् मिलता है । (८) तैत्तिरीय उपनिषद् यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से निकली है । (९) छान्दोग्योपनिषद् सामवेद के साम ब्राह्मण (जिस का नाम ताण्ड्य-महाब्राह्मण भी है) का आरण्यक भाग है परन्तु २५ प्रपाठकों का जो ताण्ड्य ब्राह्मण है उस का भाग यह नहीं है प्रत्युत २५ प्रपाठक ताण्ड्य तथा ८ प्रपाठक छान्दोग्य कुल ३३ प्रपाठकों का जो ताण्ड्य महाब्राह्मण है उस का यह अन्तिम भाग है । (१०) बृहदारण्यकोपनिषद् यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का आरण्यक भाग है ।

इन दश उपनिषदों के अतिरिक्त कौषीतकी ब्रह्मणोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा मैत्र्युपनिषद् भी कुछ प्राचीन हैं एवं कुछ २ मान्य की दृष्टि से देखी जाती हैं क्योंकि स्वामी शङ्कराचार्य ने वेदान्तदर्शन के अपने भाष्य में उक्त दश अति प्राचीन तथा उक्त तीन कुछ प्राचीन अर्थात् तेरहों उपनिषदों से प्रमाण उद्धृत किए हैं परन्तु

आप ने भाष्य केवल ईशादि दशोपनिषदों पर ही किया है । महर्षि दयानन्द ने भी अपने सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में मैत्र्युपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रमाण दिए हैं जिस से ज्ञात होता है कि वे दोनों उपनिषदें भी कुछ २ प्रामाणिक हैं परन्तु महर्षि ने भी जहां ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय लिखा है वहां केवल ईशादि दशोपनिषदों को ही प्रमाण-कोटि में रखा है ।

उक्त उपनिषदों के अतिरिक्त ऋग्वेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध आत्म-प्रबोध निर्वाण नादविन्दु आदि, यजुर्वेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध पैङ्गल तुरीय, निरालम्बादि, सामवेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध मैत्रायणी, कुण्डिका आरुणि आदि तथा अथर्ववेदीय उपनिषदों के नाम से प्रसिद्ध दत्तात्रेय, शरन, शाण्डिल्यादि जिन की संख्या लग भग डेढ़सौ होगी साम्प्रदायिक पक्षपातों तथा असम्भव गाथाओं से भरी पड़ी हैं जिस कारण वेद-विरुद्ध नवीन और अमान्य हैं ।



द्वितीय परिच्छेद ।

यज्ञ शब्द के अर्थ ।

पाश्चात्य विद्वानों और उनके भारतीय शिष्यों का सम्भ्रम-यज्ञ के धात्वर्थ—सृष्टि से शिक्षा—भारत के इतिहास और सामाजिक संगठन में यज्ञ शब्द का प्रयोग ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् वीबर लिखते हैं:—

“उनका (ब्राह्मण ग्रन्थों का) उद्देश्य पशुबध सम्बन्धी रीतियों और सूत्रों को रीति के साथ उनके परस्पर सम्बन्धों को जतला कर और उन के सांकेतिक सम्बन्ध बतलाकर, रीति के साथ जोड़ना है.....रीति को बतलाते समय यह बड़े विस्तार रूप से व्याख्या करते हैं.....इन में हम अधिक प्राचीन रीतियां, अधिक प्राचीन लोक कथाएं और अधिक प्राचीन दार्शनिक विचार पाते हैं ।”

पश्चिमीय विद्वान् जब कभी ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में अपनी सम्मति प्रकाशित करते हैं तो यही कहते हैं कि इन में पशुबध का विधान है अर्थात् विशेष २ पशुओं को मारकर उनके शरीर को नाना प्रकार से होम करने की विधि उक्त ग्रन्थों में लिखी हुई है । मैक्समूलर और वीबर का तो यह मत था ही, शोक है कि राजा-राजेन्द्रलाल मित्र तथा महाशय रमेशचन्द्रदत्त तथा अन्यान्य कतिपय भारतवासी भी इस विषय में उक्त यूरोपीय विद्वानों का अनुकरण कर लिख चुके हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ में यज्ञों के निरर्थक विधियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, कहीं तो यह लिखा है कि अमुक देवता को प्रसन्न करने के लिये अमुक पशु को अमुक प्रकार से हनन करके उसका हवन करना चाहिये, कहीं लिखा है कि अमुक इच्छा की पूर्ति के लिए अमुक ऋतु में वेदों के अमुक अध्याय का पाठ कर अमुक इष्ट देवता की आराधना करनी चाहिए इत्यादि ।

यदि भारतवर्ष के प्राचीन और नवीन सब विद्वानों की ब्राह्मणों के विषय में एक ही सम्मति होती और बड़े २ दार्शनिक तथा विज्ञानी भी ब्राह्मण ग्रन्थों को तुच्छ दृष्टि से देखते तो हम भी उक्त ग्रन्थों को वैसा ही मानलेते । परन्तु हम देखते हैं कि भारतवर्ष के बड़े २ ऋषि इन ग्रन्थों को गहरी पूजा की दृष्टि से देख चुके हैं, छः दर्शनों में से एक भीमांसा दर्शन उनकी काठिनाइयों की व्याख्या के लिये लिखा गया, इस युग के सब से अधिक संस्कृत के विद्वान् महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वतः-

प्रमाण वेदों के अनन्तर परतः प्रमाण जितने ग्रन्थ हैं उन में इन्हें प्रथम कोटि का बतला गए, आप लिखते हैं कि “धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब २जिस २के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए तब तब परमात्मा ने अमीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाए, जब बड़ुतों के आत्मा में वेदार्थ प्रकाश हुआ तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाए उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उस का व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ । अतः आवश्यक प्रतीत होता है कि हम दोनों पक्षों की परीक्षा करके निश्चय करें कि इन में से कौनसा पक्ष सत्य है । हमारा विश्वास है कि यदि यह निर्णय हो जावे कि “ यज्ञ ” शब्द के क्या अर्थ, हैं तो पुनः उक्त दोनों पक्षों के सत्यासत्य के समझने में बड़ी सुविधा हो जायगी ।

* यज्ञ—बौद्धायन गृह्य परिभाषा सूत्र (१, १, २०—२३) में लिखा है:—

स चतुर्धा ज्ञेय उपास्यश्च—स्वाध्याय-यज्ञो जपयज्ञः कर्मयज्ञो मानसश्चेति । तेषां परस्पराद्दशगुणोत्तरो वीर्येण । ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वनस्थ-यतीनाम् विशेषेण प्रत्येकशः । सर्व एवैते गृहस्थस्याप्रतिषिद्धाः क्रियात्मकत्वात् ।

अर्थात् वह (यज्ञ) चार प्रकार का जानने तथा सेवन करने योग्य है । (वे चार प्रकार ये हैं) (१) स्वाध्याय-यज्ञ (अर्थात् अध्ययन, अध्यापनरूप यज्ञ) (२) जपयज्ञ (अर्थात् पढ़े पढ़ाए ग्रन्थों का बारम्बार पाठ अथवा परमात्मा के नामों का बारम्बार उच्चारण) (३) कर्म-यज्ञ (अर्थात् कर्मकाण्ड सम्बन्धी यज्ञ वा वे सब परोपकार सम्बन्धी कर्म जिन से प्राणियों को लाभ पहुँचे) (४) मानस-यज्ञ (मनवशी-करण, वा योग साधन वा समाधि सम्पादन रूप यज्ञ) । इन (यज्ञों) में से प्रत्येक षष्ठेण प्रत्येक पहले से दश गुण बलवान् है । ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वान-प्रस्थ तथा संन्यासी के लिए प्रत्येक लाभकारी हैं । ये सब के सब निश्चय कर गृहस्थ के लिए अवर्जित हैं (अर्थात् इन में से प्रत्येक, गृहस्थ के करने योग्य हैं) यज्ञ सम्बन्धी इस वर्णन से तो यह सिद्ध नहीं होता कि यज्ञ उसे कहते हैं जिस में पशुओं के मांस से हवन किया जावे । क्योंकि गृहस्थ क्रियात्मक अर्थात् कर्मशूर है ।

* “यज्ञ” विषयक विशेष लेख इस भाग के वृत्त परिच्छेद में इस प्रश्न के उत्तर में कि “क्या प्राचीन धार्मिक गोमांस भक्षण थे ?” देखिये, तथा नरमेध, चरवमेध यज्ञ प्रकरण में भी देखिए ।

“यज्ञ” शब्द “ यज ” धातु से निकला है जिस के विषय में महर्षि पाणिनि अपने धातु पाठ में लिखते हैं “ यज देवपूजा संगतिकरण, दानेषु ” अर्थात् यज धातु देव पूजा, संगतिकरण और दान अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

“ देवपूजा ” का अर्थ है देव का सत्कार करना अथवा देव से यथायोग्य उपकार लेना ।

“ संगतिकरण ” का अर्थ है एकत्रित करना वा सम्मेलन करना ।

“ दान ” का अर्थ है किसी वस्तु का देना अथवा दूसरों के उपयोग के लिये उपास्थित करना ।

अतः “ यज्ञ ” शब्द का अर्थ हुआ “संगति और दान से देव पूजा करनी”

अब यदि यह स्पष्ट हो जाय कि “ देव ” शब्द के क्या अर्थ हैं तो “यज्ञ” का अभिप्राय भी भली भाँति समझ में आ जायगा ।

“ देव ” शब्द दिवु धातु से निकला है । जिस के विषय में महर्षि पाणिनि अपने धातु पाठ में लिखते हैं “ दिवु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न कान्ति, गतिषु” अर्थात् दिवु (दिव) धातु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

क्रीडादि के अर्थ निम्नलिखित हैं:—

(१) क्रीडा—खेलना ।

(२) विजिगीषा—विजय की इच्छा ।

(३) व्यवहार—सामाजिक बर्ताव ।

(४) द्युति—प्रकाश ।

(५) स्तुति—प्रशंसा ।

(६) मोद—आनन्द ।

(७) मद—अपनी सत्ता का गर्व ।

(८) स्वप्न—स्थूल गति वा बाह्य गति के अभाव में अन्तः विचार व अन्तः-कार्य ।

(९) कान्ति—शोभा ।

(१०) गति—ज्ञान, गमन, प्राप्ति ।

अतः यज्ञ का भावार्थ हुआ मनुष्यों की सङ्गति वा शक्तियों के सम्मेलन से

सामाजिक आनन्द वृद्धि के लिए यत्न, प्राकृतिक शक्तियों तथा उन शत्रुओं पर जो आत्मा को गिराने वाले अर्थात् उन्हें नीच गति को लेजाने वाले हैं उन पर विजय प्राप्ति का उद्योग, परस्पर सुव्यवहार, प्रकाश की विस्तृति, प्रशंसनीय कार्यों की सिद्धि के लिए व्यवसाय, सच्चे हर्षों की प्राप्ति, आत्मगौरव वा स्वाभिमान की रक्षा का यत्न, स्वप्न वा अन्तः विचार द्वारा कार्यों का विवेचन, सब प्रकार की शोभाएं और सब प्रकार के जानों की प्राप्ति के लिए मिल कर (गमन करना) काम करना अर्थात् प्रत्येक प्रकार की उन्नति के लिए सामूहिक शक्तियों और द्रव्यों का व्यय करना ।

इस से सिद्ध हुआ कि जो पुरुष प्राणीमात्र के कल्याण के लिए अथवा मनुष्य-मात्र के उपकार के लिए अथवा अपने देश में बसने वाले मनुष्यसमाजों की उन्नति के लिए कोई महान्कार्य करता है जिस से सुखों और शोभाओं की वृद्धि होती है वह पुरुष यज्ञकर्ता कहला सकता है ।

अब षड्च महायज्ञों पर यदि विचार किया जाय तो उन में भी कहीं पशुबध का पता नहीं चलता ।

षड्च महायज्ञों के ये नाम हैं, ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ वा होम, पितृयज्ञ वा तर्पण, भूतयज्ञ वा बलिदान, अतिथि यज्ञ वा नृत्यज्ञ । ब्रह्मयज्ञ इस लिए किया जाता है कि जीवात्मा, शक्तियों के भण्डार परमात्मा के संयोग से अपने भीतर, विशेष शक्तियों का सञ्चार करके जगत् की सेवा के लिए अधिकतर शक्तिमान् हो जावे । वैसे तो ब्रह्मचारी सद्गृहस्थ और वानप्रस्थ सभी प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ करके परमात्मा से यथा-सम्भव बल धारण करने का यत्न करते हैं परन्तु परमात्मा के योग से अन्य सभी आश्रमियों से अधिकतर बल धारण करने वाला संन्यासी होता है इसी कारण वह सब से बड़ा ब्रह्मज्ञानी कहलाता और जगत् का सब से अधिक उपकार भी कर सकता है। ऋग्वेद में संन्यासी को “दिशां पतिः” शब्द से इस कारण सम्बोधित किया है कि वह सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देकर उन का पालन करता है, संन्यासी का कोई एक विशेष देश नहीं प्रत्युत सारी पृथिवी उस का देश है, पृथिवी के मनुष्यमात्र के ही लिए नहीं प्रत्युत प्राणीमात्र के कल्याण के लिए वह यत्न करता है. यदि प्रत्येक मनुष्य जाति (नेशन) के स्वदेश-भक्त (पेट्रियट्स) अपने अपने देशों के शुभाचिन्तक हैं तो संन्यासी सब देशों के पेट्रियटों के बीच प्रीति संस्थापन करने वाला महापुरुष है, वह किसी देश वा मनुष्य जाति का पक्ष न करता

हुआ निर्भयता से सब को उपदेश करता है मानो मनुष्य जाति के पारस्परिक नियम (इंटर नेशनल ला) का व्यवस्थापक * सन्यासी है । अतः सब से बड़ा यज्ञ करने वाला भी वही है परन्तु उस के लिए लिखा है कि वह “अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ” अर्थात् सब प्राणियों के साथ निर्वैर वर्तता हुआ मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे + अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्मयज्ञ में भी पशु बध का विधान नहीं है ।

* जिस समय इंग्लिस्तान के प्रसिद्ध विद्वान् हर्बर्ट स्पेंसर जीवित थे उस समय जापान के राजनीतिज्ञ “ मार्कु ईस इटो ” ने उनसे प्रार्थना की थी कि वह जापान की रक्षा तथा वृद्धि के विषय में उन्हें सल्लोपदेश दें । हर्बर्ट स्पेंसर ने जापान की रक्षा तथा वृद्धि के लिए अनेक उपदेश दिए यह उपदेश लिख कर पत्र के अन्त में सूचित कर दिया था कि मेरा यह उपदेश मेरे जीवन काल तक छपने न देना । इस में सन्देह नहीं कि हर्बर्ट-स्पेंसर ने अपनी निष्पक्ष सम्मति देकर एक संन्यासी के कर्तव्यों का पालन करने का यत्न किया था परन्तु वह संन्यासी के धर्म को पूर्ण नहीं कर सका । ब्राह्मण की पदवी संन्यासी से छोटी है परन्तु ब्राह्मण के विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि “सम्मानाद् ब्राह्मणो जिन्यमुद्विजेत विषादिव, अमृतस्वैव चाकांक्षद्विमानस्य सर्वदा” अर्थात् ब्राह्मण धर्म करता हुआ सम्मान से बिष की तरह डरे और अपमान की अमृत की तरह आकांक्षा करे । जिस तरह हर्बर्ट स्पेंसर ने एक सत्य बात बतलाने हुए योरोप वासियों के द्वारा होने वाले अपमान से भयभीत होकर स्वलेख तो स्वजीवन काल में छपने न दिया वैसे काम एक सच्चा संन्यासी नहीं करता, प्रदुष्ट वह अपने प्राणों पर भी संकट उपस्थित होते हुए मर्त्य को छिपाने का यत्न नहीं करता । इसी कारण पक्षपात रहित संन्यासी मनुष्य मात्र का मान्यास्पद होता है ।

+ संन्यासी पक्षपात रहित और सब का कल्याण कर्ता है इस विषय के कतिपय प्रमाण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

श्रय्यणावति सोमभिन्द्रः पिवतु वृत्रहा । बलन्दधान आत्मानि करिष्यन्
वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परिस्रव । ऋग्वेद मण्डल ९, सूक्त ११३, मन्त्र १ ।

मैं ईश्वर संन्यास लेने हारे तुम मनुष्य को उपदेश करता हूँ कि जैसे मेघ का नाश करने हारा सूर्य (सूर्य-किरण) हवनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित रस को पीता है वैसे संन्यास लेने वाला पुरुष उत्तम मूल फलों के रस को पीवे और अपने आत्मा में बड़े सामर्थ्य को कर्तुंगा ऐसी इच्छा करता हुआ दिव्य-बल को धारण करता हुआ परमैश्वर्य के लिए चन्द्रमा के तुल्य सब को आनन्द करने हारे पूर्ण विद्वान् हूँ संन्यास लेके सब पर सत्वोपदेश की वृष्टि कर ।

आपवस्व दिशांपत आर्जीः ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा
सुत इन्द्रायेन्दो परिस्रव । ऋग्वेद, मण्डल ९, सू० ११३, मं० २ ।

देवयज्ञ—देवयज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र है । अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि (जल), पृथिव्यादि अनेक जड़ देवताओं (दिव्यगुणविशिष्ट पदार्थों) की शुद्धि होती है तथा शुद्ध वाय्वादि से विद्वानों वा चेतन देवताओं को भी लाभ पहुंचता है इस कारण अग्निहोत्र को देवयज्ञ कहते हैं । अग्निहोत्र से भारी परोपकार होता है और अग्निहोत्र करने वाले को समझना पड़ता है कि सर्व के लाभ में ही उस का लाभ है ।

पितृयज्ञ—पितृयज्ञ का अर्थ माता, पिता, पितामहादि अपने पूज्य सम्बन्धी तथा सोमसद, अग्निप्लाता, वहिषद, सोमपाः, हविर्भुज, आज्यपाः, सुकालिन, यमराजादि विद्वज्जन जो पितर नाम से प्रसिद्ध हैं उनकी सेवा शुश्रूषा, तथा श्रद्धापूर्वक अन्न, जलादि से उन को तृप्त करना है । कोई भी मनुष्यजाति उन्नति नहीं कर सकती

हे सौम्यगुण-सम्पन्न ! सत्यसे सबके अन्तःकरण को सौंचने हारे सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करने हारे शमादि गुण युक्त संन्यासिन् ! तू यथार्थ बोलने सत्यभाषण करने से सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और प्राणायाम योगाभ्यास से सरलता से निष्पन्न होता हुआ तू अपने शरीर इन्द्रिय (मन बुद्धि को पवित्र कर परमेश्वर्य्य युक्त परमात्मा के लिए सब ओर से गमन कर ।)

ऋतं वदन्तु द्युम्म सत्यं वदन्तसत्य कर्मन् । श्रद्धां वदन्तसोम राजन्धात्रा
सोमपरिष्कृत इन्द्रायेंद्रो परिस्रव । ऋग्वेद, मण्डल ९, सू० ११३, मं० ४ ।

हे सत्य धन और सत्य कीर्ति वाले यतिवर ! पक्षपात छोड़ के यथार्थ बोलता हुआ, हे सत्य वेदोक्त कर्म वाले संन्यासिन् ! सत्य बोलता हुआ सत्य धारण में प्रीति करने को उपदेश करता हुआ सौम्य-गुण सम्पन्न सब ओर से प्रकाश युक्त आत्मा वाले योगेश्वर्य्य युक्त सब को आनन्ददायक संन्यासिन् ! तू सकलविश्व के धारण करने हारे परमात्मा से योगाभ्यास करके शुद्ध होता हुआ योग से उत्पन्न हुए परमेश्वर्य्य की सिद्धि के लिये पुनर्वाच्य कर ।

यत्र ब्रह्मापवमानं छन्दस्यां वाचं वदन् । ग्राव्या सोमे महीयते सोमेनानन्दं
जनयन्निन्द्रायेंद्रो परिस्रव । ऋ० मण्डल ९, सू० ११३, मं० ६ ।

हे स्वतन्त्रता युक्त वाणी को कहते हुए विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से सब के लिए आनन्द को प्रकट करते हुए आनन्दप्रद पवित्रात्मन् ! पवित्र करने हारे संन्यासिन् ! जिस परमेश्वर्य्य युक्त परमात्मा में चारोभिर्दों का जानने द्वारा विद्वान् महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है जैसे मेघ से सब जगत् को चानन्द होता है वैसे तू सब को परमेश्वर्य्य युक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिए सब साधनों को सब प्रकार से प्राप्त करा ।

यदि उस में विद्वान् वैद्य, वृद्ध तथा अन्य माननीय पुरुष पूजित न होते हों एवम् वे निश्चिन्त हो कर अपने देश की दशा के दर्शक तथा उस की उन्नतियों के लिए विचार करने वाले न बन सके हों ।

भूतयज्ञ—भूतयज्ञ का अर्थ पतित, श्वपचादि मनुष्य, कुष्ठी आदि पापरो-गियों, मनुष्यों के आश्रित श्वानादि पशु तथा कौए, कृमि आदि छोटे जीवों के लिए बलि वा भोजन देना है । इस कर्म से मनुष्य दुखियों तथा निस्सहायों के साथ सहानुभूति प्रकट करता और क्षुद्र जीवों पर दया करता है । निस्सहाय लोग इस भूतयज्ञ के कारण ही प्राचीन आर्य्यावर्त में ऐश्वर्यवानों का जीवन कठिन बनाने के लिए यत्न नहीं करते थे जिस प्रकार कि आज कल योरोप के निस्सहाय लोग वहां के श्रीमानों का दम नाक में कर रहे हैं । योरोप वासी यदि भूतयज्ञ का अनुष्ठान करने लगे तो उन के देशों से भी असन्तोष का एक बड़ा भाग दूर हो सकता है ।

अतिथियज्ञ—अतिथि उन ज्ञानी महात्माओं (विशेष कर परिव्राजका-चार्यों) का नाम है जो परोपकारार्थ उपदेश करते हुए बिना किसी नियत तिथि के अकस्मात् गृहीस्थियों के स्थान पर पहुंच जाते हैं, इन की भली भांति सेवा शुश्रूषा करनी अतिथियज्ञ कहलाता है । यदि धर्मात्मा संन्यासियों की आर्जाविका का प्र-बन्ध गृहस्थ समाज न करे जिस कारण उन्हें अपने पोषणादि के लिए भी श्रम क-रना पड़े तो वह निश्चिन्त और निर्भय हो कर उपदेश नहीं कर सकेंगे जिस का परि-णाम यह होगा कि मनुष्य जाति के अन्तर स्वार्थ, आलस्य, प्रमाद, दुष्टाचारादि दुर्गुण फैल जावेंगे और वह नाश को प्राप्त हो जावेगी अतः यह यज्ञ भी परोपकारार्थ ही किया जाता है । ये तो हुए संक्षेपतः दैनिकयज्ञ ।

प्राचीन शास्त्रों में दर्श पौर्णमास जो पाक्षिक यज्ञ हैं वे भी अमावस्या और पू-र्णिमा को किए जाते हैं क्योंकि पक्ष २ के अनन्तर सृष्टि की शोभा बदलती रहती है, इन शोभाओं से आनन्द उठाने तथा इन शोभाओं के दाता सृष्टिकर्ता को धन्यवाद देने के लिए ही ये पाक्षिकयज्ञ किए जाते हैं ।

इसी प्रकार ऋतुओं के अन्त अथवा आरम्भ पर जो आग्रयण तथा चातुर्मास्यादि यज्ञ किए जाते हैं वे भी इसी निमित्त किए जाते हैं कि सृष्टि की अवस्था में जो परिवर्तन हुआ है उस की शोभा का आनन्द मिल कर उठाया जा सके और प्रकृति के परिवर्तन के साथ मनुष्य के भोजन वस्त्रादि में भी जिस प्रकार के परिवर्तनों की

आवश्यकता हो वे परिवर्तन भी किए जावें । यही तो कारण है कि विशेष ऋतुओं के यज्ञों के लिए विशेष प्रकार के सामग्री का विधान है ।

अब यदि राजसूय, वाजपेय, अश्वमेधादि बृहद्दयज्ञों की ओर विचार किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि ये यज्ञ भी परोपकारार्थ ही किए जाते थे ।

राजसूय-यज्ञ, यज्ञकर्त्ता राजा तथा उस की प्रजा की शक्तियों का प्रदर्शन था * यज्ञ करते समय राजा को उपदेश किया जाता था कि राज भी एक यज्ञ है अतः राजा को चाहिए कि स्वार्थ छोड़ कर निर्बलों की क्रूर बलवानों से रक्षा करे और प्रजा की वृद्धि एवं उस के उत्थार के लिए सदा यत्न करता रहे । महाराज युधिष्ठिर जब भारतवर्ष के महाराजाधिगज बने थे तो उन्होंने भी धार्मिकशक्ति के प्रताप की विस्तृति के लिए एक महान् यज्ञ किया था जिस में देश देशान्तर के नृपतिगण सम्मिलित हुए थे मानों इस यज्ञ में इस विचार की महान्ता प्रकट की गई थी कि सार्वभौम नियमों के अनुसार यदि सार्वभौम-शासन हो तो उस से मनुष्य मात्र को लाभ पहुंचता है और छोटे २ राजाओं को परस्पर के झगड़ों के कारण प्रजा के नाश का कारण नहीं बनना पड़ता ।

सारांश यह है कि सर्वसाधारण के लाभ के लिए जो कुछ कार्य प्राचीन आर्यावर्त में किए जाते थे वे सब के सब यज्ञ कहलाते थे ।

मनुस्मृति में एक श्लोक आया है जिस का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण अभिमान त्याग से, क्षत्रिय यज्ञ से और वैश्य दान से शुद्ध होता है । यह श्लोक देश-प्रबन्ध की सौन्दर्यता बड़ी उत्तमता के साथ दर्शाता है । इस श्लोक से पता लगता है कि प्राचीनकाल में वैश्य लोग धन कमा कर (जो कुछ उन की वाणिज्यादि की आवश्यकताओं से अधिक होता था उसे) प्रभुमण्डलादि को देते थे, ब्राह्मणलोग निष्पक्षता से उपदेश करते थे और क्षत्रिय लोग भिन्न २ यज्ञों द्वारा प्रजा के उत्थार के लिए नानाप्रकार के कार्य किया करते थे ।

* प्रसिद्ध देहली दरबार भी विविध शक्तियों का प्रदर्शन ही है । यदि देहली दरबार न हो तो भी हमारे पूज्य सम्नाट अधिराज ही कहलावें परन्तु दरबार इसलिए किया जाता है कि बड़े समारोह के साथ राज्य की शक्ति की पूर्ण प्रदर्शनी हो जावे ताकि प्रजा और शत्रुओं की कल्पना-शक्ति इतनी जगड़ जावे कि राज-विद्रोह और आघात का कोई साहस ही न कर सके ।

ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है “यज्ञोपि, तस्यै जनतायै कल्पति” अर्थात् “जनता” यानी मनुष्यों के समूहों के (सुख के) लिए ही यज्ञ होता है ।

प्राचीन काल में विवाह को भी यज्ञ कहते थे कारण यह था कि प्राचीन आर्य्य विवाह विषयभोग के लिए नहीं करते थे प्रत्युत इस लिए कि उन की सन्तान तेजस्वी उत्पन्न हो और वह क्रमशः वर्चस्वी बन कर संसार का उपकार करें । विवाह के समय जो प्रतिज्ञा-मन्त्र पढ़े जाते हैं उन से स्पष्ट विदित होता है कि जो कोई उत्तम सन्तान उत्पन्न न कर सके उसे विवाह नहीं करना चाहिये ।

उपनिषदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक प्रकार के यज्ञ बतलाए गए हैं और उन में कई स्थलों में लिखा है कि इन यज्ञों के कर्त्ता देवता होते हैं । देवता शब्द का अर्थ तो “विद्वाथ्सोहि देवाः” विद्वान् है ही परन्तु इस से दिव्यगुण-विशिष्ट यावत् पदार्थ हैं यथा वायु, वृष्टि आदि उन सब का भी अर्थ-बोध होता है । प्रकरणानुसार इस देवता शब्द का अर्थ जहां जैसा अपेक्षित हो वहां वैसा लगाना चाहिए ॥

यज्ञ का सम्मिलित व्यवहार विषय में हमें ईश्वर की सृष्टि से भी कई प्रकार की शिक्षाएं मिलती हैं । सम्मिलित वा सामाजिक-व्यवहार के लिये दो बातों की बड़ी आवश्यकता है एक स्वार्थ-त्याग और दूसरा मिल के काम करना । यदि ये दो बातें न हों तो सभ्य संसार का काम ही नहीं चल सक्ता यदि प्रत्येक धनी मनुष्य कहे कि मैं धनी हूं और मुझे पुलिस की सहायता की आवश्यकता नहीं होगी अतः मैं म्युनिसिपल कर नहीं देता तो सारे सामाजिक प्रबन्ध में गड़बड़ पड़ जाएगा क्योंकि यही बात और करों के विषय में भी कही जा सकती है । यदि प्रत्येक मनुष्य को मृत पशुओं का चर्म लेकर स्वयम् शुद्ध करना पड़े, स्वयम् ही जूता सीना पड़े, स्वयं ही खेती बोकर, नाज को स्वयं ही काट पीस कर रोटी बनानी पड़े, स्वयम् ही कपास का बीज बोकर उस के वृक्ष से कपास लेकर तथा उसे कात कर कपड़ा बनाना पड़े और इसी प्रकार अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये स्वयं ही सब काम करने पड़ें तो प्रत्येक मनुष्य का जीवन क्लेशमय हो जावे और सभ्यता का विस्तार ही जगत में न हो । इसी कारण सभ्यता की विस्तृति के लिये मिलजुल कर काम करना पड़ता है । एक मनुष्य जूते अच्छे बना सकता है तो वह जूते ही बनाता है, दूसरा कपड़ा अच्छा सी सकता है तो वह कपड़े ही सीया करता है, तीसरा खेती अच्छी कर सकता है तो वह खेती ही करता है, अच्छे

वर्तन बनाने वाला वर्तन ही बनाता है । इस रीति से समाज के सारे कार्य होते जाते हैं । परमात्मा की सृष्टि में भी यही नियम कार्य करता हुआ दिखाई देता है।

उदाहरण के लिये समझिये कि वृक्ष एक यज्ञ का नाम है इस यज्ञ फल से मनुष्यादि प्राणियों को लाभ पहुंचाना अभीष्ट है ॥

इस यज्ञ के आरम्भ में पृथिवी कुण्ड में बीज की आहुति होती है । जिस प्रकार हुतद्रव्य अपने को भस्म कर दूसरों को लाभ पहुंचाता है उसी प्रकार बीज अपने स्वार्थ को परित्याग कर दूसरों के लाभ के लिये अपने को सर्वथा धूलि में मिला देता है परन्तु वरुण (जल) सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, (विद्युत्), तथा मरुत् (पवन) आदि देवता मिल कर उस बीज की रक्षा करते हुए “वृक्षयज्ञ” करने लगते हैं क्रमशः अंकुर उत्पन्न होता है और वह वृक्षाकार हो जाता है और इस में जो फल लगते हैं उस से मनुष्य-समाज तथा पक्षी-समूह के उपकार होते हैं मानों उक्त देवता मिल कर प्राणियों के लिए “वृक्षयज्ञ” कर रहे हैं ॥

उक्त उदाहरण में बतलाया गया कि “वृक्ष यज्ञ” वरुण, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र तथा मरुत् देवता मिलकर कर रहे हैं । इस से यह तात्पर्य नहीं निकलता कि वरुण सूर्यादि जड़-पदार्थ इस यज्ञ में किसी पशु का बध कर रहे हैं अथवा उक्त जड़ पदार्थों की उपासना मनुष्यों को करनी चाहिये ॥

दूसरा उदाहरण लीजिये, आकाशरूप यज्ञ स्थान से सूर्य रूप हवन-कुण्ड जल रहा है जिस प्रकार हवन कुण्ड से निकली हुई सुगन्धि दूर तक फैलती हुई प्राणियों को लाभ पहुंचाया करती है उसी प्रकार सूर्य-कुण्ड से निकलती हुई रश्मियां पृथिव्यादि ग्रहों पर के रहने वाले प्राणियों तथा वनस्पतियों को नाना प्रकार के लाभ पहुंचा रही हैं । यज्ञ कुण्ड के प्रकाश से जिस प्रकार समीपवर्ती अन्धकार दूर होजाता है उसी प्रकार सूर्य के प्रकाश से घोर तिमिर नष्ट हो जाता है, सूर्य की रश्मियां वायु को चलाती, वायु अग्नि को प्रदीप्त करता और अग्नि सब प्राणियों के शरीर धारण का हेतु बन रहा है । मानो परमात्मा सृष्टि-रूप एक यज्ञ कर रहा है जिस से असंख्य प्राणियों का उपकार हो रहा है परमात्मा को “ यज्ञस्य देवम् ” अर्थात् सृष्टि-रूप यज्ञ का प्रकाशक इसी कारण तो कहते हैं ॥

छान्दोग्योपनिषद् में मनुष्य को भी एक यज्ञ बतलाया है । यथा “पुरुषो वाव-यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनम्.....” इत्यादि अर्थात्

पुरुष यानी मनुष्य का सजीव शरीर एक यज्ञ है इस पुरुष के जो पहले २४ चौबीस वर्ष हैं वे प्रातः सवन हैं इत्यादि ।

जिसे इस पुरुष-यज्ञ की व्याख्या देखनी हो वह छान्दोग्य प्रपाठक ३, खण्ड १६ को भली भांति अवलोकन करले ।

यज्ञ का विचार और यज्ञ का शब्द प्राचीन आर्यों की दृष्टि में इतना प्रिय और सुन्दर था कि उन्होंने प्राकृतिक-भूगोल तथा पदार्थ-विद्या के कई सिद्धान्तों को भी यज्ञ के अलङ्कार से वर्णन किया है ।

शोक है कि इन अलङ्कारों के गूढ़ अर्थों को न समझ कर कई विदेशी इतिहास वेत्ताओं ने यह अशुद्ध परिणाम निकाल लिया कि प्राचीन आर्य्य प्रकृति की शक्तियों को ही परमात्मा समझ कर पूजते थे यदि ये लोग शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १४ अध्याय ९ को ध्यान पूर्वक पढ़ते तो इन्हें ज्ञात हो जाता कि प्राचीन आर्य उपास्यदेव किस को मानते थे । वहां स्पष्ट लिखा है कि आठ वसु, एकादश रुद्र द्वादश आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति तैंतीस देव अर्थात् दिव्यगुण विशिष्ट पदार्थ हैं परन्तु इन सब का स्वामी चौतीसवां महादेव परमात्मा है जिस की उपासना करनी चाहिये ।

अतः मानना पड़ेगा कि यज्ञ के अर्थ पशु-बध अथवा निरर्थक विधियों के नहीं हैं, यज्ञ के अर्थ न समझने के कारण ही विदेशी विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की निन्दा की है, यथार्थ में ये ग्रन्थ वैज्ञानिक सिद्धान्तों के भण्डार हैं । इन को यदि श्रद्धा से पढ़ा जाय तो बहुत से नवीन वैज्ञानिकों को भी अपने विज्ञान-शास्त्र की उन्नति में सहायता मिल सकती है तथा वैज्ञानिक ऐतिहासिकों को भी इतिहास सम्बन्धी अनेक प्रकार की शिक्षाएं प्राप्त हो सकती हैं ।

तृतीय परिच्छेद ।

ब्र. ह्यण-ग्रन्थों के समय में शिक्षा की रीति और विद्या का प्रचार ।

शिक्षा की रीति—सर्व साधारण को बिना मूल्य उच्च से उच्च शिक्षा—कौन ? से विषय गुरुकुलों और परिषदों में पढ़ाए जाते थे—ज्योतिष-शास्त्र की अवस्था—क्या आर्यों ने ज्योतिष-शास्त्र चीनियों अथवा बेबिलोनिया के लोगों से सीखा था ? प्रोफेसर बायट और प्रोफेसर वीनर की सम्मति—राजनियम शास्त्र का अवस्था—अङ्कगणित, रेखागणित और बीजगणित की अवस्था—व्याकरण-शास्त्र और भाषा-विज्ञान की अवस्था ।

प्रायः योरोपीय विद्वान् और उन के कतिपय एतद्देशीय अनुयायी कहा करते हैं कि प्राचीन आर्यावर्त में शिक्षा का कोई क्रम विद्यमान नहीं था । वानप्रस्थी लोग ब्रह्मचारियों को अपने आश्रमों में रख लिया करते थे जो उनके पशुओं को चराया करते और समय मिलने पर कुछ उन से पढ़ भी लिया करते थे । ब्रह्मचारी जब एक विषय एक गुरु से पढ़ लेता था तो वह उस गुरु को छोड़ दूसरे गुरु की सेवा में उपस्थित होता था और उसके पशुओं को चराता तथा उस से विद्याग्रहण करने लगता था । इस प्रकार अपनी आयु का बहुतांश समय लगाकर वह ब्रह्मचारी प्रायः दो तीन विषयों का ज्ञाता बन सकता था । उस समय शिक्षा की उन्नत रीतियों का ज्ञान ही किसी को न था और न लोग यह जानते थे कि समय और शक्ति को समुचित रीतियों से किस प्रकार व्यय करना चाहिए । बहुत से विद्यार्थियों को एक स्थान में एकत्रित कर के एक साथ शिक्षा देने से क्या लाभ होता है तथा विद्यार्थी-गण एक साथ पढ़ने के कारण परस्पर के परामर्श, तथा प्रश्नोत्तरादि से एक दूसरे की उन्नति में कितनी सहायता दे सकते हैं अथवा यों कहिये कि वर्तमान युनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) प्रणाली से विद्यार्थियों को कितना लाभ हो सकता है इस विषय को प्राचीनकाल के आर्य नहीं जानते थे ।

परन्तु यह कथन समूलक नहीं है । ब्राह्मण ग्रन्थों की आलोचना यदि भली-भांति की जाय तो पता लगेगा कि तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली बहुत ही उन्नत थी । वृहदारण्यकोपनिषद् (६, २, १,) में लिखा है कि श्वेतकेतु पाञ्चालों की परिषद् में शिक्षा-ग्रहण करने गया था । इन परिषदों का प्रबन्ध किस प्रकार होता

था कदाचित् ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इस का वर्णन साधारण समझ छोड़ दिया परन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में इस का वर्णन पाया जाता है जिस के अवलोकन से स्पष्ट विदित होता है कि आज कल जिन अर्थों में युनिवर्सिटी शब्द का प्रयोग होता है उन अर्थों में तथा उन से कुछ अधिक अर्थों में भी परिषद् शब्द प्रयुक्त होता था । परिषद् उस विश्वविद्यालय (युनिवर्सिटी) का नाम था, जिस में २१ इक्कीस उपाध्याय (प्रोफेसर) पढ़ाते थे । उन परिषदों वा युनिवर्सिटियों का सविस्तर वृत्तान्त हम आगे लिखेंगे । यहां इतना ही वक्तव्य है कि जो ऐतिहासिक यह कहा करते हैं कि परिषदों अर्थात् युनिवर्सिटियों की प्रणाली बौद्धों के समय से चली है वे सर्वथा भ्रम में हैं । यह प्रणाली बहुत प्राचीन है, ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में भी यह प्रथा चल रही थी ।

छान्दोग्योपनिषद् (५, ३, १) और शतपथ ब्राह्मण (११, ६, २) को मिला कर पढ़ा जाय तो पता लगता है कि श्वेतकेतु, सोमशुष्म सात्ययज्ञ और याज्ञवल्क्य, राजा जनक को मिले । राजा जनक ने उन से धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछा जिस का उत्तर याज्ञवल्क्य ने तो कुछ २ दे दिया परन्तु उन के दोनों साथियों ने सर्वथा अशुद्ध उत्तर दिया । फिर श्वेतकेतु पाण्डुओं की परिषद् में गया और वहां भी राजा जैबलिप्रवाहण के प्रश्नों का उत्तर न दे सका ।

इस में सन्देह नहीं कि परिषदों के अतिरिक्त उस समय ऐसे विद्यालय भी थे जिन्हें वानप्रस्थियों ने जङ्गलों में ब्रह्मचारियों की शिक्षा के लिये खाल रखा था । ये ब्रह्मचारी अपने गुरुओं से विद्या ग्रहण करते हुए उन की सेवा भी करते थे, विशेष विद्या ग्रहण कर लेने पर वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर परस्पर में शास्त्रार्थ भी करते थे । परिषदों के विद्यार्थियों को भी अपने गुरुओं के साथ ही रहना पड़ता था, परिषदों में उपाध्यायों तथा विद्यार्थियों के लिये आश्रम तथा बड़े २ पुस्तकालय भी विद्यमान रहते थे । परिषदों के विद्यार्थियों को भोजनों के लिए मांगना नहीं पड़ता था क्योंकि परिषदों के चलाने के लिए राजा लोग बहुतसा धन दिया करते थे । हां वानप्रस्थी जो निज के विद्यालय चलाते थे उन के विद्यार्थी मांग २ कर भोजन लाते जिस में से अपने गुरु को खिलाते और आप भी खाते थे । परन्तु उस समय दरिद्रावस्था वर्तमान नहीं थी जो इस समय विद्यमान है और न लोगों के आचार विचार भ्रष्ट थे अतः ब्रह्मचारियों को भिक्षा प्राप्त करने में कुछ भी कष्ट नहीं होता था । ब्रह्मचारियों का उस समय इतना मान्य था कि जब भिक्षा का समय

निकट आजाता था तो आर्य्य देवियां भोजन लिए हुए खड़ी हो जातीं और ब्रह्मचारियों की प्रतीक्षा करने लगती थीं । ग्रामों के सर्व स्त्री पुरुष ब्रह्मचारियों के आचारों के लिए अपने को उत्तरदाता समझते थे । परिषदों तथा वानप्रस्थियों के स्थापित गुरुकुलों के ब्रह्मचारियों को विद्याध्ययन करते हुए तपस्वी बनना पड़ता था जिस स शरीर बलिष्ठ और आत्मा दृढ़ हो जाता था और ब्रह्मचर्य्य समाप्त करने पर विद्यार्थी जीवन-युद्ध के उपयुक्त बन जाता था । प्रत्येक ब्रह्मचारी को कम से कम २९ वर्ष की अवस्था तक गुरुकुल में रहना पड़ता था ॥

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उस समय की परिषदों तथा गुरुकुलों में पढ़ाया क्या जाता था ॥

अनेक पश्चिमी विद्वान् कहा करते हैं कि प्राचीन आर्य्य आध्यात्मिक स्वप्नों में अपना जीवन व्यतीत करते थे बारह वर्षों तक केवल व्याकरण पढ़ा करते थे तदनन्तर कुछ ज्योतिष भी पढ़ लेते थे ताकि यज्ञ का समय नियत करने की विधि ज्ञात हो जाय ॥

परन्तु यदि अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि प्राचीन आर्य्यों के विरुद्ध उक्त कथन सर्वथा ही निर्मूल है । प्राचीन आर्य्य आध्यात्मिक स्वप्न नहीं देखते थे प्रत्युत योग द्वारा अपने आत्मा से परमात्मा को साक्षात् करके ब्रह्मानन्द का सुख अनुभव करते थे । प्रायः प्रत्येक आर्य्य बालक ब्रह्मचारी बन साङ्गोपाङ्ग वेदों तथा उपवेदों की शिक्षा धारण करने का यत्न करता था जिन का वर्णन आर्ष-ग्रन्थों में अनेक जगह मिलता है । ब्राह्मणों में अनेक प्रकार की विद्याओं का बर्तन आती हैं । देखिए छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ७ खण्ड १ वहां महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर ऋषि नारद ने बतलाया है “ सहोवाचगवेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्व्वणं चतुर्थामतिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निर्धिं वाकोवाक्यमेकायनं देवाविद्यां ब्रह्म-विद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतत् भगवोऽध्येमि * ”

हे भगवन् ! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण, वेदों के अर्थ विधायक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, निधिविद्या, वाकोवाक्य विद्या, एकायन-विद्या, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजन विद्याओं को अध्ययन किया है । यहां “ अध्येमि ” क्रिया स्पष्ट बतला रही है कि नारद ने इतनी विद्याएं गुरु से पढ़ी थीं । शतपथ के ग्यारहवें काण्ड में लिखा है कि

पढ़ने योग्य विषय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, अनुशासन-विद्या, पदार्थविद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण नाराशंसी और गाथाएं हैं ॥

कतिपय योरोपीय विद्वानों से यत्किञ्चित् अधिक आलोचना कर जब वीबर साहब ने यह पता लगाया कि शतपथ ब्राह्मण में कई विद्याओं के नाम हैं और कई विद्याओं की संक्षिप्त व्याख्याएं भी हैं तो लाचार होकर कहने लगे कि हां कतिपय भिन्न भिन्न विषय तो शतपथ में वर्णित हैं परन्तु वे शतपथ के भागमात्र हैं उन विषयों के स्वतन्त्र विस्तृत व्याख्यान कभी भी विद्यमान नहीं थे । परन्तु वीबर साहब का यह कथन कथन ही मात्र है तर्क के सन्मुख इसकी सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती । यदि इन विषयों का परिज्ञान पहले उपस्थित न होता तो शतपथ ब्राह्मण के काण्डों में भी उन की व्याख्या कैसे हो सکتी । यदि किसी पुस्तक का एक अध्याय गणित के विषय में हो तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि संसार में गणित पर और कोई पुस्तक ही नहीं है । यदि कुछ सिद्ध होता है तो यह कि इस पुस्तक के बनने से पूर्व गणित की विद्या उपस्थित थी । इस के अतिरिक्त जैसा कि हम छान्दोग्य से प्रमाण उद्धृत कर दिखला आए हैं उससे तो निस्सन्देह ज्ञात होता है कि ऋषि नारद ने उतनी विद्याएं पढ़ी थीं । तो क्या जिस समय छान्दोग्य बनने लगा था उस समय ऋषि नारद उन २ विद्याओं को पढ़ने लगे थे ? ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के पूर्व किन २ विद्याओं का प्रचार था इस विषय में जो लेख हम लिख आए हैं * उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य केवल व्याकरण और ज्योतिष ही नहीं प्रत्युत अनेक ऐसी विद्याएं भी पढ़ते थे जिन का पुनः प्रचार अभी तक योरोपदेश में नहीं हुआ । आज कठ योरोप वा अमेरिका में जितनी विद्याएं पढ़ाई जाती हैं वे सब की सब अपरा विद्याओं के अन्तर्गत हैं । जहां तक ज्ञात है परा विद्या का जानने वाला एक भी पुरुष उक्त देशों में विद्यमान नहीं है । परा उस साधन का नाम है जिससे जीवात्मा परमात्मा को साक्षात् करलेता है ।

अब हम संक्षेपतः यह दर्शाते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थोंके समय में ज्योतिर्विद्या की क्या अवस्था थी ।

ज्योतिर्विद्या गोपथ (२, ४, १०) में सूर्य, पृथिवी, दिन तथा रात्रि के विषय में लिखा है:—

* देखिए ब्राह्मणग्रन्थों के समय का साहित्य विषय पृष्ठ ५१ से ६८ तक ।

“तद्यदेनं पुरस्तादुदयतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तं गत्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवाधस्तात् कृणुते अहः परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति, नहवै कदाचन निम्लोचति” ।

पुरस्ताद् अर्थात् सन्मुख रहने के कारण सूर्य उदय होता है ऐसा मानते हैं और उस उदय काल के अन्त होने पर अपन को अस्त करता है और रात्रि होती है (ऐसा माना जाता है) (परन्तु वास्तविक बात यह है कि पृथिवी जो अपने व्यास पर घूमती है उस से पृथिवी का आधा भाग जब सूर्य की ओर से दृष्ट जाता है अर्थात् सूर्य उर रह जाता और वह भूभाग नीचे आजाता है तब) अधस्तात् अर्थात् पृथिवी के एक भाग के नीचे की ओर आने से उस भाग पर सूर्य रात्रि कर देता है और (पृथिवी की गति के कारण पुनः वही भाग जब सूर्य के सन्मुख आता है तब) परस्तात् अर्थात् पृथिवी के उर्सा भाग के सूर्य के सन्मुख आने पर उस भाग पर सूर्य दिन कर देता है । वास्तव में वह सूर्य न कभी अस्त होता और न उदय होता है और न वह कभी (निम्लोचति) चलता है ।

इसी प्रकार ऐतरेयब्राह्मण (३, ४, ६,) में सूर्य, पृथिवी दिन तथा रात्रि के विषय में लिखा है.—

“स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदेति । तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवाधस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात् । अथयदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेवतदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवाधस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् । स वा एष न कदाचन निम्लोचति नहवै कदाचन निम्लोचति”

वह (सूर्य) न कभी अस्त होता और न उदय होता है । (अहएव तदन्तमित्वा.....) दिन की समाप्ति को प्राप्त होकर जब सूर्य अपने को अस्त करता है । तब वह सूर्य अस्त होता है ऐसा माना जाता है (परन्तु वास्तव में) अधस्तात् अर्थात् पृथिवी के एक भाग के नीचे की ओर आजाने से (पृथिवी जो अपने व्यास पर घूमती है उस से उस का एक भाग कभी सूर्य के सन्मुख और कभी वही भाग सूर्य से परे अर्थात् उल्टी और वा नीचे की ओर आजाता है) वहां सूर्य रात्रि करता है और फिर पृथिवी की गति के कारण जो भाग सूर्य के सन्मुख आता है उस भाग पर (पुरस्तात्) आगे वा सन्मुख आने के कारण दिन करता है । तब

उस भाग पर के लोग मानते हैं कि प्रातः हुआ रात्रि की समाप्ति हो जाने के कारण । फिर विपर्यय होता है । अवस्तात् अर्थात् नाँच रहने की दशा के पश्चात् (अर्थात् उर्सा भू-भाग के नाँचे से ऊपर वा सूर्य के सन्मुख आने पर) वहा सूर्य्य दिन कर देता है और जो भू भाग सूर्य्य के आंग वा सन्मुख था उस भाग के पुरस्तात् अर्थात् सन्मुखावस्था की समाप्ति पर वहां रात्रि कर देता है (परन्तु वास्तविक बात यह है कि) वह (सूर्य्य) कभी भी नहीं (निम्नोचति) चलता, वह सूर्य्य निश्चय कभी भी नहीं (निम्नोचति) चलता है ।

तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में जहां प्लाक्षि तथा वैशम्पायनादि ज्योतिषियों का मत आङ्कित है वहा आरोग और भ्राजादि भिन्न २ सूर्य्यों का विषय वर्णित है जिस से सिद्ध होता है कि उस प्राचीन काल में लोग ग्रहों और ताराओं के भेदों को भला भाँत जान चुके थे ।

शतपथ ब्राह्मण में कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष फाल्गुणी, हस्त, चित्रादि नक्षत्रों का वर्णन है ।

अनेक प्राचीन ग्रन्थों में वेद के “ नक्षत्र-दर्श ” और “ गणक ” शब्द आए हैं जो कि ज्योतिषी के बोधक हैं ।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ७ में जहां महर्षि सनत्कुमार और ऋषि नारद का सम्वाद है वहां उक्त महर्षि के पृच्छेन पर कि नारद ने क्या क्या पढ़ा है, नारद ने बतलाया है कि उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि आदि तथा नक्षत्र विद्या (ज्योतिष-शास्त्र) तथा अन्यान्य कई विद्याएं (जिन के नाम वहां छान्दोग्य में लिखे हुए हैं) पढ़ा है । इस से मालूम होता है कि छान्दोग्योपनिषद् के समय से पूर्व प्राचीन आर्यों ने ज्योतिष-शास्त्र में इतनी उन्नति करली थी कि वे इस शास्त्र को एक पृथक् विद्या अर्थात् नक्षत्र-विद्या के नाम से प्रचरित कर सके थे ।

यद्यपि उक्त प्रकार ब्राह्मणों के कई स्थलों में ज्योतिर्विद्या सम्बन्धी वर्णन आए हैं और इस विद्या का उल्लेख वेदों में भी विद्यमान है जैसा कि हम इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में लिख आए हैं तथापि पेरिस का ज्योतिषी बायट तथा जर्मन प्रोफेसर लैसन लिखते हैं कि नक्षत्रों का विषय आर्यों ने चीनियों से सीखा था । परन्तु प्रोफेसर ह्विटनी, बायट के लेखों का खण्डन करते हुए लिखता है कि चीनी “ सीउ ” शब्द जिस का अर्थ बायट साहब “ नक्षत्र ” करते हैं सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि “ सीउ ”

का अर्थ single star अर्थात् एक तारामात्र है और नक्षत्र का अर्थ group of stars अर्थात् ताराओं का समूह है ।

प्रोफ़ेसर वीबर कहते हैं कि प्राचीन आर्यों ने ज्योतिर्विद्या चीनियों से नहीं सीखी यह तो ठीक है परन्तु यह विद्या उन्होंने विदेशियों से और सम्भव है कि कदाचित् बेबिलोनिया वालों से सीखी थी । इस कथन की पुष्टि अमेरिका के प्रोफ़ेसर ह्विटनी करते और कहते हैं कि “सम्भव है कि प्राचीन आर्यों ने बेबिलोनिया वालों से ही ज्योतिर्विद्या सीखी हो क्योंकि आर्यों की मानसिक-प्रकृति ऐसी न थी कि वह आकाश का निरीक्षण कर सकते और उस राशिचक्र को बतला सकते जिन के सन्मुख चन्द्रमा भ्रमण करता है” । प्राचीन आर्यों की मानसिक-शक्ति कैसी थी अब इस तीसवीं शताब्दि में सिद्ध हो चुकी है और योरोपीय विद्वान् ज्यों २ प्राची नसंस्कृत-ग्रन्थों का अवलोकन करेंगे त्यों २ प्राचीन आर्यों के लिए पूजनीय-भाव उन के हृदय में उत्पन्न होते जायेंगे । हां प्रोफ़ेसर वीबर और प्रोफ़ेसर ह्विटनी के उक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध करत हैं कि अविह्वर योरोपीय विद्वान् जब कभी प्राचीन आर्यवर्त के विषय में विचार करते हैं तो उन के मन में कुछ न कुछ प्रज्ञात अवश्य आजाता है जिस से प्रेरित होकर वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्राचीन आर्य विदेशी जातियों के शिष्य थे अतः आधुनिक भारतीय पण्डित जो उत्साहपूर्वक यह कहते हैं कि प्राचीन आर्य जादूगुरु थे मिथ्या है प्रोफ़ेसर मैक्समूलर लिखते हैं कि “चन्द्रमा के राशिचक्र में जो २७ नक्षत्र हैं इन के विषय में कहा जाता है कि इन नक्षत्रों का ज्ञान आर्यों ने बेबिलोनिया वालों से सीखा परन्तु बेबिलोनिया के “क्यूनईफार्म” नामक अति प्राचीन लेख के देखने से विदित होता है कि बेबिलोनिया वालों का राशिचक्र चान्द्र नहीं प्रत्युत सौर्य था, बेबिलोनिया के किंवा अन्य प्राचीन लेख से भी चन्द्रमा के राशिचक्र का पता नहीं लगता” * फिर कैसे माना जाय कि प्राचीन आर्यों ने चन्द्रमा के राशिचक्र का ज्ञान बेबी-लोनिया वालों से प्राप्त किया था ?

डेविस नामक विद्वान् लिखता है कि पाराशर (व्यास के पिता नहीं प्रत्युत उस नाम के एक ज्योतिषी) के नाम से जो ज्योतिष का ग्रन्थ आजकल प्रचरित है उस की ज्योतिष सम्बन्धी घटनाओं की गणना से बोध होता है कि पाराशर नामक ज्योतिषी ईसा के जन्म से १३९१ वर्ष पूर्व वर्तमान था ।

*“इंडिया, वाट इट वैन टीच अस” नामक ग्रन्थ (१८८३ का मुद्रित) पृष्ठ १२६

बेली नामक ज्योतिषी अपने “प्राचीन ज्योतिष का इतिहास” नामक ग्रन्थ में लिखता है कि यद्यपि आर्यों का ज्योतिष-शास्त्र इस समय भी महोन्नति है परन्तु याद रखना चाहिए कि वर्तमान ज्योतिष उनके प्राचीन महोन्नत ज्योतिष का शेष भागमात्र है

कैसिनी, बेली, जर्टील, प्लेफ़ेयर नामक योरोपीय ज्योतिषी लिखते हैं कि हिन्दुओं (आर्यों) ने ज्योतिष सम्बन्धी ऐसी ऐसी घटनाएं बतलाई हैं जो ईसा के जन्म के ३००० तीन सहस्र वर्ष पहले की हैं और उन के वे आविष्कार उस समय की भी उन की ज्योतिष सम्बन्धी अत्युच्च-योग्यता बतलाते हैं *

फ्रांस के राजा चतुर्दश लूई का लाबर नामक राजदूत १८८७ ई० में श्याम देश से सूर्य ग्रहणों के कई चित्र लाया था । और दक्षिण भारत के कर्नाटक देश के तिरवालार स्थान से पाटाइलट तथा जर्टील नामक योरोपियनों ने सूर्य ग्रहणों के कई चित्र योरोप में भेजे थे । योरोप के प्रसिद्ध ज्योतिषी बेली ने जब उन चित्रों में देखा कि एक सूर्य ग्रहण उन के समय से ४३८३ वर्ष पूर्व का है तो स्वयम् गणना करने लगे और गणना करने से पता लगा कि उक्त ग्रहण की गणना में आर्यों ने एक मिनट की भी भूल नहीं की है । *

बेली के मतानुसार ईसा के जन्म से ३००० तीन सहस्र वर्ष पहले जब कि आर्य ज्योतिषी इतने विद्वान् थे तो समझना चाहिए कि उस समय से कितने दिन पहले से आर्य पण्डित ज्योतिष और इस से सम्बन्ध रखने वाली रेखा-गणित विद्या को जानते होंगे।

कलियुग का समयारम्भ लिखते हुए आर्य ज्योतिषियों ने बतलाया है कि उस समय प्रायः सब ग्रह प्रायः एक सीध में आगए थे । बेली ने जब ग्रहों की गत्यनुसार उस समय की गणना की तो बतलाया कि कलियुग का आरम्भ ईसा के जन्म से पहले ३१०२ तीन सहस्र एक सौ दो वर्ष २० फ़रवरी को २ बज के २७ मिनट तथा ३० सेकंड पर हुआ था ।

सूर्य-सिद्धान्त का कर्ता अपने ग्रन्थ के निर्माण-काल को अपने ग्रन्थ के मध्याह्नाध्याय श्लोक २२ तथा २३ में इस प्रकार लिखता है:—

“कलपादस्माच्च मनवः षड्व्यतीताः ससन्धयः

वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिषनोगतः

अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमे तत्कृतं युगम्

अतः कालप्रसंख्याय मेख्यामेकत्र पिण्डयेत्”

अर्थात् वर्तमान कल्प वा सृष्टि के सन्धि सहित छः मन्वन्तर बीत चुके हैं ।
वैश्वतमन्वन्तर के त्रिघन (३+२) अर्थात् २७ चतुर्युगी भी बीत चुके हैं ।
अठाइसवीं चतुर्युगी का कृत युग (सतयुग) भी व्यतीत हो गया है ।

वर्तमान विक्रम सम्बत् १९६७ है और कल्यब्द ५०११ है और उक्त श्लो-
कानुसार सूर्यसिद्धान्त इस चतुर्युगी के त्रेता के आरम्भ में बना अतः सूर्यसिद्धान्त के
बने त्रेता+द्वापर+कलियुग के ५०१० वर्ष अर्थात् १२९६०००+८६४०००
५०१० अर्थात् कुल २१६५०१० वर्ष व्यतीत हुए ।

अतः सिद्ध हुआ कि जिस समय यारोप में एक भी ज्योतिष का ग्रन्थ नहीं
बना था उस समय भी आर्यावर्त में बड़े बड़े ज्योतिषी वर्तमान थे ।

राजनियम—यारोप में आज कल प्रायः राजनियम के रोमन क्रम का
प्रचार है । रोमन-राजनियम क्रम का एक मुत्र यह है कि राजा राजनियम से उच्च
है अर्थात् उस क अन्याय का राकन का शक्त राजानियम म नहां हं, प्रजा राजानियम
के आधीन है और राजनियम राजा के आधीन है ।

परन्तु प्राचीन आर्यों का राज्यनियम विषयक आदर्श इस से बहुत उच्च था
वृहदारण्यकोपनिषद् (२, ४, १४,) में लिखा है:—

“तच्छ्रयो रूपमत्यसृजतधर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्पर नास्य-
थो अत्रश्रीयान् बत्रश्रीयान्प्रमाशाश्रंसते धर्मेण यथा राज्ञेन यो वै सधर्मः सत्यं वै तत्त-
स्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मवदतीति धर्मं वा वदन्तश्रसत्यं वदतीत्यतद्वैवतदुभयं भवति”
अर्थात् उसने कल्याण रूप धर्म (वा नियमों को बनाया, वही धर्म क्षत्र का भी क्षत्र है अर्थात्
(शासन करने वाला राजपुरुष पर भी शासन करता है) क्योंकि क्षत्र धर्म है अतः धर्म से बढ़
कर (राजपुरुषादि) कोई भी नहीं है, धर्म के बल से निर्बल शरीर वाला भी बड़े २ बलवानों
को वश में रखता है जिस प्रकार कि (शरीर से निर्बल होने पर भी धार्मिक होने से
राजा के द्वारा ब्रह्मणों का शासन होता है । अतः जो राजा है वह धर्म है और
वह धर्म सत्य है इसी कारण जो सत्यभाषण करता है उस के विषय में कहा जाता
है कि वह धर्म कहता है (इसी प्रकार) जो धर्म बोलता है उस के विषय में
कहा जाता है कि वह सत्य कह रहा है तात्पर्य यह है कि जो धर्म है वह सत्य
है और जो सत्य है वह धर्म है, धर्म और सत्य दोनों पर्यायवाची शब्द हैं ।

अतः सिद्ध हुआ कि यह धर्म ही है जो राजा और प्रजा सब को नियम में
रखता है, इन में से जो कोई धर्म को तोड़ता है वह दुख का भागी बनता है ।

राजनियमों के तोड़ने का साहस तो कोई राजा क्या कर सकता था, यदि कोई राजा अपना प्रजा का पूर्ण धार्मिक और सुखी बनाने की योग्यता नहीं रखता था तो उस के यहां महर्षि गण ठहरना भी पाप समझते थे जिस कारण राजा की घोर निन्दा होती और वह पतित समझा जाता था । यही कारण हैं कि जब केकय देश के राजा अश्वपति (देखिए छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ९, खण्ड ११, प्र० ९) के यहां प्राचीन शाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल तथा उदालक नामक महर्षि आए तो अश्वपति ने उन की यथोचित पूजा करवाई और फिर अपने यहां ठहरने के लिए प्रार्थना करते हुए कहा कि “नमेस्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहि-
ताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणा कुतो यक्ष्यमाणोवै भगवन्तोऽहमस्मि यावदंकेकस्मा ऋ-
त्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति” हे महात्मा पुरुषो ! मेरे राज्य में न चोर, न कायर, न मद्यपी, न अग्निहोत्र न करनेवाला, न अविद्वान्, न व्याभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी तो कहां ? मैं नियम पूर्वक यज्ञ क-
रता हूं, एक एक ऋत्विक् को जितना २ धन दूंगा उतना २ धन आप में से प्रत्येक महानुभावों को दूंगा, अतः हे भगवन्त आप लोग कृपया मेरे यहां निवास करें ।

जिन राजनियमों की पालना करता हुआ राजा अपनी प्रजा को उक्त प्रकार का बना सकता है उन राजनियमों की प्रशंसा हम तो क्या, विद्वान् मात्र मुक्तकण्ठ से किया करेंगे। इस से बढ़कर भी राजनियमों का आदर्श हो सकता है ? इस विषय में पुनः एक पृथक् अध्याय ही लिखा जायगा ।

रेखा-गणित—रेखा गणित की विद्या भी अति प्राचीन काल से आर्यों को ज्ञात है । ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १३०, मन्त्र ३ में “ परिधिः, (Cir-
cumference) शब्द आया है । पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है । “ कासीत्प्रमा प्रतिमा
किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत् । छन्दः किमासीत्प्रउरां किमुक्थं यद्देवा
देवमयजन्त विश्वे ” इम मन्त्र के द्रष्टा यज्ञ प्रजापति ऋषि ने तथा इसी प्रकार के
मन्त्रों के भावों के प्रचारक अन्यान्य ऋषियों तथा उन के शिष्य प्रशिष्यों ने
जो पुरुषार्थ किया होगा उस से निश्चय है कि रेखागणित की विद्या प्राचीन
में भली भांति प्रचरित हो गई होगी ।

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में वेदियों के विषय में उल्लेख हैं तथापि रेखागणित के
साध्यों के विषय में कोई लेख अभी तक हमें नहीं मिला है । सम्भव है कि रेखाग-

णित का विषय ब्राह्मण ग्रन्थ का विषय न हो इस कारण उस विषय पर कोई विशेष सम्मति ब्राह्मण ग्रन्थों के बनाने वालों ने प्रकट न की हो । परन्तु जब कि साम-ब्राह्मण के छान्दाग्य भाग में महर्षि सनत्कुमार तथा ऋषि नारद के सम्वाद में स्पष्ट लिखा है कि ऋषि नारद ने “ नक्षत्र-विद्या ” अर्थात् ज्योतिषशास्त्र को पढ़ा है तो कैसे सम्भव है कि नक्षत्र-विद्या के ज्ञाता नारद ने रेखागणित को नहीं पढ़ा होगा । कोई भी पुरुष मङ्गल, बुध, वृहस्पति, पृथिव्यादि ग्रहों की गति, चान्द्रचक्र की परिधि, राशियों के उदय अस्त, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, धूमकेतुओं के उदय अस्त आदि ज्योतिष सम्बन्धी बातों को भली भांति समझ ही नहीं सकता जब तक कि वह यह न जानता हो कि एक वृत्त का सम्बन्ध दूसरे वृत्त के साथ कैसे निर्णय किया जाता है, केन्द्र और परिधि का क्या सम्बन्ध होता है इत्यादि अस्तु ।

तैत्तिरीय-संहिता नामक ग्रन्थ (१. ४. ११) में लिखा है कि वेदियों को किन २ आकारों का बनाना चाहिये । बौद्धायन और आपस्तम्ब-सूत्रों में उन चित्तियों तथा इष्टकाओं का सविस्तर वर्णन है जिन से भिन्न २ प्रकार के यज्ञकुण्ड बनाए जाते थे । उक्त पुस्तकों में यज्ञ कुण्डों के अनेक आकार लिखे हुए हैं जिन में कतिपय निम्नलिखित हैं:—

- (१) चतुराश्रयश्चेन (अर्थात् श्येन पक्षी के आकार का)
- (२) वक्राक्ष वृक्षतृच्छ श्येन (अर्थात् श्येन पक्षी के टेढ़े पांख और फैले हुए पुच्छ के आकार का कुण्ड)
- (३) कङ्कचित (कङ्कपक्षी के आकार का कुण्ड)
- (४) अलनाचित (अलना पक्षी के आकार का कुण्ड)
- (५) प्रागचित (अर्थात् सममुज त्रिभुज का आकार)
- (६) उभयतः प्रागचित (अर्थात् सममुज त्रिभुज के आधार पर दूसरा सममुज त्रिभुज बना हुआ ।
- (७) रथचक्रचित (अर्थात् गोलाकार)
- (८) चतुराश्रय द्रोणचित (चतुष्कोण पाल के आकार का)
- (९) पारिमण्डल द्रोणचित (गोल बर्तन के आकार का)
- (१०) कूर्मचित (कूर्म कलुए के आकार का कुण्ड) इत्यादि इत्यादि प्रायः १६ प्रकार के कुण्डों का वर्णन है ।

ऊपर लिखित (१) चतुराश्रय-श्येन कुण्ड का क्षेत्रफल ७॥ वर्ग पुरुष हुआ करता था । उन ७॥ वर्गों में से प्रत्येक वर्ग की एक भुजा की लम्बाई एक पुरुष हुआ करती थी । पुरुष का अर्थ उतनी लम्बाई से है जितनी लम्बाई कि एक पुरुष के हाथ उठाए हुए खड़े रहने पर उस के पैर से हाथ की अंगुलियों के अन्त तक हुआ करती है । जब कभी उस चतुराश्रय-श्येन कुण्ड के स्थान में प्रागचित (समभुज त्रिभुज-कुण्ड) अथवा रथ चक्रचित (गोलकुण्ड) वा कूर्मचित (कछुए के आकार का कुण्ड) बनाना पड़ता या तो चतुराश्रय-श्येन कुण्ड के स्थान को काट कूट कर घटाते वा बढ़ाते नहीं थे प्रत्युत उसी स्थान में अर्थात् उसी ७॥ वर्ग पुरुष-स्थान में दूसरे कुण्ड को बना देते थे । कभी २ ऐसा भी होता था कि किसी विशेषाकार कुण्ड के बनाने में उक्त ७॥ वर्ग पुरुष-क्षेत्र में एक वर्ग पुरुष वा दो वर्ग पुरुष जोड़ देते थे परन्तु ७॥ वर्ग पुरुष-क्षेत्र को किसी भी दशा में न्यून नहीं करते थे ।

क्योंकि आकारों में उक्त प्रकार के परिवर्तन तब तक नहीं हो सक्ते जब तक कि त्रिभुज, वृत्त, चतुर्भुज तथा अर्द्ध वृत्तादि के परस्पर सम्बन्ध ज्यामिति के अनुसार ज्ञात न हों अतः स्पष्ट सिद्ध है कि आर्ययाज्ञिकों को ज्यामिति की विद्या अवश्य ही जाननी पड़ती थी । प्रसिद्ध डाक्टर थिबो लिखते हैं कि “याज्ञिकों को यज्ञ कुण्डों के निर्माण के लिए जानना पड़ता था कि एक वर्ग (Square) दो वा तीन निश्चित वर्गों के बराबर कैसे बनाया जाता है, अथवा दो नियत वर्गों के अन्तर से जो वर्ग बनेगा वह किस प्रकार बनाना चाहिये, नियत आयतों (Oblong) को वर्गों के आकार में और नियत वर्गों को आयतों के आकार में किस प्रकार परिणत करना पड़ता है, निर्मित त्रिकोणों (Triangles) के बराबर वर्ग वा आयत किस प्रकार बन सक्ते हैं, एक वृत्त (Circle) एक निश्चित वर्ग (Square) के लग भग बराबर कैसे बन सक्ता है” ।

प्रचरित यूक्लिड की ज्यामिति (ज्यामित्री) जो आज कल स्कूलों में पढ़ाई जाती है उस के प्रथमाध्याय के ४७ सैतालीसवें साध्य के विषय में कहा जाता है कि इस साध्य को प्रकट करने वाला युनान का पिथैगोरस नामक विद्वान् है परन्तु यारोपीय विद्वानों को और विशेष कर डाक्टर थिबो को बड़ा आश्चर्य हुआ जब कि उन्होंने उसी साध्य को सुल्वसूत्र के भीतर वर्णित पाया । डाक्टर थिबो कहते हैं कि पिथैगोरस के जन्म से कम से कम दो शताब्दि-पूर्व अर्थात् ईसा के जन्म से प्रायः ८०० वर्ष

पूर्व सुल्वसूत्र भारत में प्रचरित था । बी, थ्रोडर नामक योरोपीय विद्वान् लिखता है कि प्थैगोरस ने ज्यामिति की अनेक बातें भारत से सीखी थीं, अस्तु ।

उक्त ४७ वां साध्य सुल्वसूत्र के निम्नलिखित दो सूत्रों में हैं:—

[१] किसी वर्ग (Square) के कर्ण (Diagonal) पर जो वर्ग बनाया जाता है वह उस वर्ग से द्विगुण होता है ।

[२] एक आयत (Oblong) के कर्ण (Diagonal) पर का वर्ग उस आयत के दो असमान बाहुओं (Sides) पर के वर्गों के बराबर होता है ।

इसी तरह रेखागणित की अनेक अन्यान्य बातें भी उक्त सुल्वसूत्र में पाई जाती हैं और यह बात प्रासिद्ध है कि सुल्वसूत्र कल्पसूत्र का भाग है और कल्पसूत्र यज्ञ कर्म से बहुत सम्बन्ध रखता है अतः डाक्टर थिनो का यह कथन कि जो जो भारतीय विद्याएं आर्यों के धर्म से सम्बन्ध रखती हैं वे अवश्य ही भारत में उत्पन्न हुईं, योरोपियनों को भी मानने के लिये बाध्य करता है कि भारतवासियों ने ज्यामिति की विद्या विदेशियों से नहीं सीखी थी ।

बीजगणित—बीजगणित आर्यों ने यूनानी वा अन्यों से सीखा अथवा स्वयम् इस के मूल को वेद में देख कर इस के नियमों को प्रचरित किया इस विषय पर अब विवाद का स्थान नहीं है क्योंकि आर्य विद्याओं के समीक्षकों के एक मुखिया प्रोफेसर मोनियर वीलियमस ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लिया है कि “ बीजगणित तथा रेखागणित का आविष्कार तथा ज्योतिष के साथ उन का प्रथम प्रयोग हिन्दुओं (आर्यों) के ही द्वारा हुआ ” * बीजगणित के अनेक ग्रन्थ इस समय भी भारत में प्रचरित हैं । बीजगणित में आर्यों ने यहां तक उन्नति करली थी कि ज्यामिति के अनेक साध्य भी वह बीजगणित द्वारा ही सिद्ध कर लेते थे ।

अङ्कगणित—इस विद्या का भी मूल वेदों में देख कर आर्यों ने इस के नियम बनाए । यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २४ तथा २९ आदि में बीजगणित की विद्या के वर्णन के साथ अङ्कगणित की विद्या भी वर्णित है । रेखागणित तथा ज्योतिष के कठिन नियमों के बताने वाले प्राचीन आर्यों के लिए अङ्कगणित के नियमों का बनाना कुछ कठिन नहीं था । अब वालों ने यह विद्या आर्यों से ही सीखी थी और इसी कारण इस विद्या को इल्महिन्दसा अर्थात् हिन्दू या भारत की विद्या

* To the Hindus is due the invention of Algebra and Geometry and their application to Astronomy (Indian Wisdom, P. 185.)

कहते हैं । योरोप में अर्बुब वालों की शिक्षा के पूर्व अङ्कगणित का प्रचार बहुत कम था अर्बुबों ने अङ्कगणित का योरोप में अच्छा प्रचार किया अतः योरोप के वर्तमान अङ्कगणित की माता भारतीय अङ्कगणित की विद्या ही है ।

व्याकरण-शास्त्र और भाषा-विज्ञान—व्याकरण-शास्त्र और भाषा-विज्ञान में प्राचीन आर्यों ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी ऋषि पाणिनी जिन्होंने अष्टाध्यायी बनाई है भाषा-विज्ञान और व्याकरण में संसार के विद्वानों में एक अपूर्व प्रतिष्ठा और गौरव रखते हैं । जिस वैज्ञानिक शैली पर अष्टाध्यायी लिखी हुई है उस शैली पर आज तक व्याकरण सम्बन्धी पुस्तक संसार के किसी भी अन्य भाग में नहीं लिखी गई । वास्तव में यह सच है कि प्राचीन आर्यों ने ही व्याकरण को एक विज्ञान बनाया था । योरोप में विद्या सम्बन्धी सब से बड़ा आविष्कार यह समझा जाता है कि एक भाषा के लाखों शब्द गिनती की धातुओं में परिवर्तित किए जावें । जो कोई पाणिनी का धातु पाठ पढ़ता है वह जानता है कि यह आविष्कार भारतवर्ष में आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुका था । वास्तव में यह आविष्कार पाणिनी के समय से भी पूर्व का है क्योंकि पाणिनी अपने उणादिकोषादि ग्रन्थों में कई प्राचीन वैयाकरणों के भी प्रमाण देते हैं ।

योरोप और योरोप के अन्यान्य विद्वानों ने संस्कृत को पढ़कर ही अनेक शब्दों के वास्तविक धातुओं का पता लगाया है । परन्तु पाणिनी का धातुपाठ उस समय बना था जिस समय योरोप में सभ्यता और सुशिक्षा का चिन्ह भी प्रकट न था । हम पाणिनी की क्या प्रशंसा करें उन की प्रशंसा सारा संसार कर रहा है ।

जर्मनी का प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् वीबर जो आर्यग्रन्थों की तीक्ष्ण समालोचना में भी संकोच नहीं करता विवश होकर पाणिनी की अष्टाध्यायी के विषय में निम्न-लिखित सम्मति प्रकट करता है:—

“ हम एकाएक उस महान् भवन में प्रवेश करते हैं जिस का शिल्पी पाणिनी है और जो प्रत्येक प्रवेश करने वाले के हृदय में बलात्कार भाक्ति और आश्चर्य के भाव न्यायतः उत्पन्न करता है, पाणिनी के व्याकरण में अन्य देशों की इसी प्रकार की पुस्तकों से यह विशेषता है कि यह व्याकरण भली भाँति अन्वेषण कर भाषा की धातुओं तथा शब्दों की व्युत्पत्तियों को बतलाता है, इस के भावप्रकाश में एक सूक्ष्म याथार्थ्य है जो संक्षिप्त परन्तु गूढ़ रीति से दर्शा देता है कि विशेष २ प्रयोग किसी एक ही सूत्र से सिद्ध हो जाते हैं अथवा (इन की सिद्धि में) अन्यान्य

सूत्रों की भी अपेक्षा है । पाणिनी ऐसा इस कारण कर सका है कि उस ने वाज-गणित के नियमानुसार पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली स्वपरिभाषाओं का सुप्रयोग किया है और क्योंकि उन सम्पूर्ण दृश्यों को जिन्हें भाषा प्रकट करती है उन के वर्णन में ये पर्याप्त हैं, ये अपने आविष्कर्ता (रचयिता) की आश्चर्यमय सूक्ष्मज्ञता तथा भाषा के सम्पूर्ण उपकरणों वा भण्डार में उस की गूढ़ व्याप्ति का परिचय दे रहे हैं ' *

* We pass at once into the magnificent edifice which bears the name of Panini as its architect and which justly commands the wonder and admiration of every one who enters. Panini's Grammar is distinguished above all similar works of other countries, partly by its thoroughly exhaustive investigation of the roots of the language, and the formation of words; partly by its sharp precision of expression, which indicates with an enigmatical succinctness whether forms come under the same or different rules. This is rendered possible by the employment of an algebraic terminology of arbitrary contrivance, the several parts, of which stand to each other in the closest harmony, and which by the very fact of its sufficing for all the phenomena which the language presents, bespeaks at once the marvellous ingenuity of its inventor, and his profound penetration of the entire Material of the language. (Weber's Indian literature p. 216.)

चतुर्थ परिच्छेद

राजा, उस का अधिकार और कर्तव्य

तथा राज व्यवस्था ।

राजपदाधिकारी कौन हो सक्ता था—प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध नहीं होता था प्रत्युत राज्य प्रजातन्त्र होता था, राजतिलक—संस्कार और उस से शिक्षा राजा भी दण्डनीय होता था—रोमन राजव्यवस्था के साथ प्राचीन आर्य्य राज-व्यवस्था का सम्मेलन—न्यायविभाग और प्रबन्ध विभाग पृथक् २ थे—राजनीतिज्ञ भिन्न २ आचार्य और ऋषि—दण्ड सम्बन्धी नियम, क्या वे कठोर थे—ब्राह्मणों और शूद्रों के साथ एक ही प्रकार के बर्ताव—मृत्युदण्ड की कई आचार्यों की सम्मति में अनावश्यकता, उस की स्थानापत्ति, राजनियम शास्त्र का आशय, प्रायश्चित्त पर विचार व्यावहारिक राजनियम—दायभाग सम्बन्धी राजनियम—स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी राजनियम—सर्वसाधारण हित सम्बन्धी राजनियम—भूमि-कर सम्बन्धी राज नियम प्राचीन राजनियमों पर एक साधारण दृष्टि ।

राज पदाधिकारी कौन हो सक्ता था ?—

गौतम अपने धर्म सूत्र के अध्याय ८ सूत्र १, ४, ५, ६, ७ में लिखते हैं कि राजा (और ब्राह्मण) को वेदों का गम्भीर ज्ञानी बनना चाहिए क्यों कि संसार में धर्म की व्यवस्था इन्हें ही धारण करनी पड़ती है । गम्भीर ज्ञानी वह कहलाता है जो सांसारिक चक्रों से अभिज्ञ हो, वेदों को और उन के अङ्गों को अध्ययन किया हो, तर्कशास्त्र, इतिहास और पुराण (ब्राह्मण ग्रन्थ) में व्युत्पन्न एवं निपुण हो जो इन्हीं (उक्त वेदादि) को प्रामाणिक मानता हो और इन्हीं के आदेशानुसार अपना जीवन व्यतीत करता हो ।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है “राष्ट्रं वा अश्वमेधः” अर्थात् राज्य अश्वमेध यज्ञवत् है । प्राचीन याज्ञिक लोग विविध यज्ञों को जैसी श्रद्धा और भक्ति से करते थे वह प्रसिद्ध है । यज्ञ-कर्म में यदि कुछ भी व्यक्ति-क्रम हो जाता था तो उस के लिए याज्ञिक अनेक प्रकार से पश्चात्ताप करते थे । याज्ञिक यज्ञ को अपनी सद्गति

वा स्वर्ग प्राप्ति का साधन मानते थे । ठीक इसी प्रकार प्राचीन आर्य्य राजा राष्ट्र अर्थात् अपने राज्य के शासन को यज्ञ-कर्म समझता था, और विश्वास रखता था कि यदि मैं राष्ट्र के सर्व नियमों को भली भांति पालन करूंगा तथा कराऊंगा तो निस्सन्देह मेरी सद्गति हो जायगी । राजा के उक्त विश्वास को धर्म सूत्रकार व-शिष्ठ इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

“राजा का प्रधान कर्म यह है कि वह सब प्राणियों की रक्षा करे । कर्तव्य पालन से उस का यह लोक तथा परलोक दोनों सफल हो जाते हैं (अर्थात् वह दोनों लोकों के सुखों का भागी बनता है) ।

यद्यपि प्रजा राजा को पूज्यदृष्टि से देखती थी परन्तु राजा पाप करने से बहुत डरता था । सभा में राजसिंहासन पर आरूढ़ रहता हुआ समझता था कि यदि मुझ से अन्याय हो गया तो मैं भी पापी बनूंगा और उस का फल दुःख मुझे भी भोगना पड़ेगा । राजा जितने प्रकारों से दोषी माना जाता था उन में से एक प्रकार निम्नलिखित भी है ।

(जब न्यायसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है तब अधर्म के चार भाग हो जाते हैं) उस अधर्म में से एक भाग अधर्म के कर्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा न्यायसभा के न्यायकर्ताओं और चौथा भाग राजा को प्राप्त होता है । (बौद्धायन सूत्र १, १०, ८)

गौतम-सूत्र (अध्याय ११ । सूत्र २, ३, ४, ५, ६) में लिखा है कि राजा का वचन और कर्म पवित्र होना चाहिए, उसे त्रयी-विद्या (वेद) तथा तर्क-शास्त्र में निपुण शुद्ध और जितेन्द्रिय होना चाहिए, उसे ऐसे साधियों (मन्त्रियों) से धिरा रहना चाहिए जिन में उत्तमोत्तम गुण तथा राज्य-शासन बनाए रखने की शक्तियां हों, उसे साधन सम्पन्न होना चाहिये तथा अपनी प्रजा के साथ निष्पक्ष वर्तना चाहिये और उन्हें लाभ पहुंचाना चाहिये ।

आपस्तम्बसूत्र (प्रश्न २, पटल ११, खण्ड २८, सूत्र १३) में लिखा है कि यदि राजा अपराधी को दण्ड नहीं देता तो वह स्वयं पाप का भागी बनता है ।

वासिष्ठसूत्र (अध्याय १९, सूत्र ७) में लिखा है कि राजा को चाहिए कि अपने देश तथा उस में बसने वाली जातिओं तथा वंशों सम्बन्धी राजनियमों पर ध्यान देते हुए चारों वर्णों से उन के औचित्यपालन करावे ।

वसिष्ठ सूत्र अध्याय १९। सूत्र १०। में लिखा है कि राजा को प्राचीन राज-नियम सम्बन्धी लेख तथा पूर्व निदर्शनों से अभिज्ञ होना चाहिए क्योंकि उन्हीं के अनुसार उसे अराधियों का दण्ड निर्णय करना होगा ।

अतः सिद्ध हुआ कि राजा वही हो सकता था जिस ने त्रयी-विद्या के ज्ञाताओं से ज्ञान-काण्ड, कर्म-काण्ड और उपासना-काण्ड (अर्थात् चारों वेदों) की शिक्षा पाई हो, अर्थात् वेदों में जो प्राकृतिक और आत्मिक विद्याएं हैं उन का ज्ञाता हो जिस ने सनातनधर्म-व्यवस्था (राजनीति) आत्मविद्या और सत्यासत्य के निर्णय के लिए लोगों से वार्ता किस प्रकार करनी चाहिये उस तर्क विद्या को सीखा हो, जो विविध प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं से अभिज्ञ हो जो वेदानुकूल अपने आचरण करनेके कारण पूर्ण जितेन्द्रिय एवं शरीर मन और आत्मा से पवित्र और बलिष्ठ हो जिस के आधीन बड़े बड़े न्यायकर्ता विद्वान् विविध विषयों पर अपनी निष्पत्तियां प्रकाशित करते हैं आदि ।

प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध नहीं होता था—साधारणतः यह कहा जाता है कि प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध होता था अर्थात् उस की शक्तियों पर अन्य कोई भी दबाव डाल नहीं सका था, वह जो चाहता था कर लेता था जिस पर अति क्रुद्ध होता उस मार डालता और जिस पर साधारण क्रुद्ध होता उसे बन्दीगृह में डाल देता था । परन्तु यह कथन सर्वथा अमूलक है । हम जो पूर्व लिख आए हैं उस से सिद्ध होता है कि राजा बन ही वह सका था जो धार्मिक और बड़ा विद्वान् हो और विशेषकर राजनीतिसे पूर्ण अभिज्ञ हो अर्थात् जो पुरुष इन गुणों से रहित हो वह राजा नहीं बन सकता था । इस से स्पष्टतया यह परिणाम निकलता है कि राजा का पुत्र यदि गुण रहित हो तो पैतृक-सम्पत्ति की भांति वह राजसिंहासन को प्राप्त नहीं कर सकता था ।

अभिषेक-विधि अर्थात् राजा बनाने की रीति—जो शतपथ ब्राह्मण के राजसूय-यज्ञ प्रकरण में लिखी है वह बड़ी ही मनोरञ्जक है उस का ध्यान पूर्वक अवलोकन करने से बहुत सी ऐतिहासिक शिक्षाएं प्राप्त हो सकती हैं । उक्त प्रकरण में लिखा है कि यज्ञशाला के बीच हविर्धान के सन्मुख तथा आहवनी-याग्निक के पीछे जब राजसिंहासन रख दिया जाय और उस पर यथोचित बिछावन हो जाय तब अध्वर्यु उस पुरुष को जो राजा बनाने के योग्य माना गया है इस प्रकार घोषणा करते हुए राजशासनाधिकार से युक्त करे:—

“इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमास्मिन्नोके करोति कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्वेत्ये वै तदाह” (शतपथ, काण्ड ९, अध्याय २, ब्राह्मण १, प्रवाक २९)

“इयं ते राडिति” यह राज्य तेरे लिए है अर्थात् यह राज्य तुझे दिया जाता है, अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को राज्याधिकारी बनाता है अर्थात् अध्वर्यु की इस घोषणा के अनन्तर ही वह राजा बनता है। पुनः अध्वर्यु उसे राजसिंहासन पर बैठाता और उस से कहता है “यन्तासियमन इति” तू यन्ता अर्थात् शासनकर्त्ता और यम अर्थात् प्रजा को नियमपूर्वक चलाने योग्य है, अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को प्रजा का यन्ता अर्थात् शासनकर्त्ता बनाता है। पुनः अध्वर्यु उस पुरुष से कहता है “ध्रुवांसि धरुण इति” अर्थात् तू ध्रुव की भांति धर्म पर दृढ़ है, तू शासन भार को धारण कर सक्ता है, अध्वर्यु अपने इस कथन से ही उस पुरुष को इस लोक में ध्रुव और धरुण (प्रसिद्ध) करता है (अर्थात् अध्वर्यु की इस घोषणा ही से वह पुरुष ध्रुव और धरुण माना जाता है) पुनः अध्वर्यु उस पुरुष से कहता है “कृष्यैत्वा क्षेमायत्वा रय्यैत्वा पोषायत्वेति साधवेत्वेति” तुझे कृषि अर्थात् खेती की उन्नति के लिए, तुझे क्षेम अर्थात् प्रजा के कल्याण और सुख के लिए, तुझे रयि अर्थात् ऐश्वर्यो की वृद्धि के लिए, तुझे पोष अर्थात् प्रजा के पोषण पालन के लिए, तुझे साधु अर्थात् महात्माजनों की संख्या-वृद्धि के लिए अथवा साधु जनों की सेवा के लिए (राजा बनाते हैं)। (अध्वर्यु के ऐसे कथन के अनन्तर ही उक्त पुरुष उक्त प्रकार के कार्यों के सम्पादन योग्य माना जाता और तब प्रजा उसे अपना राजा स्वीकार करती थी)।

तदनन्तर अन्यान्य कई प्रकार की क्रियायें होती थीं पुनः इस यज्ञ में नियमानुसार आमन्त्रित और उपस्थित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के सन्मुख राजा के आवेदन और अभिषेचन इस प्रकार होते थे :—

आवित्तोऽग्निर्गृहपतिरिति । ब्रह्म वाऽग्निस्तदेनं ब्रह्मणऽआवेदयति तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥ ३२ ॥ आवित्तोऽइन्द्रो वृद्धश्रवा इति । क्षत्रं वाऽइन्द्रस्तदेनं क्षत्रायावेदयति तदस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः सूयते ॥ ३३ ॥ आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताविति । प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्रणोदानाम्भ्यामावेदयति तावस्मै सव मनुमन्यते ताम्भ्यामनुमतः सूयते ॥

आवित्त (विज्ञापित) होता है गृहपति अग्नि (अर्थात् पूर्व के अनेक संस्कारों के हो जाने के अनन्तर गृहपति अग्नि को अध्वर्यु द्वारा राजा के विषय में विशेष सूचना दी जाती है) ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण का (दूसरा नाम) अग्नि भी है इस कारण वह (अध्वर्यु) उस (राजा को) ब्राह्मण के (सन्मुख) आवेदन करता है (विज्ञापित करता है अर्थात् बतलाता है कि इस पुरुष को राजा बनाना है) और वह (ब्राह्मण समुदाय) उस (राजा को) अपने लिये स्वीकार करता है और उस ब्राह्मण समुदाय की स्वीकृति के अनन्तर (उस राजा का) अभिषेचन होता है ॥ ३२ ॥

तदनन्तर आवित्त (विज्ञापित) होता है त्रिप्रसिद्ध इन्द्र । क्षत्र अर्थात् क्षत्रिय का (दूसरा नाम) इन्द्र भी है इस कारण वह (अध्वर्यु) उस (राजा) को क्षत्रिय के (सन्मुख) आवेदन करता है (विज्ञापित करता है अर्थात् बतलाता है कि इस पुरुष को राजा बनाना है) और (वह क्षत्रियसमुदाय) उस (राजा को) अपने लिये स्वीकार करता है और उस (क्षत्रियसमुदाय) की स्वीकृति के अनन्तर (उस राजा का) अभिषेचन होता है ॥ ३३ ॥

तदनन्तर आवित्त (विज्ञापित) होते हैं व्रतों के धारण करने वाले मित्र और वरुण । प्राण को मित्र और उदान को वरुण कहते हैं (यहां वर्णों का प्रकरण है अग्नि शब्द से ब्राह्मण, इन्द्र शब्द से क्षत्रिय का वर्णन हो चुका अतः मित्र और वरुण इन दोनों शब्दों से प्रकरणानुसार वैश्य और शूद्रों का ही ग्रहण हो सक्ता है) इस कारण वह (अध्वर्यु) उस (राजा को) प्राणवत् पोषण करने वाले वैश्य और उदानवत् कार्य करने वाले शूद्र के (सन्मुख) आवेदन करता है (विज्ञापित करता है अर्थात् बतलाता है कि इस पुरुष को राजा बनाना है) और वे (वैश्य तथा शूद्र समुदाय) उस (राजा को) अपने लिये स्वीकार करते हैं और उन (वैश्य तथा शूद्रसमुदाय) की स्वीकृति के अनन्तर (उस राजा का) अभिषेचन होता है ।

उक्त क्रियाओं से तात्पर्य यह निकलता है कि कोई भी पुरुष तब तक राजा नहीं बन सक्ता था जब तक कि राज्याभिषेक यज्ञ में नियमानुसार आमन्त्रित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रसमुदाय वा इन के प्रतिनिधि राजा बनने वाले पुरुष को अपना राजा स्वीकार नहीं कर लेते थे । इस के पश्चात् अन्यान्य भी कई क्रियायें होती थीं ।

पुनः जब राजा का अभिषेक होने लगता था तो अध्वर्यु जल से उस के शरीर का मार्जन करता हुआ कहता था “इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमिति तद्यदेवास्य जन्म तत एवै तदाहास्यै विशाऽइति यस्यै विशो राजा भवति” (शतपथ, काण्ड ९, अ० ४, ब्राह्मण २, प्रवाक ३) यह अमुक पुरुष का पुत्र अमुक स्त्री का पुत्र है अर्थात् जिन से उस ने जन्म ग्रहण किया है उन को बताता है, यह अमुक विश् अर्थात् प्रजा का है अर्थात् उस प्रजा को बताता है जिस का राजा यह बनता है ।

तदनन्तर कुछ और संस्कार होते थे फिर अध्वर्यु राजा की छाती को स्पर्श कर के कहता था “निषसाद धृतव्रत इति धृतव्रतो वै राजा न वाऽएष सर्वस्माऽइव वदनाय नसर्वस्माऽइव कर्मणे यदेव साधु वदेद्यतसाधु कुट्यात्तस्मै वाऽएष च श्रोत्रियश्चैतौ हवै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ तस्मादाह निषसाद धृतव्रत इति....” (शतपथ काण्ड ९, अ० ४, ब्राह्मण ४, प्रवाक ९) अर्थात् (प्रजा की रक्षा पोषण और वृद्धि के लिए धर्मपरायण बने रहने, पवित्र राजनियम की आज्ञा पालन करने कराने का व्रत जिस ने धारण किया है वह) धृतव्रत राजसिंहासन पर बैठ गया है, राजा का धर्म है कि वह अपने धारण किये हुए व्रतों की पालना अवश्य ही करे, अब यह न तो औरों की तरह मनमानी बातें बोल सकता और न मनमाना कार्य कर सकता है (अर्थात् इस की शक्तियां प्रतिबन्धित हैं) इसे उचित है कि अब यह उन्हीं बातों को बोले जो साधु अर्थात् (राज-नियमानुसार होने के कारण) श्रेष्ठ एवं कल्याण कारी हों तथा उन्हीं कार्यों को करे जो साधु अर्थात् श्रेष्ठ राजनियम-सङ्गत हों । क्योंकि मनुष्यों के बीच राजा और वेदों का ज्ञाता श्रोत्रिय ब्राह्मण ये ही दोनों धृत-व्रत अर्थात् प्रजा के कल्याणार्थ धारण किये हुए व्रतों वा राजनियमों की पालना भली भाँति करते हैं अतः कहा गया कि यह धृतव्रत राजा राजसिंहासन पर बैठ गया है ।

तदनन्तर कुछ और संस्कार हो कर अध्वर्यु तथा उस के साथी “एनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति । तदण्डैर्घ्नन्तो दण्डबधमतिनयन्ति तस्माद्राजा दण्डयो यदनेन दण्डबधमतिनयन्ति” (शतपथ, काण्ड ९, अ० ४, ब्राह्मण ४, अनुवाक ७) राजा के पीठ पर धीरे २ दण्ड से चोट लगाते हैं मानो उस दण्ड की चोट से (दण्डबध) अर्थात् (दण्ड-नाश) के पार राजा को ले जाते हैं (अर्थात्) सिद्ध करने हैं कि राजा के लिए दण्ड का बध वा नाश नहीं हुआ है अर्थात् वह दण्ड नाश के परे है एवं दण्ड के भीतर है) इसी कारण राजा भी (अपराध करने पर) दण्ड योग्य है क्योंकि उसे दण्डबध के पार उतारते हैं ।

जो कुछ ऊपर लिखा गया है उस से साधारण बुद्धि के मनुष्य को भी ज्ञात हो सक्ता है कि राजा प्राचीन समय में निष्प्रतिबन्ध नहीं होता था प्रत्युत उसे राज-नियमों के अनुसार ही कार्य करना पड़ता था। यदि वह राजनियम-विरुद्ध कार्य करता तो पापी एवं दण्डनीय समझा जाता था जिस के निम्नलिखित प्रमाण भी हैं:—

यदि राजा पवित्र राजनियमानुसार शासन करता है तो वह अपनी प्रजा के आयधन का छठा भाग ले सक्ता है (अन्यथा नहीं) (वाशिष्ठ १, ४२)

आपस्तम्ब सूत्र (प्र० २, पटल ११, खण्ड २८, सूत्र १३) में लिखा है कि “यदि राजा एक दण्डनीय अपराध के लिए दण्ड नहीं देता तो उसको अपराधी समझना चाहिए” ।

गौतम सूत्र (अध्याय १२, सूत्र ४८) में लिखा है कि “जो राजा न्याय-पूर्वक दण्ड देकर अपना कर्तव्य पालन नहीं करता उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये ” (नोट:—प्रायश्चित्त एक प्रकार का स्वीकृत दण्ड है) ।

वाशिष्ठ सूत्र (अध्याय १९, सूत्र ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४६) में लिखा है कि “ यदि दण्ड के योग्य कोई अपराधी छूट जाय तो राजा को एक दिन और एक रात भूखा रहना चाहिए और राजा के पुरोहित को तीन दिन और तीन रात भूखा रहना चाहिए, यदि कोई निरपराध पुरुष को दण्ड मिल जाय तो राजपुरोहित को कृच्छ्रव्रत करना चाहिए और राजा को तीन दिन तथा तीन रात्रि भूखा रहना चाहिए ब्राह्मण के मारने वाले का पाप उस पर भी पड़ता है जो उस का अन्न खाता है, व्यभिचारिणी का पाप उस के असावधान पति पर भी, ब्रह्मचारी और यजमान के पाप असावधान गुरु और यज्ञ कराने वाले पर भी और चोर का पाप उस राजा पर भी पड़ता है जो चोर के अपराधों को क्षमा करता है, अपराधी के पापों का क्षमा करने वाला राजा पाप का भागी होता है” ।

बौद्धायन सूत्र (प्र० २, अध्याय १, कण्डिका १, सूत्र १७) में लिखा है कि “ यदि राजा चोर को दण्ड नहीं देता तो चोरी का पाप राजा को लगता है ।

राजा को क्यों निष्प्रतिबन्ध न होना चाहिए इस का कारण शतपथ ब्राह्मण (काण्ड १३, प्र० २, ब्रा० ३, कं० ७ तथा ८) में इस प्रकार लिखा है:—

“राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशंघातुकः । विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ”

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीनराजवर्ग रहे तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज में

प्रवेश कर के प्रजा का नाश किया करें, जिस लिए अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्रीय विश घातुकः) प्रजा का नाशक होता है अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाए जाता है (अत्यन्त पीड़ित करता है) इस लिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए, जैसे सिंह वा मांसाहारी रिष्ट पृष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं वैसे (राष्ट्रीय विशमात्त) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता श्रीमान् को लूट मूंद अन्याय से दण्ड ले के अपना प्रयोजन पूरा करता है ।

गौतम-सूत्र अध्याय ग्यारह सूत्र १२, २०, २१ तथा २२ के देखने से बोध होता है कि राजा अपनी न्याय व्यवस्था, वेद, धर्म-शास्त्र (पवित्र राजनियम) अङ्ग तथा पुराणों (ब्राह्मणग्रन्थों) के अनुसार ही चला सक्ता था, भिन्न २ प्रान्तों वर्णों तथा वंशों सम्बन्धी नियम जो पवित्र राजनियम के प्रतिकूल नहीं उन्हें भी उसे प्रामाणिक मानना पड़ता था, कृषक, वणिक्, गड़रिए महाजन (ऋण देने वाले) और कारीगर अपने २ समूहों के विषय में यदि पवित्र राजनियम से अविरुद्ध विशेष नियम बनाते थे तो उन्हें भी राजा स्वीकार करता था । प्रत्येक वर्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधियों की सम्मति ज्ञात कर ही वह किसी विषय में राजनियमोचित निष्पत्ति दे सक्ता था ।

अतः सिद्ध हुआ कि प्राचीन समय में राजा निष्प्रतिबन्ध नहीं था । हम तो ऐसा भी समझते हैं कि प्राचीन समय में राजा की शक्तियाँ आज कल के व्यवस्था-बद्ध राजाओं की शक्तियों की अपेक्षा भी अधिकतर प्रतिबन्धित थीं क्योंकि इंग्लैंड के राजा यदि चाहें तो किसी भी अपराधी का अपराध क्षमा कर सकते हैं परन्तु प्राचीन भारतीय राजा के सम्मुख जब किसी अपराधी के अपराध क्षमा करने की बात उपस्थित होती थी वह वेदज्ञ विद्वानों की सभा की सम्मति के बिना अपराध क्षमा नहीं कर सकते थे । इस विषय में गौतम सूत्र अध्याय १२, सूत्र ११ तथा १२ में लिखा है “अपराधी के शरीरिक बल, अपराध तथा यह ज्ञात कर कि इस ने अपराध बारम्बार तो नहीं किया है अपराधी को दण्ड देना चाहिए, अपराध क्षमा तभी किया जासक्ता है जब कि वेदज्ञ विद्वानों की सभा सम्मति दे कि अपराध क्षमा करने योग्य है” ।

गौतम सूत्र के उक्त प्रमाण से यह भी बोध होता है कि राजा की सम्मति से वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा की सम्मति अधिकतर प्रतिष्ठित थी अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा की सम्मति को राजा उठा नहीं सक्ता था अतः ज्ञात होता है कि राजा

को नियमों में रखने वाली एवं उस पर दबाव डाल ने वाली भी यही वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा होगी ।

प्राचीन राजसभा और वर्तमान पार्लिमेंट—आपस्तम्बसूत्र (२, १०। २५, ५) में लिखा है कि राजा को चाहिए कि नगर से दक्षिण की ओर एक सभा भवन (हाउसआफ पार्लिमेंट) बनवाए जिस के दक्षिण और उत्तर की ओर अनेक द्वार हों ताकि भीतर और बाहर जो कुछ हो रहा हो वह दृष्टिगोचर हो सके । आपस्तम्बसूत्र (२, १०, २५ सू० ६, ७, १२ तथा १३) में जो कुछ लिखा है उस का आशय यह है कि उक्त सभा भवन को अग्निहोत्र से सदा पवित्र रखना चाहिए तथा उस में मन बहलाव के सामान भी रखने चाहिए ।

गौतम सूत्र (अध्याय ११, सूत्र १९, २०, २१, २२, २३ २४ २५) में लिखा है कि राजा को चाहिए कि अपनी न्याय व्यवस्था, वेद, धर्मशास्त्र, अङ्गों तथा पुराणों (ब्राह्मण ग्रन्थों) के अनुसार चलावे, भिन्न भिन्न प्रान्तों, वर्णों तथा वंशों सम्बन्धी नियमों को भी यदि वे धर्मशास्त्र (पवित्र सनातन राजनियम) से विरुद्ध न हों तो उन्हें भी प्रामाणिक मानें, एवं कृषक, वणिक्, गडरिए महाजन (रुपए के लेन देन करने वाले) और कारीगर जो अपने अपने समूहों के विषय में नियम बनावें उन्हें भी प्रामाणिक माने, प्रत्येक वर्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधियों की सम्मति भली भांति ज्ञात कर (वह किसी विषय में) राजानियमोचित निष्पत्ति देवे, सत्यासत्य के निर्णय के लिए (उक्त प्रतिनिधि आदि से) भली भांति तर्क वितर्क करे ताकि सत्य परिणाम पर पहुँच जाय, क्योंकि तर्क वितर्क के पश्चात् जो कुछ वह अन्तिम सम्मति देगा वह ठीक होगी, यदि तर्क वितर्क के अनन्तर भी उसे (प्रतिनिधियों के तथा अन्यों के कथन) उलझे हुए ज्ञात हों तो वह उन ब्राह्मणों (ब्राह्मण सभा) से सम्मति ले जो पवित्र त्रयी-विद्या (ज्ञान कर्म, उपासनामय वेदों) के गम्भीर ज्ञाता हों और उन की सम्मत्यनुसार अपना अन्तिम निर्णय देवे ।

वेदों का गम्भीर ज्ञाता कौन कहलाता है इस विषय में इसी गौतम सूत्र के अध्याय ८, सूत्र ४, ५, ६, ७ में लिखा है “वेदों का गम्भीर ज्ञाता वह है जो सांसारिक चक्रों (संसार की रीति भांति चलन व्यवहार, भिन्न २ प्रकार के मनुष्यों की शिष्टता का तथा कुटिलता इत्यादि इत्यादि) से अभिज्ञ हो, वेदों और वेदाङ्गों का ज्ञाता हो जो तर्क वितर्क तथा इतिहास और पुराणों (ब्राह्मण ग्रन्थों) में निपुण

हो जो उक्त वेदादि को ही प्रामाणिक मानता हो और जो अपना जीवन उक्त वेदादि की शिक्षानुसार ही (अति पवित्र) व्यतीत करता हो ।

ऐसे अनेक ब्राह्मण जिस सभा में हों उसे ब्राह्मणसभा वा ब्राह्मण-परिषद् कहते थे ।

उक्त लेखों से स्पष्ट विदित होता है कि राजा की राजधानी में सभाभवन बना रहता था । प्रजा के प्रतिनिधियों से सम्मति लेकर राजा वेद तथा धर्म शास्त्रादि अनुसार निर्णय करता था । जिस विषय में प्रतिनिधियों तथा अन्यो की सम्मति उलझी हुई रहती थी उस विषय में राजा ब्राह्मण-सभा की सम्मति लेता और तब निर्णय कर सकता था ।

जो कोई ऐतिहासिक बुद्धि का मनुष्य उक्त प्रमाणों को ध्यान-पूर्वक पढ़ेगा वह हमारे इस कथन के साथ अवश्य सम्मत होगा कि प्राचीन समय में भारतवर्ष का राज्य प्रजातन्त्र था । शोक है अभी तक हमें वे इतिहास नहीं मिल सके जिन से यह पता लगता कि उस समय प्रतिनिधियों का निर्वाचन किस प्रकार होता था जिस से हम यह निर्णय कर सके कि उस समय की राजसभाओं तथा वर्तमान पार्लिमेंटों के निर्वाचन में क्या अन्तर है। तथापि धर्म सूत्रों के देखने से निम्नलिखित भेद अवश्य प्रतीत होते हैं:—

आज कल सभ्यताभिमानी देशों की राज्य सभाओं में सब विषयों का निर्णय बहुपक्षानुसार होता है और विद्वान् से विद्वान् राजनीतिज्ञ तथा मूर्ख से मूर्ख कृषक की सम्मतियां पार्लिमेंट के सभ्यों के निर्वाचन में समान ही समझी जाती हैं । और पार्लिमेंट में भी सम्मति देते हुए एक साधारण सभासद् और एक विशालबुद्धि राजनीतिज्ञ की सम्मति भी समान ही मानी जाती है । इस रीति में बड़ा दोष यह है कि जब कभी कोई ऐसा राजनियम सभा के सन्मुख स्वीकृत होने को आता है जिस पर विचार करने के लिए सूक्ष्मबुद्धि और अनुभवी मस्तिष्क की आवश्यकता हो अर्थात् जिसे साधारण बुद्धि के सभासद् न समझ सकते हों तो बहुवार बहुपक्षानुसार राज्य-सभाएं उट पटाङ्ग राजनियम पास कर देती हैं जिस से देश और जाति को बड़ी हानि पहुंचती है । साधारण बुद्धि के सभासदों की इस अन्याधुन्ध कार्यवाही पर किसी प्रकार का व्यवस्थापक प्रतिबन्ध नहीं है और यदि किसी देश में कोई प्रतिबन्ध है भी तो वह उस अन्याधुन्ध के रोकने में असमर्थ है ।

उदाहरण के लिए इङ्गलिस्तान की व्यवस्था पर ही विचार कीजिए । वहां कोई राजनियम तब तक स्वीकृत नहीं समझा जाता जब तक कि वह सर्वसाधारण प्रतिनिधि सभा (House of Commons) तथा भूमि-स्वामियों की सभा (House of Lords) में स्वीकृत न हो जावे (पास न होले) । कोई बुद्धिमान् पुरुष यह नहीं कह सक्ता कि लार्डों की सभा, कामंस की सभा के विचार सम्बन्धी दोषों का प्रतिकार कर सकती है । क्योंकि यह तो सम्भव है कि कामंस की सभा में विद्या और बुद्धि की बातें मान्य की दृष्टि से देखी जावें क्योंकि उस के सभासद् सर्वसाधारण के द्वारा चुने जाते हैं और उन को यह भी भय रहता है कि यदि उन से कोई मूर्खता हुई और उस का परिणाम देश का साधारण अवस्था पर प्रत्यक्ष रूप से हानिकारक सिद्ध हुआ तो वह पदच्युत किए जावेंगे परन्तु लार्ड सभा के सभ्यों को इस प्रकार का कोई भय नहीं है क्योंकि वह लार्ड घराने में जन्मधारण करने के कारण ही लार्ड सभा के सभासद् बने हुए हैं । आश्चर्य्य है कि एक लार्ड का पुत्र चाहे वह निर्बुद्धि निरक्षरभट्टाचार्य्य और दुराचारी ही क्यों न हो तो भी देश के राजनियमों का निर्णय करने में सम्मति देने का अधिकार रखता है ।

प्राचीन आर्य्यावर्त में जहां साधारण विषयों के सम्बन्ध में वही लोग राजनियम बनाते थे जिन पर उन नियमों का विशेष प्रभाव पड़ता था, विशेषावस्थाओं में अन्तिम-निर्णय का अधिकार ब्राह्मणों (ब्राह्मण-सभा) को था । ब्राह्मण किसी जाति विशेष का नाम न था प्रत्युत् ब्राह्मण और विद्वान् धर्मात्मा पर्यायवाची शब्द थे । जिस काल का हम इतिहास लिख रहे हैं उस काल के साहित्य में स्पष्टतः उपदेश है कि ब्राह्मणको पवित्र तथा साधारण जीवन व्यतीत करना चाहिए और उसे धनी बनने का यत्न करना कभी भी उचित नहीं है । वाशिष्ठसूत्र (अध्याय ६ सूत्र २३ तथा २५) में लिखा है कि वे सब गुण जिन से एक ब्राह्मण पहचाना जाता है ये हैं “ योगसाधन, तपस्या, इन्द्रियदमन, उदारभाव, सत्यशीलता, (मन, वचन, कर्म की) पवित्रता, पवित्र (वेदों का ज्ञान, दयालुता, सांसारिक विद्याओं और व्यवहारों का ज्ञान, प्रज्ञाशालिता वा तीक्ष्णबुद्धिमत्ता, परमात्मा और परलोक में विश्वास (अर्थात् ये सब गुण जिन में होते थे वे ही ब्राह्मण माने जाते थे) । ऐसे ही ब्राह्मण जो मनोविकारों से रहित हांते हैं, तप में निश्चल होते हैं, जिन के कान वेदमन्त्रों से भरे हुए हैं, जिन की ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां वश में आचुकी हैं, जो किसी भी प्राणी से द्रोह नहीं करते और जो दान मिलते समय भी अपने हाथ बन्द कर लेते हैं अर्थात् किसी से भी दान नहीं लेते, सब की रक्षा कर सक्ते हैं । ”

अतः सिद्ध हुआ कि अन्तिम निश्चय ऐसे लोगों के हाथ में था जो धर्मात्मा, विद्वान्, निष्पक्ष और स्वार्थरहित थे ।

बौद्धायन सूत्र (१, १, १, सूत्र ९) में लिखा है कि सहस्र मूर्खों की सम्मति की अपेक्षा एक भी धर्मात्मा ब्राह्मण की सम्मति अधिक आदरणीय है । परन्तु बौद्धायन सूत्र (१, १, १, सूत्र १६) में लिखा है कि कई सहस्र (नाम मात्र के ब्राह्मणों का समूह भी राज्यनियम-निर्णायक-परिषद् नहीं कहला सकता, यदि वे अपने पवित्र कर्तव्यों (महायज्ञों और यज्ञों के अनुष्ठानादि का पालन नहीं करते हों, वेद न जानते हों, और केवल ब्राह्मणवंश में जन्मे हों ।

आहा ! राज्यप्रबन्ध की यह कैसी आदर्श रीति है ! राज्यनियम-व्यवस्था सर्व-साधारण के प्रतिनिधियों के हाथ में तो थी परन्तु उन की बुद्धि के दोषों के निवारणार्थ तथा अल्पक्ष की रक्षा के लिए उक्त व्यवस्थाओं की प्रत्याख्या वा संशोधन का अधिकार देश के बड़े २ धर्मात्मा विद्वानों की परिषद् को था ।

शोक है कि इस राज्यप्रबन्ध के विषय में इस समय हमें अधिक ज्ञान नहीं है परन्तु इस में सन्देह नहीं कि इस का मौलिक सिद्धान्त स्वर्णाय है और यदि सम्य संसार में इस का आभ्यासिक प्रचार हो जावे तो राजनियम-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का अन्तिम निर्णय भी हो सकता है ।

प्रबन्ध (Executive) विभाग तथा न्याय (judicial) विभाग आज कल कई सम्य देशों में और विशेष कर इंग्लैण्ड में न्यायविभाग प्रबन्धविभाग से बिल्कुल भिन्न है और ऐसा होना अति उत्तम है ।

क्योंकि यदि उभयाधिकारप्राप्त विचाराधिपति बड़ा ज्ञानी और धर्मात्मा भी हो तो भी अपने मन के आवेशों के आधीन होने के कारण हर समय पूर्ण निष्पक्षता से न्यायव्यवस्थानुसार अभियोगों का निर्णय उस के लिये कुछ कठिन हो जाता है । जब एक मनुष्य पुलिस के मुखिया की स्थिति में एक दोषी को पकड़वाता है और उस के विरुद्ध साक्षी एकत्रित करता वा कराता है और फिर न्यायकर्ता की स्थिति में अपने ही उपस्थित किए हुए अभियोग का निर्णय करने बैठता है तो ठीक परिणाम पर पहुँचने में उसे कुछ कठिनाई अवश्य होती है इस लिये आदर्श व्यवस्था वही है जो इङ्गलिस्तान में प्रचलित है और जो इङ्गलिश जाति की उच्च सम्यता का एक बड़ा प्रमाण है ।

प्राचीनभारतवर्ष में दोनों विभाग पृथक् २ थे । आपस्तम्ब सूत्र के २ प्रश्न के १० पटल के २६ खण्ड में प्रबन्धविभाग के राज-पुरुषों का वर्णन है जिन के कई कर्तव्यों के साथ निम्नलिखित कर्तव्य भी बतलाए गए हैं:—

(१) चोरों से नगर की रक्षा करनी ।

(२) शुल्क अर्थात् टैक्सों का इकट्ठा करना ।

उक्त २६ खण्ड में यह भी लिखा है कि प्रबन्ध विभाग के पदों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों के पुरुष नियत हो सक्ते हैं । परन्तु यह नियम साधारणतः प्रचरित नहीं था प्रत्युत विशेष २ अवस्थाओं में प्रयुक्त होता था । क्योंकि क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह वेदाध्ययन करे, यज्ञ करे, उदार हो, शस्त्रों को चलाए और शासन की उन्नति के लिए अपने बल को व्यय करे और एक प्रबन्धकर्त्ता के लिए आवश्यक है कि वह शस्त्रों को धारण करे और ब्राह्मण तथा वैश्य आपत्काल को छोड़ अन्य समयों में शस्त्र धारण नहीं करते थे (जैसा कि बौद्धायन सूत्र २, २, ४, १६, १७, १८ से ज्ञात होता है) अतः सिद्ध होता है कि प्रबन्धविभाग के पदों पर प्रायः क्षत्रिय ही नियुक्त हुआ करते थे ।

न्यायाधीशों का वर्णन सूत्रग्रन्थों के अनेक स्थलों में आया है । आपस्तम्बसूत्र के दूसरे प्रश्न के ग्यारहवें पटल के २९ उन्तीसवें खण्ड में न्यायाधीशों के जो गुण बतलाए गए हैं उन में प्रबन्ध एवं रक्षा का नाम नहीं है । वहां लिखा है कि “पूर्ण विद्वान्, पवित्र-कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्तव्यों के पालन में जो सावधान हों उन्हीं को अभियोगों के निर्णय के लिए न्यायाधीश बनाना चाहिए” (आपस्तम्ब २, ११, २९, ९) । और क्योंकि उक्तगुण प्रायः ब्राह्मणों में ही पाए जाते थे इस कारण न्यायाधीशों के पदों को ब्राह्मण ही सुशाभित किया करते थे ।

जिन राज्यनियम व्यवस्थाओं का निश्चय पूर्णविचार के पश्चात् ब्राह्मणों की महती परिषदों में होता था उन के अर्थों में शङ्का उपस्थित होने पर अथवा उन के परस्पर सम्बन्ध ज्ञात न होने पर अथवा उन के अन्यान्य प्रकारों से विवादास्पद होने पर इन का यथार्थार्थ दशावरा-सभा बतलाती थी । इस दशावरा सभा में जो दश-सभासद् होते थे उन में से चार सभासद् तो चारों वेदों के ज्ञाता होते थे, एक मीमांसक, एक वेदाङ्गों का ज्ञाता, एक धर्मशास्त्रों अर्थात् राजनियमों का जानने वाला और तीन आश्रमों के तीन पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण सभासद् होते थे (बौद्धायन १, १, १, ८) ।

वाशिष्ठ अध्याय १६ सूत्र २ में लिखा है कि राजमन्त्री वा स्वयम् राजा भी अभियोगों का निर्णय किया करे । इस से ज्ञात होता है कि बड़े २ अभियोग राजा के द्वारा भी निर्णित होते थे ।

वाशिष्ठ अध्याय १ सूत्र ४० तथा ४१ में लिखा है कि ब्राह्मण (धार्मिक विद्वान् लोग) सब के कर्तव्य बतलाएंगे और राजा तदनुसार ही सब का शासन करेगा ।

अतः न्यायाधीश चाहे कोई ब्राह्मण हो वा राज-मन्त्री वा स्वयम् राजा सब को ब्राह्मणों अर्थात् (धार्मिक विद्वानों) की महती सभा द्वारा निर्धारित राज्यव्यवस्थाओं के अनुसार (जो राज्यव्यवस्थाएं कि सदा वेदानुकूल होती थीं) निष्पत्ति देनी पड़ती थी ॥

भिन्न २ आचार्यों के मत—यद्यपि राजनियम सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों में सब आचार्य्य सहमत थे तदपि विशेष २ बातों में जिन का मूल सिद्धान्तों के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होता था वे भिन्न २ सम्मतियां रखते थे और यह न्यायाधीश के अधिकार में होता था कि किसी विशेष अभियोग के निर्णय करने में दोषी विशेष के स्वभाव, मानसिक और शारीरिक वैचित्र्य का ध्यान रखता हुआ किसी आचार्य्य की सम्मति के अनुसार दण्ड देवे । धर्म-व्यवस्थाओं के ज्ञाता आपस्तम्ब गौतम, वाशिष्ठ और बौद्धायन नाम के चार जो बड़े २ आचार्य्य थे वे मूल सिद्धान्तों में किस प्रकार सहमत थे और गौण बातों में किस प्रकार उन का मत भेद था यह हम नीचे दर्शाते हैं:—

आपस्तम्ब सूत्र अध्याय १, पटल १, खं० १, सूत्र २ तथा ३ में लिखा है “यह धर्म व्यवस्थाएं प्रामाणिक इस कारण हैं कि धर्म-व्यवस्थाओं के जानने वालों का इन के विषय में एक सम्मति है । और धर्म-व्यवस्थाओं के जानने वालों का प्रामाणिक सम्मति का आधार वेद है ।”

गौतम सूत्र अध्याय १, सूत्र १ तथा २ में लिखा है “ धर्म-व्याख्याओं का मूल स्थान वेद है तथा वेदज्ञों के इतिहास वा (स्मृति) तथा आचार से भी (अर्थात् वेदज्ञों के इतिहास वा स्मृति तथा आचार से भी धर्मव्यवस्थाएं निकली हैं) ”

वाशिष्ठ सूत्र अध्याय १ सूत्र ४ तथा ५ में लिखा है “ धर्म-व्यवस्थाओं का निश्चय, ईश्वरीय-ज्ञान (वेद) तथा ज्ञानियों के इतिहास वा स्मृतियों से होता है । यदि इन से निश्चय न हो सके तो शिष्टों का आचार ही प्रामाणिक (एवं अत्रकरीय है ।”

वाशिष्ठ सूत्र अध्याय १ सूत्र १७ में लिखा है “मनु की आज्ञा है कि देशों, जातियों तथा वंशों की विशेष रीतियों का अनुसरण करना चाहिए (यदि वे वेद विरुद्ध न हों) यदि किसी विशेष सम्बन्ध में ईश्वरीय-ज्ञान (वेद) की आज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञात न होती हो । ”

गौतम सूत्र अध्याय १ सूत्र ४ में लिखा है “यदि समान योग्यता रखने वाले आचार्यों में मत-भेद हो तो (न्यायाधीश को अधिकार है कि) जिस सम्मति को चाहे स्वीकार कर लेवे । ”

बौद्धायन सूत्र के प्रथम प्रश्न के प्रथमाध्याय की प्रथम कण्डिका के सूत्र १, २, ३, ४ में लिखा है “धर्म व्यवस्था प्रत्येक वेद में बनलाई गई है । हम धर्म-व्यवस्था की व्याख्या वेदानुकूल ही करेंगे । स्मृतियों की धर्मव्यवस्था की प्रामाणिकता द्वितीय कोटि की है । शिष्टों के आचर की प्रामाणिकता तृतीय कोटि की है । ”

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सब आचार्य वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे अर्थात् जिन मूल सिद्धान्तों का वर्णन वेद करता है उन के विषय में वे एक मत थे केवल गौण विषयों में यथा किसी साधारण अपराध के दण्डादि विषयों में (अपराधी की अवस्थादि भेदों के कारण) मत-भेद रखते थे ।

ब्राह्मणों तथा शूद्रों के साथ निष्पक्ष बर्ताव—प्राचीन राजनियम-व्यवस्था के निर्माताओं पर विदेशी ऐतिहासिकों का एक बड़ा आक्षेप यह है कि क्योंकि राजनियम-व्यवस्थापक ब्राह्मण थे अतः वे पक्षपात से अन्ध होकर ऐसे नियम बना गए हैं जिन से ब्राह्मणों के ऊपर अनुचित कृपा तथा शूद्रों के ऊपर अनुचित कठोरता टपकती है । इस में सन्देह नहीं कि मनुस्मृति में कुछ ऐसे प्रक्षिप्त श्लोक हैं जिन से पक्षपात सिद्ध होता है (जिन की पूरी समीक्षा मनुस्मृति के परिच्छेद में की जायगी) परन्तु सूत्र ग्रन्थों के अवलोकन से विदेशी ऐतिहासिकों के आक्षेप सर्वथा ही निर्मूल सिद्ध होते हैं । सूत्र ग्रन्थों में लिखा है:—

वे (ब्राह्मण नाम धारी) जो वेदों का पठनपाठन नहीं करते और न यज्ञ करते हैं शूद्रों के समान हैं (वासिष्ठ अध्याय ३, सूत्र १)

यदि कोई मनुष्य उस आततायी को मार डाले जो किसी को बध करने को आता हो तो ब्रह्महत्या का पाप नहीं लगता चाहे वह आततायी वेद और उपनिषदों को भी क्यों न पढ़ा हो (वासिष्ठ अध्याय ३ सूत्र १७)

न तप, न वेदाध्ययन, न अग्निहोत्र, न दान उस मनुष्य को बचा सक्तं हैं जो

दुष्ट है और जो धर्म-पथ से विचल गया है (वाशिष्ठ, अध्याय ६, सूत्र २)

वेद उस मनुष्य को पवित्र नहीं करते जो आचार हीन है चाहे उस ने सब वेदों को अङ्गों सहित पढ़ लिया हो । मृत्यु समय वेद के मन्त्र उस मनुष्य से उस प्रकार भाग जाते हैं जिस प्रकार कि वे पक्षी जिन्हें पूरे पंख आजाते हैं और अपने घोंसलों से उड़ जाते हैं (वाशिष्ठ अध्याय ६, सूत्र ३)

यदि कोई ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का बध करे अथवा अपनी गुरुपत्नी की शय्या की मर्यादा तोड़े अथवा किसी ब्राह्मण का धन चोरोवे, अथवा सुरापान करे तो राजा को चाहिये कि उस अपराधी के ललाट पर तप्त लोहे से “शिर्परहित-शरीर” (धड़) का चिन्ह, अथवा—स्त्री के का चिन्ह, अथवा एक शृगाल का चिन्ह अथवा मदिरा की दूकान का चिन्ह अङ्कित करादे और उसे अपने देश से बहिष्कृत कर दे (बौद्धायन १, १०, १८, १८)

यदि ब्राह्मण किसी क्षत्रिय को गाली दे तो उसे ९० पचास कार्पाण का दण्ड होना चाहिए (गौतम १२, १०, ११)

यदि कोई शूद्र अधर्म से अर्थात् चोरी से किसी की वस्तु लें तो उस शूद्र को उस वस्तु का अष्टगुण मूल्य देना पड़ेगा परन्तु चोरी की हुई वस्तु का मूल्य ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य चोर को शूद्र चोर से द्विगुण (अर्थात् अष्टगुण वा द्विगुण अर्थात् सोलह गुण) देना पड़ेगा । यदि कोई महाविद्वान् अपराध करे तो उस के लिए दण्ड (औरों की अपेक्षा) बहुत अधिक बढ़ाया जाय (गौतम अध्याय १२, सूत्र १९, १६, १७)

क्या इन प्रमाणों को पढ़ कर कोई विचारशील यह कह सकता है कि ब्राह्मणों (धार्मिक विद्वानों ने जो राजनियम बनाए थे उन से ब्राह्मणों को अनुचित लाभ तथा अन्य वर्णों के लोगों को अनुचित हानि पहुंचती थी ? प्रत्युत इन के पढ़ने से तो यह ज्ञात होता है कि चोरी आदि अतिनीच अपराधों के लिए ब्राह्मणों को शूद्रों की अपेक्षा द्विगुण दण्ड भोगना पड़ता था । हां यह अवश्य ठीक है कि यदि ब्राह्मण शूद्र को कभी कटुवचन से भी बोलाता था तो ब्राह्मण को कोई दण्ड नहीं मिलता था परन्तु यदि शूद्र ब्राह्मण का अपमान करता था तो शूद्र को काठिन दण्ड मिलता था, परन्तु मानुषाप्रकृति का ज्ञाता कोई भी पुरुष इस से पक्षपात का गन्ध नहीं निकाल सकता क्योंकि शूद्र वा मूढ़ पुरुष में आत्मसन्मान का भाव प्रायः विलुप्त ही होता है अतः यदि वह कोई कटुवचन सुनता है तो उस की मानसिक अवस्था में कोई

विशेष परिवर्तन नहीं होता परन्तु यदि किसी विद्वान् पुरुष पर जब कि वह किसी दार्शनिक विचार में संलग्न हो कोई मूढ़ निर्बुद्धि अर्थात् शूद्र कटुवचनों का प्रहार करने लगे तो उस विद्वान् के सब विचार मिट्टी में मिल जाते हैं और उस की मानसिक अवस्था उस समय तथा कुछ काल पीछे तक ऐसी डाँवाडोल हो जाती है कि वह कुछ देर तक कोई भी विचार सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकता । सारांश यह है कि निर्बुद्धि और मूढ़ पुरुषों का जीवन प्रायः पशुजीवन जैसा होता है और इस कारण उन में मनके सूक्ष्म आवेशों का अभाव होता है और विद्वानों का जीवन प्रायः मरिक्क-क्रिया सम्बन्धी जीवन होता है जिस कारण वे उक्त प्रकार के अपमानों को अधिक अनुभव करते हैं ।

मृत्युदण्ड तथा प्रायश्चित्त—यूरोप में कुछ दिनों से इस विषय पर मनोरञ्जक विचार चल रहा है कि नर-घातक पापियों को मृत्युदण्ड देना चाहिये वां नहीं । इस विषय में कई प्राचीन आर्य विद्वानों की सम्मति है कि यथासम्भव मृत्युदण्ड देना ठीक नहीं है क्योंकि राजनियम-व्यवस्था का उद्देश्य यह कदापि नहीं है कि अपराधी से बदला लिया जावे प्रत्युत उस का उद्देश्य यह है कि अपराधी को समुचितदण्ड से ऐसा सुधारा जावे कि अपराधी के आत्मा के नाचसंस्कार दूर हों और वह देश तथा समाज के लिए एक विशेषायोगी व्यक्ति बन जावे और क्योंकि यह अभीष्ट समुचित प्रायश्चित्तों से पूरा हो सकता है अतः प्रायश्चित्तों के द्वारा यदि अपराधियों के कुसंस्कार दूर किए जावें तो पारिणाम अति उत्तम निकले । मृत्युदण्ड के समर्थक कहते हैं कि मृत्युदण्ड भी अपराधी से बदला लेने के अधिप्राय से नहीं दिया जाता प्रत्युत इस लिए कि अन्यान्य मनुष्य इस कठोर दण्ड से शिक्षा ग्रहण करें अर्थात् ऐसे पाप करने से डरें और संसार में पाप का हास और उत्तम कर्मों की वृद्धि होवे । हमारी सम्मति में “अमुक पुरुष फाँसी पर चढ़ा दिया गया” यह समाचार मनुष्यों के मन में पाप से उतनी घृणा उत्पन्न नहीं करता जितनी घृणा कि अपराधी को प्रायश्चित्तरूपी अतिघृणित और अपमान-युक्त जीवन व्यतीत करते हुए देख कर लोगों के हृदय में उत्पन्न होती है । प्राचीन समय में कई आचार्य मृत्यु-दण्ड को अनावश्यक समझते थे और नर-घातक अपराधी से अतिकठोर प्रायश्चित्त कराने की विधि बतलाते थे । आपस्तम्बसूत्र में उस पुरुष की अभिशास्त संज्ञा मानी गई है जिस ने ब्रह्महत्या की हो वा जो भ्रणघाती हो अथवा जिस ने

किसी ऋतुमती स्त्री का बध किया हो, और उक्त पुस्तक के प्रथम प्रश्नके, ९ पटल के, २४ खण्ड में अभिशस्त के लिये निम्नलिखित प्रायश्चित्त बतलाया गया है:—

अभिशस्त को चाहिये कि वह स्वयम् जङ्गल में एक झोंपड़ी (अपने रहने के के लिये) बनावे, मितभाषणव्रत धारण करे, (एक लष्टिका पर) उस मनुष्य की खोपड़ी रखे जिसे उसने बध किया हो और उसे झंडा की तरह धारण करे, और नाभि से घुटनों तक एक टुकड़ा सणवस्त्र का पहने, जब वह ग्राम को जावे तो गाड़ी के पहियों के चिन्हों के बीच बीच चले और रास्ते में यदि कोई आर्य्य मिल जावे तो दो गज परे हट जावे, ग्राम में जाते हुए एक निकृष्ट धात का दूदा हुआ पात्र अपने हाथ में लेले और क्रमशः मात घरों में यह कहता हुआ कि “अभिशस्त को भिक्षा कौन देगा ?” भिक्षा मांग उसाभिक्षा में अपना जीवन रखे, यदि मात घरों से भी भिक्षा न मिले तो उपवास करे और इस प्रकार प्रायश्चित्त करता हुआ गायों को चरावे, (सन्ध्या समय जङ्गल छोड़) जब गायों ग्राम में प्रवेश करें तो (गायों को गांव में पहुंचाने मात्र के लिए) अभिशस्त भी गांव में जा सकता है (अर्थात् अभिशस्त केवल दो बार गांव में जा सकता है एक तो भिक्षा मांगने के समय और द्वितीय गायों को गांव में पहुंचाने के समय), बारह वर्षों तक इस प्रकार प्रायश्चित्त करता हुआ अन्त में उम संस्कार को करे जिस के द्वारा वह पुनः आर्य्यों की पंक्ति में प्रवेश कर सकता है अथवा बारह वर्षों तक प्रायश्चित्त कर के वह अपनी झोंपड़ी वहां बनावे जहां से डाकू लोग आते जाते हैं और उस झोंपड़ी में रहता हुआ डाकूओं से ब्राह्मणों की गायों छुड़ाने का यत्न करे, यदि वह उक्त डाकूओं से लड़ता हुआ तीन बार पराजित हो जावे अथवा जब कि वह डाकूओं को दमन कर दे तो उस के पाप छूट जाते हैं परन्तु यदि अभिशस्त ऐसा है जिसने गुरु अथवा उस ब्राह्मण का बध किया है जिस ने वेदों का अध्ययन किया हो तथा सोमयाग की क्रियाओं को पूर्ण किया हो तो वह उक्त प्रकार का प्रायश्चित्त अपने अन्तिम श्वास तक करता रहे क्योंकि वह इस जन्म में शुद्ध नहीं हो सकता हां मरे पश्चात् उस के पापों की निवृत्ति हो जाती है (आपस्तम्बसूत्र, प्रश्न १ पटल ९ खण्ड २४ सूत्र ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २४, २५)

जिसने भ्रूणहत्या की हो उसे कुत्ते वा गधे का चर्म ओढ़ना चाहिये (चमड़े के बाल बाहर की ओर रहें) और मरे हुए मनुष्य की खोपड़ी को अपना जलपात्र बनाना चाहिए (आपस्तम्ब, १, १०, २८, २१)

और उस भ्रूणहत्या करने वाले को दण्ड के स्थान में चारपाई का एक पाया हाथ में लेकर अपने कुकर्मकी घोषणा करते हुए और यह कहते हुए कि "भ्रूणहत्या करने वाले को कौन भिक्षा देगा?" भिक्षा मांगनी चाहिए और ग्राम से भिक्षा प्राप्त कर उसे (ग्राम से दूर) किसी वृक्ष के नीचे अथवा किसी रिक्त (खाली) घर में निवास करना चाहिए और उसे आर्यों के साथ किसी प्रकार का व्यवहार करना नहीं चाहिए, और अपने अन्तिमश्वास तक उसे इसी प्रकार आचरण करना चाहिए । उसकी शुद्धि इस जन्म में तो हो नहीं सकती परन्तु मृत्यु के पश्चात् उन का पाप उस से छूट जाता है (आपस्तम्ब, १. १०, २९, १) ।

परन्तु अभिशस्त (महापातकी) लोग ग्राम से बाहर ज्ञोपाइयाँ बना कर एक साथ रह सक्त हैं यह समझते हुए कि इस प्रकार रहना न्यायावुक्त है । ये एक दूसरे के लिए यज्ञ भी कर सक्त हैं, एक दूसरे को पढ़ा भी सक्त हैं और परस्पर में विवाह भी कर सक्त हैं । यदि उन के पुत्र उत्पन्न हों तो वे अपने पुत्रों से कहें कि तुम हमारे यहां से चले जावो क्योंकि आर्य्य तुम को अपने में प्राक्षिप्त कर लेंगे । क्योंकि मनुष्य के साथ उसके अङ्ग अशुद्ध नहीं हो जाते जिस प्रकार कि अङ्गहीन मनुष्य ऐसा पुत्र उत्पन्न कर सक्ता है कि जिस के सब अङ्ग पूर्ण हों (आपस्तम्ब, १, १०, २९. ८. ९, १०, ११)

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्टतः सिद्ध है कि प्राचीन समय में सब अवस्थाओं में मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था किन्तु कई अवस्थाओं में उस का स्थानापन्न प्रायश्चित्त था । अर्थात्तः से यह भी सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में पिता के अपराधों के लिए पुत्र को दण्ड नहीं दिया जाता था । आज बल पौराणिक भ्राताओं में देखा जाता है कि यदि किसी मनुष्य को भिगदरी से पृथक् कर दिया जावे तो उस के पुत्र और पौत्र भी दण्ड के भागी समझे जाते हैं । यह घोर अन्याय है । आर्यों के वंशजों की वर्तमान गिरी हुई अवस्था को देख कर कतिपय योरोपीय विद्वानों ने यह वृथा बल्पना करली है कि जात पात की वर्तमान कुव्यवस्था आर्यों में प्राचीन काल से चली आती है और कम से कम सूत्रग्रन्थों के समय से यह अवश्य ही प्रचलित हुई है । शोक है कि पञ्जाब के एक नैतिक और धार्मिक नेता ने भी "प्राचीन आर्योंवर्त की तहजीब" नाम से जो एक पुस्तक प्रकाशित की है उस में यह लिखा है कि सूत्र-ग्रन्थों के समय में जन्म से वर्णव्यवस्था की कुरीति आरम्भ हुई । यह देशबद्धा अभागी है जिस के नेता अपने प्राचीन

इतिहास के विषय में स्वयं अन्वेषण (खोज) करने के स्थान में विदेशियों की बतलाई हुई बातों पर बिना भली भाँति विचार किए हुए विश्वास कर लेते हैं । क्या संसार में कोई और भी सभ्य देश है जिस के सुशिक्षितवासी अपने प्राचीन काल के गौरव का विदंशी-बुद्धि नेत्र से देखना अपने लिए अभिमान का कारण समझते हों ? क्या कोई बुद्धिमान् पुरुष कह सकता है कि जिस जाति में अभिशास्त तक के पत्र आर्य्य बन सक्ते थे उस में जन्म से जात पात की व्यवस्था वर्तमान हो अथवा शूद्र कुलोत्पन्न पुरुषों पर अत्याचार किया जाता हो ?

आज कल मनुष्य-बध के लिए जो मृत्यु-दण्ड दिया जाता है यदि उस के इतिहास पर विचार किया जाय तो पता लगेगा कि यह असभ्य देशों के उस समय की रीतियों का शेष है जब कि लोग "दांत तोड़ने का प्रतिकार (बदला आंख फोड़ना)" समझते थे । उन दिनों जब कोई किसी को मार डालता था तो समझा जाता था कि यदि प्राण के बदले प्राण न लिया जाय तो राजनियमों का आशय पूरा नहीं हो सक्ता । असभ्य जातियों में अब भी दण्ड का आशय यहाँ समझा जाता है कि अपराधी पुरुष से बदला लिया जाय । कई असभ्य जातियों में यह रीति प्रचरित है कि यदि कोई मनुष्य किसी को मार डालता है तो मृतपुरुष का परिवार या तो घातक को मार डालता है अथवा उस से कुछ धन ले लेता है । योरोप में जब सभ्यता बढ़ी तो वहाँ के विद्वान् राज-व्यवस्थापकों ने मृत्यु-दण्ड के औचित्य विषय पर विचार करना आरम्भ किया और तर्क करन लगे कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात इस कारण करता है कि उस के विचार में जीवन से बढ़ कर अन्य कोई भी वस्तु मनुष्य को प्रिय नहीं है अतः जब तक घातक का भी जीवन नहीं लिया जाता तब तक लोग मनुष्य-बध से पूर्ण भय नहीं कर सक्ते ।

परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि संसार में ऐसे भी मनुष्य बहुत हैं जो अपमान से मृत्यु को अच्छा समझते हैं और बहुत से घातक ऐसे भी होते हैं जो किसी मनुष्य का बध कर के स्वयम् पुलिस के निकट उपस्थित हो जाते हैं । यथा भारत की पश्चिमी सीमा के सरहद्दी गाज़ा जो विशेष २ समयों में अपने मत-विरोधी काफ़िरों को मार बध-दण्ड पाने के लिये स्वयम् पुलिस के निकट आ जाते और अपने अपराध के लिए फौसी पाते समय समझते हैं कि मर कर वह जरूर ही बहिश्त में जायेंगे ।

ऐसे घातकों को (जो अपमान से मृत्यु को अच्छा समझते अथवा जो मरने के लिए स्वयम् उद्यत हैं) मृत्यु-दण्ड देने से न तो उन घातकों का पश्चात्ताप होता है और न उन की तरह भाव रखने वाले अन्य पुरुषों को मृत्यु-दण्ड से भय होता है । ऐसे पुरुषों को दमन करने के लिए हमारी ब्रिटिश गवर्नमेंट यदि ऋषि प्रणाली को अनुमरण करे अर्थात् ऐसे घातकों को यदि अभिशक्तों जैसा अपमानप्रय जीवन व्यतीत करने पर वाध्य करे तो आशा है कि विशेष उत्तम फल निकलेगा ।

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं वास्तविक बात यह है कि योरोप के लोग पहले दण्ड के वास्तविक अभिप्राय को नहीं समझते थे परन्तु हमारे प्राचीन-ऋषि दण्ड के वास्तविक आशय जानते थे इसी कारण उन्होंने जहाँ विशेष २ अवस्थाओं में मृत्यु-दण्ड बतलाया है वहाँ दूसरी अवस्थाओं में उस का स्थानापन्न भी बतला दिया है ।

“दण्ड” शब्द का व्युत्पत्ति “दण्ड” दमने धातु से हुई है । गौतम सूत्र अध्याय ११ सूत्र २८ में जो कुछ लिखा है उस का तात्पर्य यह है कि “दण्ड” उसे कहते हैं “यो दमयति” अर्थात् जो दमन करता है अतः जो लोग स्वयम् अपने को (कुकर्मों से) रोक नहीं सक्त उन्हें दण्ड (कुकर्मों से) रोकता है । ”

अतः दण्ड शब्द ही यह बतलाता है कि प्राचीन आर्य्य दण्ड के उस उच्च आशय को समझते थे जिस का कई शताब्दियों तक सम्य योरोपवासियों को ज्ञान भी न था । दण्ड के विषय में जो उन का (आर्य्यों का) विचार था उस में क्योंकि प्रतिद्रोह (बदला लेने) का भाव सर्वथा अविद्यमान था इस कारण स्वभावतः वे मृत्यु-दण्ड को प्रत्येक घातक वा घातक के सदृश अपराधी के लिए आवश्यक नहीं समझते थे । और इसी लिए प्राचीन समय में यह नियम था कि दण्ड का निश्चय करते समय अपराधी की सामाजिक-स्थिति, उस के शारीरिक बल, अपराध के प्रकार, और अपराध के प्रथम द्वितीय-वार किए जाने पर विचार किया जाय । भिन्न २ स्थिति और विशेष २ शारीरिक बल रखने वाले मनुष्यों के लिए भिन्न २ प्रकार का दण्ड उचित ही है । एक ब्राह्मण (धार्मिक विद्वान्) के अपराधी बनने पर तथा एक शूद्र के अपराध करने पर विशेष २ अवस्थाओं में एक ही प्रकार का दंड उचित नहीं हो सकता । यथा यदि कोई निर्वाद का अभियोग हो तो जहाँ एक धार्मिक विद्वान् (ब्राह्मण) को कतिपय मासों के

लिए बहिष्कृत करना पर्याप्त दंड होगा वहां उसी अपराध के लिए शुद्ध को कदाचित् बँन लगाना आवश्यक होगा । इसी प्रकार यदि कोई ग़ाज़ी किसी काफ़िर को मार डाले और अपने आप पुलिस में सूचना दे देवे और प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु दंड स्वीकार करने के लिये उद्यत हो तो समझना चाहिए कि उस को मृत्यु का भय नहीं है, और जब कि वह फ़ांसी पर चढ़ाया जायगा तो उस के मुख की प्रसन्न आकृति उस के सदृशभाव रखने वाले अन्य मनुष्यों के हृदय में प्रसिद्ध ग़ाज़ी बन कर प्राण-परित्याग करने की उत्कण्ठा उत्पन्न कर देगा । ऐसे मनुष्य को मृत्यु दंड देने से प्रभुमण्डल (शासकों) का लाभ की अपेक्षा हानि अधिक उठानी पड़ेगी और राज प्रबन्ध के संचालन में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी । ऐसे मनुष्य को मृत्यु की अपेक्षा अपमान का अधिक भय होगा अतः ऐसे मनुष्य को यदि अभिशासक का जीवन भोगने के लिए मजबूर किया जाय तो लाभकर होगा । इन सब बातों से सिद्ध होता है कि राजव्यवस्थाशास्त्र सम्बन्धी अन्वेषणों से जो नए आविष्कार इन दिनों सभ्ययोगेष में हो रहे हैं उन का शुद्ध भाव सहस्रां वर्ष पूर्व प्राचीन आर्यों का ज्ञात था ।

प्राचीन आर्यों की राजनियमव्यवस्था में प्रायश्चित्त की जो विशेषता थी वह सभ्य-संसार के किसी भी अन्य देश की राजव्यवस्था में नहीं मिलती । जैसा कि हम ऊपर दर्शा चुके हैं प्राचीन आर्य दण्ड का आशय अपराधी का सुधार समझते थे न कि प्राति-हिंसा, अतः वे लोग जहाँ तक सम्भव होता था अपराधी की मानसिक कुवृत्तियों को तपश्चर्यादि द्वारा सुधारने का चेष्टा करते थे ताकि पाप का मूल जो कुवृत्तियों हैं वे नष्ट हो जावें और अपराधी मनुष्य शुद्ध होकर समाज और देश के उपयोगी बन सकें यह प्रायश्चित्त की विधिऐसी अच्छी थी कि अपराधियों का दण्ड देने के लिए राज-पुरुषों को विशेष श्रम करना नहीं पड़ता था क्योंकि समाज तथा धर्माचार्य लोग अपराधियों के लिए प्रायश्चित्त नियत कर दण्ड देनेवाले राज-पुरुषों का इस सम्बन्ध में हाथ बटा लेते थे ।

उदाहरण रूप से कतिपय प्रायश्चित्तों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

जो आर्य, अनार्य स्त्री से सम्भोग करता है, जो सुद पर रुपया चलाता है, जो मदिरापान करता है, जो ब्राह्मण होकर चापलूसी करता है, उसे चाहिए कि घास पर बैठे और अपनी पीठ सूर्य की ओर करे ताकि पीठ उस की जलती रहे ।

(आपस्तम्ब प्र० १, पटल ९, खण्ड २७, सूत्र १०)]

जो पुरुष अपनी निरपराध स्त्री को त्याग देता है उसे चाहिए कि गधे का चर्म (चमड़े के बालों को ऊपर की ओर रखता हुआ) ओढ़े हुए (प्रतिदिन) सात घरों से यह कहता हुआ कि “ उस पुरुष को भिक्षा दे जिस ने अपनी स्त्री को त्याग दिया है ” भिक्षा मांगे और छः मासों तक इसी प्रकार (भिक्षा से) निर्वाह करे । (आपस्तम्ब, प्र० १, पटल १०, खण्ड २८, सूत्र १९)

यदि कोई मनुष्य किसी गाय को मार डाले तो उसे चाहिए कि उस गाय के कच्चे चमड़े को ओढ़े हुए छः मासों तक कृच्छ्र अथवा तप्त-कृच्छ्र व्रत करे । कृच्छ्र और तप्त-कृच्छ्र की विधि यह है “ तीन दिनों तक केवल दिन के समय ही भोजन करे, पुनः (द्वितीय) तीन दिनों तक केवल रात्रि के समय ही भोजन करे, पुरु (तृतीय) तीन दिनों तक केवल उस भोजन पर ही निर्वाह करे जो उसे बिना मांसों मिल जाय, पुनः (चतुर्थ) तीन दिनों तक सर्वथा उपवास करे, इस प्रकार के (बारह दिनों के) व्रत को कृच्छ्र कहते हैं ” । “ तीन दिनों तक गर्म जल पीवे, (द्वितीय) तीन दिनों तक गर्म दूध पीवे, (तृतीय) तीन दिनों तक गर्म घी पीकर (चतुर्थ) तीन दिनों तक वायु पीकर रहे, इस प्रकार के (बारह दिनों के) व्रत को तप्त-कृच्छ्र कहते हैं ” वासिष्ठ, अध्याय २१, सूत्र १८, १९, २०, २१)

यदि कोई आत्म-हत्या का विचार करे तो इस पाप का प्रायश्चित्त यह है कि वह तीन दिनों तक उपवास करे (वासिष्ठ अध्याय २३, सूत्र १८)

अब मैं उन की शुद्धि के लिये वर्णन करता हूँ जिन के अपराध सर्वसाधारण पर प्रकट नहीं हुए, चाहे वे अपराध बहुत बड़े हों अथवा छोटे । हाथ में कुशा लिए हुए आसन लगा कर (उक्त प्रकार के अपराधों को) वारम्बार प्राणायाम करना चाहिए योग के साधन में तत्पर रह कर उसे वारम्बार प्राणों का अवरोध करना चाहिए, नखाग्र से शिखाग्र तक को इस सर्वाच्च तपश्चरण में लगा देना चाहिए । प्राणों के अवरोध से (शरीर में अधिक) वायु की प्रकटता होती है उस (वायु) से अग्नि (गर्मी) पैदा होती और उस गर्मी से जलोत्पन्न होता है अतः इन तीनों के द्वारा उस के शरीर का अन्तःभाग शुद्ध हो जाता है । और साथ ही शुद्ध करने वाले मन्त्रों व्याहृतियों तथा “ ओ३म् ” का जप करना चाहिए, दैनिक-वेदपाठ भी । न कठिन तपश्चर्यों से, न प्रतिदिन के वेद पाठ से, और न अग्निहोत्रों से द्विज उस अवस्था को पहुँच सकता है जिस अवस्था को कि (द्विज) योग-साधन से पहुँचता है । योग-साधन से सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है ।

धर्मव्यवस्था का सारांश योगसाधन ही है । योगसाधन सब कालों की सब से बड़ी तपश्चर्या है । अतः उस (अपराधी) को चाहिए कि योग साधन में लीन हो जावे (वासिष्ठ, अध्याय २९, सूत्र १, ४, ५, ६, ७, ८)

उक्त सूत्रों पर विचार करने से पता लगता है कि उस समय के आर्य्य लोग अन्तः और बहिः दोनों प्रकार के प्रायश्चित्तों को समझते थे और उन की सदा यह चेष्टा रहती थी कि यदि अपराधी प्रायश्चित्तों द्वारा अपनी मनोवृत्तियों को शुद्ध कर सके तो वह राजपुरुषों के न्यायालयों में न भेजा जाय । यदि प्राचीन आर्य्य, मनोविज्ञानशास्त्र और राजव्यवस्था के साथ उस का क्या सम्बन्ध है इस विषय को न जानते तो प्रायश्चित्त जैसे सर्वाङ्ग-पूर्ण शोधन विधि को बतला नहीं सके ।

दण्ड सम्बन्धी राजनियम—अब हम दृष्टान्त रूप में उस समय के कुछ दण्ड सम्बन्धी राजनियमों को यहां लिखते हैं जिन के अवलोकन से उस समय के राजव्यवस्थापकों की बुद्धि का पता लगेगा:—

जो कोई अपने वर्ण वा आश्रमधर्म को तांडे अथवा कोई अन्य पाप करे उसे जब तक एकान्त कारावास का दण्ड दिया जाय जब तक कि वह शुद्ध न हो जाय, यदि वह शुद्ध न हो सके तो उसे देश से निकाल देना चाहिए (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल १०, खण्ड २७, सूत्र १८, १९)

यदि वह मनुष्य जिस ने खेती करने के लिए भूमि उस के स्वामी से ली हो परिश्रम न करे और इस कारण (उस खेत में) फल (अन्न) उत्पन्न न हो तो उस मनुष्य को यदि वह धनी हो तो कृषिफल (अन्न) का मूल्य देना पड़ेगा, और यदि भृत्य कृषक के काम को छोड़कर भाग जाय तो उस (भृत्य) पर कोड़े पड़ेंगे (आपस्तम्ब प्र० २, पटल ११, खण्ड ४८, सूत्र १, २)

प्रतिबन्ध, अपराध की घोषणा, निर्वासन (देश से निकाल देना) और तप्त लोहेन अङ्क, ये दण्ड हैं जो ब्राह्मण को दिये जा सकते हैं (गौतम, अध्याय १२, सूत्र ४७)

यदि कोई अपने को बध करने के लिए आता हो तो उस भावी बाधक को (अपनी रक्षा के लिए) मार डालने में पाप नहीं होता (वासिष्ठ, अध्याय ३, सूत्र १९)

यदि कोई अपने को बध करने के लिए आता हो चाहे वह सम्पूर्ण वेद और उपनिषदों का भी ज्ञाता हो तो भी उस भावी बाधक को (अपनी रक्षा के लिए) मार सकते

हैं, इस मारने से ब्रह्म-हत्या का दोष नहीं लग सक्ता (वासिष्ठ, अध्याय ३, सूत्र १८)

यदि (किसी मनुष्य के) पशु अपने थान (पशु बांधने का स्थान) को छोड़ कर कृषिफल को खांय तो कृषि का स्वामी उन्हें पकड़ कर कुछ देर अपने पास रख सक्ता है (आपस्तम्ब, २, ११, २८, ५)

यदि जङ्गलों का अधिपति (राजपुरुष) यह देखे कि किसी ग्राम के पशु भूल से राजकीय जङ्गल में आ गए हैं तो वह उन को ग्राम में लौटा देवे और उन्हें उन के स्वामियों को सुपुर्द करदे परन्तु यदि पुनः भूल हो (अर्थात्) वही पशु पुनः राजकीय जङ्गल में आजावें तो राजपुरुष उन्हें पकड़ कर कुछ देर के लिए रख सक्ता है (आपस्तम्ब २, ११, २८, ७ तथा ८)

व्यवहारिक राजनियम—सूत्र ग्रन्थों के समय के व्यावहारिक राजनियमों में से, उदाहरण रूप कतिपय नियम यहां उद्धृत किए जाते हैं:—

पैतृक-सम्पत्ति, क्रय की हुई वस्तु, गिरवी रखी हुई वस्तु, स्त्री-धन, दान की हुई वस्तु, यज्ञ करने के लिए मिली हुई वस्तु, बटी हुई पैतृक-सम्पत्ति जो पुनः एक साथ हो गई, और मजदूरी यदि अन्यों के हाथ में दश वर्ष तक रह गई हो तो वास्तविक अधिकारी का अधिकार उन पर से उठ जाता है । परन्तु इस के कुछ विरुद्ध अन्यों की सम्मति है कि उपनिधि (गिरवी रखी हुई वस्तु), सीमा, अप्राप्तवयस्क (नाबालिग का धन, प्रकट वा गुप्तनिक्षेप, स्त्री, राजधन, श्रात्रिय का धन यदि अन्यों के पास रहे तो वह इन का स्वामी नहीं बन सक्ता (वासिष्ठ, अध्याय १६, सूत्र, १६, १७, १८)

किसी पुरुष की सम्पत्ति, जो न तो मन्दबुद्धि और न अप्राप्तवयस्क (नाबालिग) हो, यदि उस के सन्मुख ही दूसरे लोग दश वर्षों तक भोगते रहें तो उस सम्पत्ति पर उक्त भोगने वालों का ही अधिकार जम जाता है परन्तु यदि किसी अन्य की सम्पत्ति को श्रात्रिय लोग, सन्यासी लोग वा राज कर्मचारी भोगते हों तो उस पर से वास्तविक स्वामी का अधिकार नहीं हटता (गौतम अध्याय १२, सूत्र ३७, ३८)

उन लोगों की सम्पत्ति का प्रबन्ध जो स्वयम् राजव्यवस्थानुसार अपनी सम्पत्ति के प्रबन्ध करने में अयोग्य हों (यथा विधवा, अप्राप्तवयस्क आदि) प्रमुमंडल को करना चाहिए और जब अप्राप्तवयस्क अपनी प्रौढ-आयु को प्राप्त करले तब उस की सम्पत्ति उसे सौंप देनी चाहिए (वासिष्ठ अध्याय १६, सूत्र ८९)

व्याज का दर २० कार्षापण पर पांच माषक प्रतिमास के हिसाब से होना

चाहिये (अर्थात् १५ पन्द्रह रुपये प्रति सैकड़ा प्रतिवर्ष के हिसाब से होना चाहिये और यदि ऋण अधिक दिनों तक चुकाया न जासके तो मूलधन द्विगुण हो सकता है और तदनन्तर सूद का चढ़ना बन्द हो जायगा (गौतम अध्याय १२, सूत्र २९, तथा ३१)

पशुओं से उत्पन्न होने वाले पदार्थों, ऊन, कृषिफल और लाटू पशुओं पर इतना व्याज लेना चाहिये कि वस्तु के वास्तविक मूल्य से पांच गुणा से अधिक न बढ़ सक (गौतम अध्याय १२, ३६)

व्याज छः प्रकार के होते हैं, चक्रव्याज, सामयिक-व्याज, प्रतिज्ञात व्याज, शारीरिक व्याज, दैनिक व्याज और निक्षेप का सेवन (गौतम अध्याय १२, सूत्र ३४ तथा ३५)

मृतपुरुष के उत्तराधिकारियों को मृतपुरुष के ऋण चुकाने होंगे परन्तु मृतपुरुष के उन ऋणों का चुकाना उत्तराधिकारियों का कर्तव्य नहीं होगा जिन का सम्बन्ध प्रतिभू, वाणिज्य व्योपार, बधू के पिता के लिए शुल्क, मदिरा वा द्यूत वा राजदण्ड से सम्बन्ध रखता हो (गौतम अध्याय १२, सूत्र ४० तथा ४१)

दायभाग सम्बन्धी नियम—प्राचीन आर्य लोग विवाह का उद्देश्य केवल उत्तम सन्तान की उत्पत्ति और मनुष्यजाति की वृद्धि समझते थे इसी कारण वे विवाह को भी एक यज्ञ कहा करते थे । यज्ञ इसका नाम इस कारण था कि स्त्री पुरुष मिल कर मनुष्य जाति के उपकारार्थ उत्तम सन्तान प्रदान करते थे । स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को अटूट और आत्मिक समझा जाता था और इसी कारण विवाह बन्धन विच्छेद [तलाक़ वा डाइवोर्स] की रीति प्रचरित न थी । यदि सन्तान उत्पन्न न होती थी अथवा पति वा पत्नी मर जाती थी और सन्तान के बिना विशेष हानि की सम्भावना होती थी तो नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा थी । द्विजों में केवल उस स्त्री वा पुरुष का विवाह हो सकता था जो अक्षत-यौनि तथा अक्षतवीर्य्य हों । व्यभिचार महापाप समझा जाता था और व्यभिचारी को बड़े कठोर दण्ड मिलते थे । यदि कोई द्विज शूद्रा स्त्री से व्यभिचार करता था तो उस व्यभिचारी को देशवाह्य कर दिया जाता था और यदि कोई शूद्र किसी द्विज स्त्री से व्यभिचार करता था तो उसको मृत्युदण्ड मिला करता था । उस समय के आर्यों में न्याय का भाव बहुत था और वे एक मनुष्य के अपराध के लिये दूसरों को दण्ड देना किसी भी अवस्था में उचित नहीं समझते थे । यही कारण है

जैसा कि हम पहले लिख आए हैं कि अभिशस्तों के पुत्र भी आर्यों में सम्मिलित कर लिए जाते थे । अभिशस्तों के अपराध के कारण उन के पुत्रों को पतित होना नहीं पड़ता था एवं कोई भी मनुष्य इस कारण घृणित नहीं समझा जाता था कि वह किन्हीं विशेष पतित माता पिता का पुत्र है ।

बौद्धायन सूत्र प्रश्न २, अध्याय २, कण्डिका ३, सूत्र ३१ से ज्ञात होता है कि दाय-भाग के अधिकारी सात प्रकार के पुत्र समझे जाते थे जिन की संज्ञा, औ-रस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढज, अपविद्ध तथा “पुत्रिका-पुत्र” है ॥

औरस—जब पुरुष सम जाति की अर्थात् अपने गुण कर्म स्वभाव जैसी विधिवत् विवाहित स्वभार्या से पुत्रोत्पन्न करता है तो उस पुत्र को औरस पुत्र कहते हैं (बौद्धायन प्रश्न २, अध्याय २, कण्डिका ३, सूत्र १४)

क्षेत्रज—यदि किसी स्त्री का पति मर जाय अथवा वह नपुंसक हो अथवा सदा रुग्ण रहता हो और वह अपनी स्त्री को पर पुरुष से पुत्रोत्पन्न करने की आज्ञा दे चुका हो तो उस स्त्री में पर पुरुष से उत्पन्न हुआ पुत्र क्षेत्रज कहलाता है (बौद्धायन प्र० २, अ० २, क० ३, सू० १७)

दत्त—जब कोई माता पिता अथवा पिता वा माता अपने पुत्र को बिना किसी दबाव के प्रेम पूर्वक वा विपत्ति-ग्रस्त रहने के कारण स्वच्छा से किसी अन्य पुरुष को देदे और वह अन्य पुरुष उस पुत्र को अपना पुत्र बनाले तो वह पुत्र ‘दत्त’ कहलाता है (बौद्धायन, प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २०)

कृत्रिम—जब कोई पुरुष किसी अन्य सजातीय पुरुष वा स्त्री से वा पुरुष स्त्री दोनों से उन का पुत्र अपना पुत्र बनाने के लिए लेता है तो वह पुत्र “कृत्रिम पुत्र” कहलाता है (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २१)

गूढज—जब किसी गृहस्थ के घर में कोई ऐसा पुत्र उत्पन्न हो जिस के उत्पन्न करने वाले पुरुष का पता बालक की उत्पात्ति के पूर्व ज्ञात न हो तो वह पुत्र गूढज कहलाता है (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २२)

अपविद्ध—जिस पुत्र को माता पिता ने अथवा पिता वा माता ने (विपत्तिग्रस्त होने के कारण वा किसी अन्य कारण) छोड़ दिया हो और उस छोड़े हुए पुत्र को यदि कोई अन्य पुरुष अपना पुत्र बनाले तो वह पुत्र अपविद्ध कहलाता है । (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सू० २३)

पुत्रिका-पुत्र—प्रतिज्ञा हो जाने पर पुत्री में उत्पन्न हुआ पुत्र “ पुत्रिका-पुत्र ” कहलाता था (अर्थात् जब कि पिता अपनी कन्या का विवाह किसी पुरुष से यह प्रतिज्ञा लेकर कराता था कि इस कन्या से जो पहला पुत्रोत्पन्न होगा उसे अपना पुत्र बनाने के लिए कन्या का पिता लेगा और उस उत्पन्न हुए पुत्र को वह लेकर अपना पुत्र बना लेता था तो उस पुत्र को “ पुत्रिका-पुत्र ” कहते थे) ।
(बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३ सूत्र १५)

उक्त सात प्रकार के पुत्रों के अतिरिक्त अन्यान्य छ प्रकार के और भी पुत्र होते थे जिन्हें “ कानीन ”, “ सहोद ”, “ क्रीत ”, “ पौनर्भव ”, “ स्वयंदत्त ” तथा “ निषाद ” कहते थे ।

कानीन—यदि किसी कन्या से उस के पिता वा संरक्षक की आज्ञा बिना लिए हुए कोई पुरुष सहवास करे और उस कन्या को पुत्रोत्पन्न होवे तो वह पुत्र “ कानीन ” संज्ञक होगा । (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २४)

सहोद—यदि कोई पुरुष जान बूझ कर वा अज्ञान से किसी ऐसी वधू से विवाह करे जो गर्भवती हो तो विवाहितपति के घर में उत्पन्न हुआ यह पुत्र “ सहोद ” कहलाएगा । (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २५)

क्रीत—यदि किसी पुत्र के पिता माता से अथवा पिता वा माता से उस पुत्र को कोई अन्य पुरुष मोल ले ले और उसे अपना पुत्र बनाले तो वह पुत्र क्रीत कहलाएगा । (बौद्धायन, प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २६)

पौनर्भव—यदि कोई स्त्री अपने नपुंसकपति को छोड़कर परपुरुष से पुत्रोत्पन्न करे तो वह पुत्र पौनर्भव कहलाएगा । (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २७)

स्वयंदत्त—वह पुत्र जो अपने पिता माता से छोड़ दिए जाने पर अपने को किसी अन्य के सुपुर्द करता है स्वयंदत्त कहलाता है । (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २८)

निषाद—वह पुत्र जो ब्राह्मण पुरुष से तथा शुद्रा स्त्री से उत्पन्न होता है निषाद कहलाता है । (बौद्धायन प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र २९)

बौद्धायन सूत्र प्र० २, अ० २, कं० ३, सूत्र ३२ से ज्ञात होता है कि और-सादि सात प्रकार के पुत्रों के अतिरिक्त कानीनादि जो छः प्रकार के पुत्र होते थे इन का दाय भाग से कुछ सम्बन्ध नहीं था ये केवल अपने पिता के वंश के व्यक्ति-मात्र समझे जाते थे अर्थात् इन का समुचित भरण पोषण होता था परन्तु वासिष्ठ

अध्याय १७ सूत्र ३९ से ज्ञात होता है कि औरसादि पूर्व सात प्रकार के पुत्रों में से एक के भी जीवित न रहने पर कानीनादि पिछले छः प्रकार के पुत्र पिता की सम्पत्ति के दाय भागी भी समझे जाते थे । एवं गौतमसूत्र अध्याय २८ सूत्र ३४ से ज्ञात होता है कि प्रथमप्रकार के औरसादि पुत्रों के न होने पर द्वितीयप्रकार के कानीनादि पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति का चौथा भाग मिलना चाहिए ।

ऐसा प्रतीत होता है कि नियोग की आज्ञा केवल बड़े धर्मात्मा और पवित्र मनुष्यों के लिए थी क्योंकि आपस्तम्ब सूत्रों में लिखा है कि गिरे हुए समयों में नियोग वर्जित है ।

पिता की मृत्यु के पश्चात् सब भाइयों का इकट्ठा रहना जो आजकल अच्छा माना जाता है उसे सूत्रकार आवश्यक नहीं बतलाते । गौतम सूत्र अध्याय २८ में लिखा है:—

“पिता के मृत्यु के पश्चात् अथवा पिता के जीते हुए भी जब कि माता के पुत्र जनने का समय व्यतीत हो जाय और पिता चाहे तब पुत्रों को चाहिये कि पिता की सम्पत्ति का बांट लें अथवा सब सम्पत्ति का प्रबन्धकर्ता ज्येष्ठ पुत्र बन जाय और वह अन्यो की पितावत् पालना करता रहे परन्तु सम्पत्ति के बंट जाने में आत्मिक-योग्यता की वृद्धि की सम्भावना है । सम्पत्ति के विभाजन समय बड़े पुत्र को (ज्येष्ठांश) सारी सम्पत्ति का बीसवां भाग अधिक मिलना चाहिए तथा एक जोड़ा गाय बैल, एक छकड़ा गाड़ी खींचन वाले पशुओं के साथ तथा एक साड़ भी उसे अधिक मिलना चाहिये । बीच के पुत्र को अपने हिस्से से अधिक काने, पुरान, सींग रहित तथा पुच्छ रहित यदि अनेक पशु हों तो उन में से कांतपय उस मिलने चाहिए । सब से छोटे पुत्र को अपने हिस्से से अधिक कुछ भेड़, अन्न, लोहे के पात्र एक घर, बैलों की जोड़ी सहित एक छकड़ा तथा जितने प्रकार के पशु घर में हों उन में से एक एक मिलना चाहिए और शेष सारी सम्पत्ति को सब पुत्रों को बराबर बराबर बांट लेना चाहिए” । (गौतम अध्याय २८, सूत्र १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८) ।

उक्त विभाजन में बड़े पुत्र तथा छोटे पुत्र को जो कुछ अधिक वस्तुएं देने की आज्ञा है इस से अन्याय सिद्ध नहीं होता । बड़े पुत्र को कुछ अधिक सम्पत्ति इस कारण दिखाई जाती थी कि बड़ा होने के कारण उस की सन्तति की संख्या अधिक हो गई हांगी जिस से उस का व्यय बढ़ गया होगा तथा छोटे पुत्र को गृहादि

अधिक वस्तु इस कारण दिलाई जाती होगी कि वह छोटा होने के कारण अपनी जीविका के उपार्जन में दक्ष नहीं बन सका होगा । परन्तु ज्येष्ठांश और कनिष्ठांश का नियम सब अवस्थाओं में एक ही प्रकार का नहीं था इन में परिवर्तन भी होते थे यथा गौतम सूत्र अध्याय २८ सूत्र ९ तथा १० में लिखा है “अथवा (जितने भाई हों उतने हिस्से तथा एक हिस्सा और, बराबर बराबर सारी सम्पत्ति के लग जाने चाहिए, जिन में से) दो हिस्से बड़े भाई का और एक एक हिस्सा एक एक भाई का मिलना चाहिए” ।

पुनः इसी अध्याय में गौतमाचार्य ने लिखा है:—

“पैतृक-सम्पत्ति की बांट हो जाने पर यदि भाई पृथक् २ ही रहते हों और उन में से कोई सन्तान हीन मर जावे तो उस की सम्पत्ति बड़े भाई को मिलती थी परन्तु बाकी सम्पत्ति की बांट हो जाने के पश्चात् भी यदि कोई दो भाई पुनः इकट्ठे रहने लगे और उन में से एक सन्तान विहीन हो जावे तो उस की सम्पत्ति साथ रहने वाले भाई की होगी । यदि पैतृक-सम्पत्ति बंट जाने पर पुनः दो भाई इकट्ठे हो जाय और उन में से एक विद्वान् और दूसरा अविद्वान् हो और विद्वान् अपनी योग्यता के कारण अधिक कमावे तो विद्वान् भाई को अधिकार है कि वह अपनी अधिक कमाई में से अपने अविद्वान् भाई का हिस्सा न दे । परन्तु यदि पैतृक-सम्पत्ति बंट जाने पर पुनः दो अविद्वान् भाई इकट्ठे हो जाय तो वे अपनी कमाई को बराबर २ बांट सकेंगे” । (गौतम अध्याय २८ सूत्र २७, २८, ३०, ३१)

एक वर्ण के पति और दूसरे वर्ण की पत्नी से उत्पन्न हुए पुत्रों के विषय में गौतमाचार्य लिखते हैं:—

“ यदि किसी ब्राह्मण पति और उस की क्षत्रिया पत्नी से पुत्रोत्पन्न हो और वह ज्येष्ठ तथा गुणवान् हो तो उस का भी पैतृक-सम्पत्ति का उतना ही भाग मिलेगा जितना भाग कि उस ब्राह्मण पति तथा उस की ब्राह्मणी पत्नी से उत्पन्न हुए पुत्र को मिलेगा, ज्येष्ठ पुत्र को ज्येष्ठांश जो अधिक मिला करता है केवल वह अधिकांश उस क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न हुए पुत्र को नहीं मिलेगा । यदि एक ब्राह्मण पति से उस का क्षत्रिया पत्नी तथा उस की वैश्यापत्नी में पुत्रोत्पन्न होंगे तो इन में भी पैतृक-सम्पत्ति उसी प्रकार बांटी जायगी जिस प्रकार कि एक ब्राह्मण पति तथा उस की ब्राह्मणी पत्नी के पुत्र तथा उसी ब्राह्मण पति और उस की क्षत्रिया पत्नी के पुत्र के बीच बांटी जाती है । क्षत्रिय पति तथा क्षत्रिया पत्नी से जो पुत्रोत्पन्न होगा तथा

उसी क्षत्रिय पति तथा उसी की वैश्यापत्नी से जो पुत्रोत्पन्न होगा इन दोनों का दायभाग भी उक्त ही प्रकार बराबर बराबर होगा (केवल विशेषता यह रहेगी कि यदि क्षत्रिया में ज्येष्ठ पुत्रोत्पन्न होगा तो उसे कुछ ज्येष्ठांश अधिक मिलेगा और वैश्या से यदि ज्येष्ठ पुत्रोत्पन्न होगा तो उसे वह अधिकांश नहीं मिलेगा) । यदि किसी ब्राह्मण के शूद्र पत्नी से पुत्रोत्पन्न होवे और उस ब्राह्मण के कोई अन्य पुत्र न हो तो उस ब्राह्मण के मरने पर उस पुत्र को केवल भरण पोषण योग्य धन पैतृक-सम्पत्ति से मिलेगा और यही दशा उन पुत्रों की होगी जो नीच वर्ण के पुरुषों तथा उच्च वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न होंगे (गौतम अध्याय २८, सूत्र ३९, ३६, ३७, ३८, ३९, ४९)

यदि सवर्णा स्त्री से भी पुत्रोत्पन्न होवे और वह दुराचारी हो तो उसे पैतृक-सम्पत्ति नहीं मिल सकती । यदि ब्राह्मण सन्तान रहित मरजाय तो उस की सम्पत्ति श्रोत्रियों का बांट लेना चाहिये परन्तु यदि अन्यान्य वर्ण के लोग सन्तान रहित मरें तो उन की सम्पत्ति राजा लेवे । बुद्धि विहीनों तथा नपुंसकों (जिन्हें दाय-भाग नहीं मिलता) का भरण पोषण होना चाहिए और यदि किसी बुद्धि-विहीन के पुत्रोत्पन्न हो जावे तो उस पुत्र को पैतृकसम्पत्ति का वह भाग मिलना चाहिए जो उस के पिता को यदि वह अच्छा होता तो मिल सकता था । (गौतम अध्याय २८, सूत्र ४०, ४१, ४२, ४३, ४४) ।

आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ६, खण्ड १४, सूत्र २, ३ तथा ४ से ज्ञात होता है कि पुत्र के न रहने पर सपिण्डी वा गुरु वा शिष्य दाय-भागी होते थे अथवा पुत्रा दाय-भागिनी होती थी ।

बौद्धायन प्रश्न २, अध्याय २, खण्ड ३, सूत्र ३६, ३७, ३८ से ज्ञात होता है कि अप्राप्तव्यस्कों (नाबालिगों) के भाग तथा उस भाग से जो कुछ वृद्धि धन की हो उन सब की सावधानतापूर्वक रक्षा होनी चाहिए, जो राजव्यवस्थानुसार अपनी सम्पत्ति की रक्षा न कर सकते हों यथा अन्धे, निबुद्धि, दुराचारी, स्थायी रोगी आदि उन का भरण पोषण भी होना चाहिए ।

गौतमाचार्य अपने सूत्रग्रन्थ के २८ अध्याय के ६८ सूत्र में लिखते हैं कि किसी विशेष दशा सम्बन्धी दाय-भाग का नियम बतलाया न गया हो तो उस सम्बन्ध में उस व्यवस्थानुसार चलना चाहिए जिस का समर्थन दश पूर्ण विद्वान्, तर्क में कुशल लोभ रहित धार्मिक ब्राह्मण करें ।

यह संक्षेप से दाय भाग सम्बन्धी नियम अङ्कित किए गए ।

स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी राजनियम—निम्नलिखित स्थानों पर शौच करना वर्जित था:—

(१) मिट्टी के ढेर पर (२) गोबर पर (३) ऐसे खेत में जिस में हल चला हो (४) वृक्ष की छाया में (५) घंटापथ अर्थात् राजकीय सड़क पर (६) सुन्दर स्थानों पर जो भ्रमणादि के लिये बने हों ।

युद्ध सम्बन्धी राजनियम—आर्यों के युद्ध सम्बन्धी राजनियम भी बड़े दयायुक्त थे । गौतमाचार्य अपने सूत्र-ग्रन्थ के अध्याय १० सूत्र १६, १७ तथा १९ में जहां यह लिखते हैं कि राजा और उन के अनुयायी क्षत्रियों को रण से कभी भी मुख मोड़ना नहीं चाहिए प्रत्युत उन्हें युद्ध में अचल एवं निर्भय रहना चाहिए, युद्ध में शत्रु को घायल करना वा मार डालना पाप नहीं है वहां उसी अध्याय के सूत्र १८ में लिखते हैं:—

(युद्ध में भी उन को मत मारो) जिन के घोड़े मारे गए हों वा खोगए हों, जो रथ वा शस्त्रविहीन हो गए हों, जो तुम्हारे सन्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हो जायं, जो अपने शिर के बाल खोलें हुए भागते जाते हों, जो मुख मोड़ कर अर्थात् पीठ दिखा कर बैठ जायं, जो भाग कर पर्वतों वा वृक्षों पर चढ़ जायं, दूतों (अर्थात् उन पुरुषों को जो शत्रु-सैन्य की ओर से समाचार लाते हों) तथा उन पुरुषों को जो यह कहें कि हम ब्राह्मण वा गाय हैं ।

इसी प्रकार आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न २, पटल ५, खण्ड १० सूत्र ११ में लिखा है कि आर्यों की सम्मति है कि जो शस्त्र विहीन हो गए हों अथवा शिर के बाल खोले हुए वा हाथ जोड़े हुए दया की प्रार्थना करते हों अथवा भागते जाते हों उन्हें युद्ध में नहीं मारना चाहिए ।

इसी प्रकार बौद्धायन सूत्र प्रश्न १ अध्याय १० खण्ड १८ सूत्र १० तथा ११ में लिखा है कि राजा को चाहिये कि अंकुश रखने वाले अथवा विप में बुझे हुए शस्त्रों से शत्रु पर प्रहार न करे और उन से युद्ध न करे जो भयभीत हों, मद (नशे) में हों, पागल हों वा जिन का ध्यान युद्ध से भिन्न अन्य ओर लगा हुआ हो, जिन का कवच नष्ट हो गया हो जो खी हों, बच्चे हों बूढ़े हों वा ब्राह्मण हों ।

युद्ध में विजयी होने पर विजयी योद्धाओं को परास्त हुआओं का रणक्षेत्र में पड़ा हुआ जो धन मिलेगा वह उन का होगा परन्तु रथ तथा सवारी के पशु राजा

के होंगे , यदि एक ही युद्ध में योद्धा विजयी न हुए होंगे (अर्थात् यदि कई युद्धों के बाद विजय प्राप्त होगा) तो परास्त हुआ के धन में से राजा भी विशेष भाग लेगा और शेष धन को राजा सब योद्धाओं के बीच बराबर २ बांट देगा ।
(गौतम अध्याय १०, सूत्र २०, २१, २२, २३)

जो युद्ध में मारे जायेंगे उन की विधवाओं की रक्षा (राजा को) करनी होगी । (वाशिष्ठ' अध्याय १९ सूत्र २०)

न्यायालय सम्बन्धी राजनियम—गौतम सूत्र अध्याय १३ में लिखा है कि जब किसी को किसी प्रकार की पुकार (फ़र्याद) करनी हो तो उस चाहिए कि न्यायाधीश की सेवा में उपस्थित हो (सूत्र २७), अभियोग में सचाई का निर्णय साक्षियों के द्वारा हो (सूत्र १), स्वयं राजा वा न्यायाधिपति वा शास्त्रों का विद्वान् ब्राह्मण साक्षियों की परीक्षा करें (सूत्र २६), ऐसे साक्षी होने चाहिए कि जो अपने कर्तव्यों के पालन करने वाले हों राजा जिन का विश्वास कर सकता हो और जो उभय पक्ष के विवादियों में से किसी के लिए पक्षपात न कर सके हों, (सूत्र २), शुद्ध भी साक्षी के योग्य हो सक्त हैं (सूत्र ३), ब्राह्मण अब्राह्मणों के अभियोग में साक्षी देने के लिए मजबूर नहीं किया जा सक्ता जब तक कि उस ब्राह्मण का नाम प्रार्थी (फ़रियादी) ने अपने प्रार्थना-पत्र में न लिखा हो (सूत्र ४), परन्तु ब्राह्मणों से भिन्न अन्य प्रकार के साक्षियों का नाम यदि प्रार्थना पत्र में न भी लिखा हो तो भी उन्हें (आवश्यकता पड़ने पर) साक्षी देना पड़ेगी (सूत्र ८), साक्षियों को अकेले बोलना नहीं चाहिए वा जब तक पृच्छा न जाय तब तक नहीं बोलना चाहिए (सूत्र ९), ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य साक्षियों को देवताओं राजा तथा ब्राह्मणों के सन्मुख शपथ खाना चाहिए (सूत्र १३), यदि पृच्छने पर साक्षी उत्तर न दें तो वे अपराधी समझे जायेंगे (सूत्र ६), सच्चे साक्षियों को स्वर्ग अर्थात् सुख और झूठों को उस के विपरीत नरक वा दुःख मिलेगा (सूत्र ७), जो साक्षी झूठ बोले उसे दण्ड अवश्य दिया जाय (सूत्र २३), यदि न्याय करते समय राजनियमव्यवस्था अथवा लौकिकनियम भङ्ग होंगे तो इस का अपराध साक्षियों अभियोग देखने के लिए नियुक्त न्यायसभा के सभ्यों राजा तथा अपराधी पर पड़ेगा (सूत्र ११),

उक्त संक्षिप्त लेख से भी ज्ञात होता है कि अभियोगों की छानबीन बड़ा सा-

वधानता से का जाती थी जिस से अन्याय होने की सम्भावना बहुत ही कम थी। इस विषय के विस्तृत लेख सूत्र ग्रन्थों में विद्यमान हैं।

नव्वे हितैषा राज-नियम—कोई २ नियम ऐसे भी मिलते हैं जिन से पता लगता है कि उस समय पोत (जहाज़) भला भांति चलते थे और उन के विषय में नियम भी थे। एक नियम यह था कि कोई यात्री ऐसे जहाज़ में न चढ़े जो निर्बल हो (देग्विए बौद्धायन १३। ४४)।

कर सम्बन्धी राज-नियम—निम्नलिखित व्यक्तियों से राज कर नहीं लिया जाता था:—

विद्वान् ब्राह्मण सब वर्णों की स्त्रियां, कुमार, विद्यार्थी जो अपने गुरु के साथ पढ़ने के लिए रहते हैं, पवित्र नियम पूर्ण करने का जो तप करता हो, शूद्र जो चरण धोकर आर्जाविका प्राप्त करता हो, जो अन्य' गूंगे बहरे हों रुग्ण पुरुष (जब तक रुग्णवस्था बनी रहे) तथा वह लोग जिन के लिए सम्पत्ति संग्रह वर्जित है यथा सन्यासी (आपस्तम्ब प्रश्न २ पटल १०, खण्ड २६, सूत्र १०, ११. १२ १३, १४, १५, १६, १७)

निम्नलिखित व्यक्तियों को कर देना पड़ना था:—कृषिकों को अपनी उपज का दशांश, अष्टांश, वा षष्ठांश (२) पशु रखने वाले वा सुवर्ण वाले (सोना खान से निकालने वाले वा सोने का व्यापार करने वाले) को अपनी ढेरी का पचासवां अंश ३ सौदागरी के माल बेचने वालों को आय का बीसवां भाग (४) मूल फल, फूल, औषधी सम्बन्धी वृष्टियां, मधु, मिठाई, घास, जलान की लकड़ी बेचने वालों को अपनी २ वस्तु का साठवां भाग (गौतम अध्याय १० सूत्र २४' २५, २६, २७,)

गौतम सूत्र अध्याय १०, सूत्र ३३ से ज्ञात होता है कि वह लोग जो पोत (जहाज़) और गाड़ियां रखते हैं उन्हें भी कर देना चाहिए।

प्रत्येक कारीगर को मास में एक दिन राजकाय कार्य करना चाहिए परन्तु राजा को चाहिए कि काम करने वालों को भोजन दे (गौतम अध्याय १० सूत्र ३१, ३४,)

प्रत्येक सौदागर को चाहिए कि प्रतिमास सौदागरी का एक माल (यदि राजा को उस की आवश्यकता हो तो) राजा को हाट दर से कम मूल्य पर देवे (गौतम अध्याय १० सूत्र ३५)

यदि किसी गुप्त पदार्थ को (जिस का स्वामी ज्ञात न हो) कोई पांव तो उसे चाहिए कि उस की मूचना राजा को दे । राजा उस वस्तु की घोषणा सर्व साधारण में कराए तो भी यदि उस वस्तु का मालिक न मिले तो उसे एक वर्ष तक अपनी संरक्षा में रखे तौ भी यदि अमर स्वामी का पता न लगे तो उस वस्तु का जो मूल्य हो उसका चतुर्थांश उस वस्तु पाने वाले को मिले और शेष भाग राजा का होंवे (गौतम अध्याय १० सूत्र ३६, ३७, ३८) ।

यदि कोई रूपय पैसे वा बहुत मूल्य रत्नों का कोष कहीं मिले तो वह राजा का है परन्तु कोई कोष यदि नैष्ठिक ब्राह्मण को मिले तो वह उसका है, किसी २ की सम्मति है कि अब्राह्मण का भी यदि कोई काष मिले तो उस का षष्ठांश उसे भी मिलना चाहिये (गौतम अध्याय १० सूत्र ४६, ४७, ४९)

चोरी का माल जब कि मिल जावे ता वह अमल मालिक को दिया जाय (उस में से राजा कर रूप से कुछ भी न ले) और यदि चोरी के माल का पता न लगे तो राजा उस माल का मूल्य अपने राजकोष से देवे (गौतम अध्याय १० सूत्र ४६, ४७)

नदियों, शुष्क घास, जङ्गलों, और पर्वतों से उपयोग लेने पर कोई कर न लिया जाय (वाशिष्ठ अध्याय १९, सूत्र २६)

जो वस्तुएं देश में पांतीं (जहाजों द्वारा बिकने के लिए आवें उन में से एक विशेष वस्तु तथा दशांश कर रूप लेना चाहिये एवं अन्यान्य विक्रय वस्तुओं पर भी उन के वास्तविक मूल्य के अनुसार कर लगाना चाहिए । परन्तु इतना कर कभी भी नहीं लेना चाहिए जो वाणिकों को अत्याचार प्रतीत हो (बौद्धायन प्रश्न १, अध्याय १० कण्डिका १८, सूत्र १४, १९)

पञ्चम परिच्छेद

वर्णाश्रम अवस्था, स्त्रियों की दशा

साधारण अवस्था ।

वर्णाश्रम-ब्रह्मचारियों तथा उन के अध्यापकों के कर्तव्य-गृहस्थाश्रम, विवाह की रीति, स्त्रियों के कर्तव्य और अधिकार, सामाजिक रचना में स्त्रियों की स्थिति, वानप्रस्थ और संन्यास, वर्णाश्रमव्यवस्था और जातपात, शिष्टाचारादि विविध प्रकार की बातें ।

प्राचीन काल में विद्यार्थियों का बड़ा मान्य था, समाज का प्रत्येक सभामद उन्हें गहरे मान्य और बड़े प्रेम की दृष्टि से देखता था । सब गृहस्थ इस बात के लिए बड़े इच्छुक रहते थे कि वे अपनी सन्तान को सुशिक्षा दिलाएं क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि अपना सन्तान को सुशिक्षित बनाना अपने एक बड़े कर्तव्य का पालन करना है जिस से उन का यह लोक और परलोक दोनों उत्तम होता है । आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल १, खण्ड १, २ तथा ३ के सूत्रों से ज्ञात होता है कि “ शूद्रों (निर्बुद्धियों) तथा दुष्टों के अतिरिक्त शेष सब को यज्ञोपवीत धारण, वेदाध्ययन तथा आग्रहोत्र करने का अधिकार है और यह सब कर्म इस लोक और परलोक दोनों में शुभ-फलप्रद हैं, ब्राह्मण के पुत्र का यज्ञोपवीत आठवें वर्ष, क्षत्रिय पुत्र का ग्यारहवें वर्ष, तथा वैश्य पुत्र का यज्ञोपवीत बारहवें वर्ष होना चाहिए । यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भसंस्कार कराने वाला गुरु ऐसा होना चाहिए जिस के वंश में वेदाध्ययन की रीति चली आती हो और जो स्वयं वेद पढ़ा हुआ हो तथा वेदमार्ग पर चलने वाला हो ऐसे गुरु को आचार्य्य कहते हैं, जिस को सदा प्रसन्न रखना ब्रह्मचारी का धर्म है क्योंकि उसी से ब्रह्मचारी को सब कर्तव्याकर्तव्यों धर्माधर्मों का बोध होता है । गुरु ब्रह्मचारी को द्वितीय जन्म देता है अर्थात् उस के आत्मा को सुसंस्कृत कर उत्तम बना देता है अतः द्वितीयजन्म सर्वोत्तम है । इसी कारण द्वितीयजन्म देने वाला गुरु उस पिता माता से बढ़ कर है जिन्होंने ने ब्रह्मचारी के शरीर को जन्म दिया है । १६ वर्ष की आयु के पश्चात् ब्राह्मण का पुत्र २२ वर्ष की आयु के पश्चात् क्षत्रिय का पुत्र तथा २४ वर्ष की आयु के पश्चात् वैश्य का पुत्र प्राय-

शिवत्त किए बिना गुरुकुल में प्रविष्ट नहीं हो सके । सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य्य ४८ वर्षों का है, मध्यम २६ वर्षों का तथा निकृष्ट २४ वर्षों का ब्रह्मचर्य्य है । बारह वर्ष से न्यून किसी भी ब्रह्मचारी को पढ़ना नहीं चाहिए (इस से सिद्ध होता है कि निर्बुद्धियों को छोड़ कर उस समय के और सब बालक कम से कम १२ वर्ष तक गुरुकुल में निवास कर वेदाध्ययन करते थे), ब्रह्मचारी को उचित है कि वह अपने गुरु की धर्मानुकूल आज्ञा पालन करे, उन के बराबर न बैठे, दिन के समय न सांवे, शृङ्गार के लिए सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग न करे, तैल मर्दन न करे सदा शीतल जल से स्नान करे तैरते समय जल क्रीड़ा न करे, चाहे जटाजूट रखे चाहे शिखा रख कर शेष बालों को मुंडवादे, दण्ड रखे बहुत वस्त्र धारण न करे, नृत्य न देखे और न एंमे उत्सवों में सम्मिलित हो जो विषयानन्द के लिए हों, गोष्ठी और गण शप न करे, स्त्री से केवल इतना ही बांले जितना उसे अपनी (भिक्षादि के लिए) आवश्यक हो, वार्य्य की सदा रक्षा करे, अपने कर्त्तव्यों के पालन में कभी शिथिलता न करे, इन्द्रियों को दमन रखे लज्जाशील पुरुषार्थी, क्षमाशील क्रोध तथा डाह से वर्जित हो, पूर्वह्न और सन्ध्या के भोजन के लिए दो बार भिक्षा मांगने के लिए जावे, अभिशस्त तथा अनाय्यों के स्थान छोड़ अन्य जिस गृह से चाहे भिक्षा मांग लावे भिक्षा समय मधुर शब्दों में गृह पत्नी से कहे “भवति! भिक्षां देहि अथवा भिक्षां भवति! देहि अथवा भिक्षां देहि भवति!” भिक्षा में जो कुछ मिले उसे लाकर गुरु की सेवा में समर्पित करे और कहे “ इदम् इत्यम्, आह्वनम् ” अर्थात् यह इतना मैं लाया हूँ, गुरु की अनुपस्थिति में गुरु के किसी सम्बन्धी की सेवा में उस भोजन को समर्पित करे यदि सम्बन्धी न हो तो किसी श्रोत्रिय की सेवा में उसे समर्पित करे, और याद रखे कि भिक्षा का अन्न हविषान्न जैसा पवित्र है । जिस प्रकार यजमान आहवनीयाग्नि में आहुति डालता है उसी प्रकार शिष्य को चाहिए कि अपने गुरु की जठराग्नि को आहवनीयाग्नि समझे और उस में आहुती डाल कर अर्थात् भिक्षान्न में से गुरु को खिला कर यज्ञावेश की भांति पवित्र समझता हुआ शप भोजन को खावे । यदि गुरु की इच्छा उस समर्पित भोजन में से खाने की न हो तो वह शिष्य से कहे “सौम्य! त्वमेव मुंक्ष्व” सौम्य! तुमही भोजन करो । ”

उक्त भिक्षा के विषय में आजकल विविध प्रकार के विचार उपस्थित किए जाते हैं । जो लोग ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मचारी लोग साधारण भिखारी की तरह भिक्षा मांगते थे वे प्राचीन भारत की प्राचीन सामाजिक रचना की विचित्रता एवं ऋषियों

के तद्विषयक भाव अभी तक समझ नहीं सके । जहां ब्रह्मचारियों के लिए यह उपदेश है कि वे नम्रता से भिक्षा मांगें वहां गृहस्थियों को यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचारियों का भिक्षा देने में उन का मान्य है, जहां ब्रह्मचारियों में छोटी अवस्था से ही स्त्रीपूजा और नम्रता के भाव डाले जाते थे वहां गृहस्थियों के लिए शिक्षा होती थी कि आर्य्य-जाति का प्रत्येक पुत्र सब का पुत्र है, उन के आचरणों के लिए जिस प्रकार उन के माता पिता उत्तरदाता हैं उसी प्रकार अन्य लोग भी उत्तरदाता हैं । उस समय के विद्यार्थी धन्य थे क्योंकि प्रत्येक गृहिणी उन की माता थी, जब भिक्षा के लिए ब्रह्मचारियों के शुभागमन का समय होता था तो प्रत्येक गृहिणी उन की प्रार्थना करने लगती थी और उन के पहुंचते ही बड़े प्रेम से उन के योग्य शुद्ध सात्विक भोजन प्रदान करती थी ।' आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल १, खण्ड ३, सूत्र २६ में जो कुछ लिखा है उस का आशय यह है कि " जो गृहिणी अपने द्वार पर आए हुए ब्रह्मचारी का भिक्षा नहीं देती उस का श्रांत यज्ञ, दान, गृह्याग्नि में किए हुए हवन के पुण्य नष्ट हो जाते हैं, उन की सन्तति, उन के गवाह पशु, उन की विद्या व्यर्थ समझी जाती है अतः किसी भी गृहिणी को उचित नहीं कि वह ब्रह्मचारियों की मण्डलों का भिक्षा से विमुख फेरे" । जब कि ब्रह्मचारियों को भिक्षा देना इतना आवश्यक बतलाया गया है तो कोई भी पुरुष कैसे कह सकता है कि प्राचीन समय के ब्रह्मचारियों की स्थिति साधारण भिखारियों कीसी थी ? यदि ब्रह्मचारियों (विद्यार्थियों) का प्राचीन समय में तिरस्कृत समझा जाता और इसी कारण उन के लिए भिक्षा की आज्ञा होती तो वासिष्ठ सूत्र अध्याय १३ सूत्र ५९ में यह कर्मा न लिखा जाता कि यदि स्नातक ब्रह्मचारी और राजा एक ही मार्ग पर आते हुए एक दूसरे के सन्मुख हो जावें तो राजा को चाहिये कि स्नातक के लिए मार्ग छोड़ कर हट जावे (अर्थात् राजा भी स्नातक ब्रह्मचारी को मान्य देवे)

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल २ खण्ड ५, ६, ७ तथा ८ से ज्ञात होता है कि "ब्रह्मचारी गण प्रायः अपने गुरु के चरणों को छू कर प्रणाम करते थे, श्रेणी में जब गुरु कोई प्रश्न पूछते थे तो शिष्य प्रायः उठ कर उत्तर दिया करते थे, जब गुरु के सन्मुख पाठशाला में विद्यार्थी जाते थे तो उन में से किन्हीं के पग में यदि किसी विशेष कारण से जूता होता था तो उसे वे उतार देते थे (यात्रा के समय जूता वर्जित नहीं था परन्तु विशेष दशाओं के सिवाय जूते का पहनना, छत्र का धारण तथा रथ पर चढ़ना ब्रह्मचारियों के लिए अति निषिद्ध था) श्रेणी में विद्यार्थी

यदि अधिक होते थे तो ऐसी रीति से बैठते थे कि पाठ को सब सुन सकें, यदि विशेष मान्य के योग्य कोई विद्वान् गुरुकुल में आता था तो ब्रह्मचारी गण उस विद्वान् को उसी प्रकार प्रणाम करते थे जिस प्रकार कि वे अपने गुरु का करते थे, गुरु विद्या को बेचना पाप समझते थे परन्तु शिष्य का यह कर्तव्य था कि शिक्षा की समाप्ति पर वह गुरु को दक्षिणा दें, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध मरण-पर्यन्त बना रहता था, गुरुकुल छोड़ने पर भी शिष्य गुरु की सेवा को अपना धर्म समझता था, और आवश्यकतानुसार गुरुकुल में उपस्थित हो अपने गुरु की यथोचित सेवा करता था, आलस्य और आमोद के लिए कोई विद्यार्थी वाहन पर नहीं चढ़ सकता था परन्तु आवश्यकतानुसार गुरु की आज्ञा पाकर चढ़ता था, यदि गुरु के साथ वाहन पर चढ़ना होता था तो गुरु के वाहनारूढ़ हो जाने के पश्चात् विद्यार्थी चढ़ता था, गुरु के लिए उपदेश था कि वह शिष्य को निज पुत्र की तरह प्यार करता हुआ एवं उस की ओर पूर्ण ध्यान रखता हुआ निष्कपट भाव से पवित्र विज्ञान (वेद) सम्बन्धी सारी विद्याएं उसे पढ़ा दे और आप जो कुछ जानता हो उसे शिष्य से कभी भी गुप्त न रखें, आपत्काल के सिवाय और कभी भी अपने शिष्य से ऐसा काम न लेंवे जिस से उस के पाठ में बाधा उपस्थित हो, यदि विद्यार्थी अपराध करे तो गुरु उसे डांट कर ठीक कर लें। भयभीत करना, उपवास रखाना, विशेष ठंडे जल से स्नान कराना तथा अपने सन्मुख आने से (कुछ समय के लिए) रोक देना यह सब दण्ड हैं जो कि अपराध की न्यूनधिकतानुसार विद्यार्थी को दिए जा सकते हैं । ”

गौतम अध्याय २ सूत्र ४२ तथा ४३ में लिखा है कि “ नियम तो यह होना चाहिये कि विद्यार्थी को शारीरिक दण्ड न दिया जाय परन्तु यदि अन्य प्रकार से विद्यार्थी न सुधरे तो गुरु उसे पतली रस्सी वा बेल से दण्ड देवे परन्तु किसी अन्य वस्तु से न मारे, यदि किसी अन्य वस्तु से मारे तो गुरु, राजदण्ड का भागी समझा जावे ”

आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल ३, खण्ड ९, १०, ११ तथा गौतम सूत्र अध्याय १६ तथा वाशिष्ठ सूत्र अध्याय १३ से ज्ञात होता है कि निम्नलिखित अवसरों पर पाठ बन्द रहता था:—

“(१) जब कोई श्रोत्रिय वा अन्य विशेष प्रतिष्ठित पुरुष पाठशाला में आता था ।

(२) जब गुरू मर जाते थे ।

(३) जिस दिन अधिक वर्षा होती थी अथवा बारम्बार देर तक बिजली चमकती वा मेघ-गर्जन होता था अथवा प्रचण्ड पवन चलता था अथवा भूकम्प आता था ।

(४) जिस दिन देश का राजा मर जाता था ।

(५) जब विशेष अध्यापक छुट्टी पर जाते थे (उस समय केवल उस विषय का पाठ बन्द रहता था जिस उक्त अध्यापक पढ़ाते थे) ।

(६) जब किसी निकट स्थान पर आग लगती थी अथवा किसी समीपवर्ती स्थान पर आक्रमण होता था (इस लिए कि ब्रह्मचारी गण दुखियों की सहायता करें) ।

पढ़ने के समय चित्त की अवस्था स्वस्थ होनी चाहिए अतः निम्नलिखित स्थानों वा अवस्थाओं में जब कि चित्त में हलचल वा स्तब्धता अर्थात् अकार्य्यपरायणता होनी सम्भव है पाठ वर्जित रहता था :—

“(१) जब ब्रह्मचारी सड़क पर चलता हो ।

(२) जब ब्रह्मचारी स्मशान भूमि में हो ।

(३) ऐसे स्थान पर जहां मुर्दा पड़ा हो ।

(४) जब ब्रह्मचारी पशु पर सवार हो ।

(५) जब ब्रह्मचारी के पेट में अर्जाण हो ।

(६) जब ब्रह्मचारी वमन कर चुका हो ।

(७) जब ब्रह्मचारी नौका पर सवार हो ।

(८) जब ब्रह्मचारी लेटा हुआ हो अर्थात् शिथिलावस्था में हो ।

अध्यापक के लिए आज्ञा थी कि वह श्रेणी के कमरे में पढ़ाव और उस के द्वार खोल रक्खे (बन्द न रक्खे) अध्यापक यदि वृक्ष पर बैठा हो वा स्नान कर रहा हो वा शरीर में तैल मर्दन करता हो तो (ऐसे समयों में) पढ़ाना बन्द रक्खे”

और भी पाठ कब २ बन्द होना चाहिए, इस का निर्णय वैदिक-शालाओं (गुरुकुलों) की शिक्षा (प्रणाली) तथा उन की कार्य्य-विधि से करना चाहिये (आपस्तम्ब) १, ३, ११, ३८) ।

प्राचीन काल में अनधिकारी और कुपात्र को विद्यादान देना पाप समझा जाता था । यह बात अलङ्कार रूप से वाशिष्ठ सूत्र में इस प्रकार बतलाई गई है :—

“एकवार विद्या ब्राह्मण के पास आई और उस से कहने लगी मैं तेरा कोष हूँ तू मेरी रक्षा कर, ऐसे मनुष्य के पास मुझे मत भेज जो मेरा हास्य करे अथवा जो दुष्ट हो अथवा जो इन्द्रियों का दास हो, सुरक्षित रखने से मैं बलिष्ठ हो जाऊंगी, ए ब्राह्मण ! तू मेरी रक्षा उसी प्रकार कर जैसे तू अपनी निधि की करता है, केवल उसे मुझे दान कर जो पवित्र, ध्यानावस्थित, शुद्ध, बुद्धियुक्त और ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किए हो और जो कभी तेरा अपमान करने वाला न हो।”

आपस्तम्ब सूत्र अध्याय १, पटल १, खण्ड २, सूत्र १९ से ज्ञात होता है कि गुरु की आज्ञा ब्रह्मचारी का सदा शिराधार्य करनी पड़ती थी परन्तु उस आज्ञा का मानना उस के लिए आवश्यक न था जो धर्म विरुद्ध हो।

आज कल इङ्ग्लैंड में यह विचार हो रहा है कि जिन विद्यार्थियों को पूरा भोजन नहीं मिलता वे पढ़ नहीं सकते अतः प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों को (यदि पर्याप्त भोजन उन के घर न मिल सकता हो तो) राजा का ओर से भोजन मिलना चाहिए। पर यह विचार नया नहीं है। बौद्धायन सूत्र में लिखा है कि अग्निहोत्री, लाटू बैठ और ब्रह्मचारी अपना काम (ठीक ठीक) तभी कर सकत हैं जब कि पूर्णान्न खावें। भोजन को एक प्रकार का यज्ञ बतलाया गया है और उस ब्रह्मचारी को अपराधी समझा गया है जो भूखा रहता हो।

जो ब्रह्मचारी अपनी पढ़ाई को समाप्त कर लेते थे उन्हें स्नातक पदवी से विभूषित किया जाता था। इस पदवी प्रदान के पूर्व गुरुकुल में उन ब्रह्मचारियों का संस्कार होता था जिसे समावर्तन संस्कार कहते हैं। आज कल ग्रैजुएटों को डिप्लोमा प्रदान के समय कनवोकेशन का जो अधिवेशन होता है वह उक्त समावर्तन संस्कार का एक भाग समझा जा सकता है। उस समय स्नातक बनने वाले ब्रह्मचारियों को संस्कार में उपस्थित विद्वन्मण्डली के समक्ष आचार्य्य उत्तमोत्तम उपदेश देता था जिन में से कतिपय निम्नलिखित हैं:—

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्तिः—“ सत्यंवद, धर्मचर, स्वाध्यायान्माप्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः, सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम् भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवांभव, पितृदेवांभव, आचार्य्य देवांभव, अतिथिदेवांभव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि संधितव्यानि नो इतराणि,

यान्यस्माकथंमुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि, ये केचास्मच्छ्रेयाश्श्रोसो ब्राह्मणः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्नसितव्यम्, श्रद्धयादेयम्, अश्रद्धयादेयम्, श्रियादेयम्, ह्रियादेयम्, भियादेयम् संविदादेयम् । अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मार्शिनः युक्ता अयुक्ताः अलूना धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्त्तन्तु तथा तत्र वर्त्तथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मार्शिनः युक्ता अयुक्ताः अलूना धर्मकामाः स्युः यथा ते तेषु वर्त्तन्तु तथा तेषु वर्त्तथाः । एषादेशः एषउदेशः एषावदापनिषत्, एतदनुशासनम्, एवमुपासितव्यम् एवमुचैतदुपास्यम्' । (तैत्तिरीयापनिषत्, शिखाध्याय, एकादशोऽनुवाकः)

अर्थात् (अपने निकट वस डूए ब्रह्मचारी को आचार्य्य वेद पढ़ा कर पुनः वा अन्त में यह शिक्षा देता है) सदा सत्य बोला करो, धर्म ही का आचरण करो, स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्म विचार वा ब्रह्मोपासना में अथवा वेदों के ब्रह्म विद्यादि विषय जो कुछ पढ़ चुके हों उस को वारम्बार पुनरावृत्त करने में वा दोहराते रहने में आलस्य न करो, आचार्य्य के लिए प्रिय धन ला कर अर्थात् गुरु दक्षिणा दे कर ऐसा करो जिस में प्रजा वृद्ध का मिलसिला तुम से न टूटे अर्थात् विवाह कर के सन्तानोत्पन्न करो,) उस गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी तुम्हें सत्य के पालन में आलस्य नहीं करना चाहिए, धर्म के धारण में आलस्य नहीं करना चाहिए, जो कुशल कर्म हैं अर्थात् जिन से तुम्हारा तथा अन्यो का कल्याण होवे ऐसे कर्मों के करने में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए जिन कर्मों से तुम्हारे वा अन्यो के धनादि ईश्वर्य्य बड़े उन्हें करने में आलस्य नहीं करना चाहिए, स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्मविचार वा ब्रह्मोपासना में वा वेद विषयक आत्मिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों के विचार में तथा प्रवचन उन्हीं वेदों के पढ़ान में वा बड़ी बड़ी वक्तृताओं द्वारा उन के आशय अर्थात् आत्मिक और प्राकृतिक विज्ञानों को हृदयङ्गम करने में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए, वेद अर्थात् धार्मिक विद्वानों और पितर अर्थात् वृद्ध ज्ञानी महात्माओं की सेवादि कार्यों में कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिए, माता को देवता मानने वाले होवो पिता का देवता मानने वाले होवो, आचार्य्य को देवता मानने वाले होवो, अतिथि को देवता मानने वाले होवो, जो अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन तुम्हें करना चाहिए अन्य अर्थात् निन्दित का नहीं, हमारे भा जो उत्तम आचरण हैं उन्हीं को ग्रहण करना तुम्हें उचित है, उन से भिन्न जो हमारे दुष्कर्म हों उन का अनुकरण तुम्हें कभी भी करना नहीं चाहिए । हम से इतर जो कोई अन्य वेदों के जानने वाले धार्मिक

पुरुष ब्राह्मण हैं उन को भी आपसनादि सत्कारों से सेवा कर के सुखी करना तुम्हें उचित है (एवं उन के निकट बैठना और उन में विश्वास करना तुम्हें उचित है, (यथासम्भव दान देने में संकोच न करना) श्रद्धा सहित दान देना चाहिए (अर्थात् जिन महात्माओं में तुम्हारी श्रद्धा हो उन्हें दान दान वा जिन शुभ-कर्मों में तुम्हारी श्रद्धा हो उन की पूर्ति के लिए दान दान) श्रद्धा से दान देना चाहिए, श्री अर्थात् प्रतिष्ठा वा शोभा के विचार से भी दान देना चाहिए, ही अर्थात् लोक लज्जा के विचार से भी दान देना चाहिये (अर्थात् ऐसा न हो कि सर्वथा दान न देने से वा अखल्प दान देने से लोग तुम्हें कृपण कहने लगे) भय से भी दान न देना चाहिए (अर्थात् कदाचित्त तुम से अनक प्राणियों को हानि पहुंच जाय जिस का भावी फल कष्ट होगा तो उस कष्ट के भय से प्राणियों को हानि के बदले लाभ पहुंचान के लिए तुम्हें दान देना चाहिए) अन्य दुखी मनुष्यों की आवश्यकता जान कर जब तुम्हें दुख हो तो उन प्राणियों की दुख निवृत्ति के लिए एवं अपने दुख निवृत्ति के लिए भी दान देना चाहिए । (वा प्रतिज्ञा से भी दान देना चाहिए) यदि तुम्हें किन्हीं कर्मों के उत्तम वा अनुत्तम होने के विषय में सन्देह हो किन्हीं विचारों वा भावों के धार्मिक वा अधार्मिक वा उचित वा अनुचित होने के विषय में सन्देह हो (अर्थात् कर्म उपासना और ज्ञान विषयक सन्देह उपस्थित होने पर उस अवस्था में जो वेदवक्ता पुरुष विचार शील हों, चाहें वे युक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में लगे हुए हों, (वा जो युक्त अर्थात् योगी हों) अथवा अयुक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में न लगे हुए विरक्त संन्यासी हों, (वा जो अयुक्त अर्थात् पूर्ण योगान भी हों) जो क्रोधादि दोषों से रहित हों, जिन की एक मात्र इच्छा धर्म की वृद्धि के लिए ही हो (उन के आचरणों को देखो) जिस विषय में तुम्हें सन्देह पड़ गया है उस विषय में उक्त महात्मान्जन्म जिस प्रकार बर्ताव वा आचरण करते हों उस विषय में तुम भी वैसा ही बर्ताव वा आचरण करो, जो अभ्यास्यता अर्थात् परम प्रसिद्ध ब्रह्मर्षिराजर्षि वा धर्मपरायण सम्राटगण हो गए हैं उन के इतिहासों, चरित्रों वा कर्मों वा उपदेशों के विषय में यदि तुम्हें किसी प्रकार की शङ्का हो जाय तो उस विषय में तुम्हारे समय में जो वेदवक्ता विचारशील पुरुष हों चाहें वे युक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में लगे हुए हों अथवा अयुक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम में न लगे हुए विरक्त संन्यासी हों, जो क्रोधादि दोषों से रहित हों, जिन की एक मात्र इच्छा धर्म की वृद्धि के लिए हो उन के बर्तावों को देखो, उस विषय में उक्त

महात्माजन जिस प्रकार बर्ताव करते हों अर्थात् जैसा मानते, कहते वा करते हों तुम भी वैसा ही बर्ताव करो अर्थात् वैसा ही मानो, कहां और करो। यह जो "सत्यं वद" आदि हम कह आए यही तुम्हारे लिए मेरा आदेश है, यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है, यही वैदिक धर्म का मर्म है, यही मेरी फिर भी तुम्हारे लिए आज्ञा है, इसी प्रकार वर्तते हुए धर्मानुष्ठान वा परमात्मा की उपासना करनी चाहिए, निश्चय कर इसी प्रकार उक्त परमात्मा उपासनाय है ।

उक्त एकादश अनुवाक में जो "वेदमनूच्य" शब्द आता है उस का अर्थ है वेदों को पढ़ा कर और जो "अनुशास्ति" शब्द आता है उस का अर्थ है पीछे से शिक्षा करता हूँ । अतः स्पष्ट सिद्ध है कि उक्त शिक्षा वेदों के अध्ययन को समाप्त किए हुए एवं ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण किए हुए स्नातक ब्रह्मचारी के लिए है ।

हम बड़े बल और पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि मनुष्य जाति की सभ्यता के इतिहास में इस से अधिक सुन्दर और उपयोगी उपदेश कभी किसी युनिवर्सिटी के प्रेजुएण्टों को नहीं दिया गया । इस संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली उपदेश में स्नातकों को बतला दिया जाता था कि वास्तव में स्वाध्याय से ही मनुष्य पूर्ण विद्वान् बनता है और स्नातक होने पर शिक्षा की समाप्ति नहीं होती प्रत्युत गूढ़ अन्वेषण का आरम्भ होता है, उन्हें यह भी बतला दिया जाता था कि स्नातकों से यह आशा की जाती है कि स्वाध्याय के बल से वह ब्रह्म, जीव और प्रकृति के गुणों को भलीभांति समझेंगे और अपने आत्मिक विचार वा उपदेशों से लोगों को आत्मिक शान्ति और प्राकृतिक अन्वेषणों से मनुष्य जाति की श्रावृद्धि के उपायों को बतलावेंगे परन्तु यह सब करते हुए भी सन्तान पालन, अतिथि सत्कारादि जो गृहस्थियों के दैनिक-कर्म हैं उन पर भी पूरा ध्यान रखेंगे ।

"कन्यायां का यज्ञोपवीत और ब्रह्मचर्य"—जिन ऋषियों ने वेद की आज्ञा "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" (अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या युवा पति को प्राप्त करे) का शिरोधार्य कर लिया था उन्होंने ने समाज के बीच घ पगा कर दी थी कि पुत्रों की तरह कन्याओं को भी ब्रह्मचर्य धारण करने का पूरा अधिकार है । एवं प्राचीन आर्यों की वही कन्याएं विवाहयोग्य मानी जाती थीं जिन का ब्रह्मचर्य व्रत पूर्ण हो गया हो । आश्वलायन श्रात सूत्र और सूत्र में स्पष्टालिखत है:-

"समानं ब्रह्मचर्यम्"

अर्थात् (पुत्र और पुत्री दोनों का) ब्रह्मचर्य धारण करने में समानाधिकार है ।
गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है:—

“प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जयेत् सोमो ददद्
गन्धर्वायति ”

अर्थात् जो कन्या वस्त्रादि से आच्छादित और यज्ञोपवीत धारण की हुई हो उसे [विवाह मण्डप में] लावे और “ सोमो ” ददद् गन्धर्वाय....इस वेदमन्त्र को पढ़े । इस सूत्र से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने के समय कन्याओं का भी यज्ञोपवीत हुआ करता था । ऐसा न होता तो विवाह मण्डप में जाने वाली कन्या “यज्ञोपवीतिनी” कैसे कहलाती ?

पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है:—

स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च

अर्थात् स्त्री यज्ञोपवीतिनी तथा बिना जनेऊ धारण किए हुए भी हां ।

इस से बोध होता है कि पारस्कर के समय स्त्री शिक्षा का प्रचार कुछ कम हो गया था । वेद मन्त्र की जो शिक्षा थी कि “ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्” उस का अनुसरण ढीला हो गया था । ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के समय यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक समझा जाता था अतः जो स्त्री “अनुपनीता” अर्थात् बिना जनेऊ वाली होती होगी वह विधिवत् ब्रह्मचर्य धारण न करने के कारण विद्यावती भी कम ही होती होगी ।

गृहस्थाश्रम ।

गुरुकुल निवास को समाप्त कर कोई २ ब्रह्मचारी यथा नचिकेतादि विशेष प्रजाशील होने के कारण जिन को प्रजा ऋतम्भरा हो जाती थी ब्रह्म प्राप्ति के लिए तथा सब को लिये पितृवत् भाव रखने हुए, विशेष पुत्र की आकांक्षा न कर अपने सदुपदेशों द्वारा सब को धम्ममार्ग में चलाने की इच्छा से एवं क्रमशः सब को परमात्मा की प्राप्ति के योग्य बनाने की अभिलाषा में विरज अर्थात् विरक्त परिव्राजक एवं विमृत्यु अर्थात् मृत्यु-भय से रहित हो जाते थे जिन को सम्पूर्ण प्रजा महती पूज्य दृष्टि से देखती थी उसी प्रकार कोई २ ब्रह्मचारिणी यथा ऋग्वेद के अष्टम मण्डल अष्टमोऽंशे सूक्त २२ की प्रचारिका अपालात्रेयी आदि ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रचारिका बन जाती थी इन को भी प्रजा बड़े मान्य की दृष्टि से देखती थी परन्तु आश्रम ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार को समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के विचार से सप्त-गुण कर्म स्वभाव वाली ब्रह्मचारिणी से विवाह करने के लिए यत्न करने लगती थी और तद्वत् ब्रह्मचारिणी कन्याएं भी विवाह की इच्छा करने लगती थी ।

द्विवाह - विकास भिद्धान्त के मानने वाले योरोपीय कहते हैं कि एक समय ऐसा था जब कि विवाह की प्रथा न थी । जब विवाह की रीति प्रचलित हुई तो पहले पहल निकट सम्बन्धियों में ही विवाह आरम्भ हुआ इतिहास के ग्रन्थ में हम इस विषय पर विचार नहीं कर सकते कि वर्तमान सृष्टि की आदि में जैसा कि वैदिक मतानुयायी कहते हैं सैकड़ों वा सहस्रों नर नारी पैदा हुए और साथ ही उस समय उत्पन्न हुए पवित्र ऋषियों के हृदय में परमात्मा की ओर से वेदों का भी प्रादुर्भाव हुआ जिस कारण ज्ञान का स्रोत भी वर्तमान सृष्टि के आरम्भ से ही चल निकला किस प्रकार ठीक है अथवा जैसा कि अनेक अन्यान्य मतानुयायी कहते हैं कि सृष्टि की आदि में नर नारी का एक ही जोड़ा पैदा हुआ किस प्रकार भ्रान्त है, अथवा इस विषय के अन्यायों के अन्य कथन किस प्रकार अप्रामाणिक हैं । परन्तु इस विषय पर जब हम ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं तो पता लगता है कि आर्यों

की ऐतिहासिक घटनाएं जो वास्तव में अन्यान्य सभी ऐतिहासिक घटनाओं से प्राचीन हैं विकाश सिद्धान्त के मानने वाले योरोपियों के विवाह विषयक सिद्धान्त का पोषण नहीं करती । आर्यों के यहां किसी भी ऐसे समय का पता नहीं लगता जब कि उन के यहां विवाह का प्रथा प्रचरित नहीं थी ।

आर्यों का एक अति प्राचीन पुस्तक ऐतरेय ब्राह्मण है । उस की सप्तम पञ्जिका के तृतीयाध्याय के प्रथम खण्ड में विवाह की उत्तमता तथा पुत्र होने के लाभों को बतलाया गया है । वहां लिखा है:—

“हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस.....सह नारदं पप्रच्छ.....
किंस्वित्पुत्रेण वन्दनं तन्मा आचक्ष्व नारदंति स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच ऋण-
मस्मिन्मन्त्रयत्यमृतत्वञ्च गच्छति पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चर्जावतो मुखं, यावन्तः
पृथिव्यां भगा यावन्तो जातवेदासि यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्र पितुस्ततः,
शश्वन् पुत्रेण पितरोऽस्त्यायन बहुलं तमः । आत्माहि जज्ञ आत्मनः स इरावत्याति-
तारिणां.....अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः सखा-
हजाया.....ज्यातिर्ह पुत्रः.....पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा.....नापुत्रस्य
लोकोऽस्तीति.....”

अर्थात् महाराज “ इक्ष्वाकु ” के वंशज महाराज “ वैधस ” के पुत्र हरिश्चन्द्र नाम राजा पुत्र विहीन थे (पुत्र न रहने के कारण चिन्तित हो कर) राजा हरिश्चन्द्र ने ऋषि नारद से पूछा (कि हे भगवन् !) पुत्र होने से (पिता) किन २ फलों को प्राप्त करता है कृपया उन्हें मुझे बतलाइये । नारद ने इस एक प्रश्न का उत्तर दश प्रकार से दिया । नारद ने कहा (हे राजन् !) यदि उत्पन्न हुए, जाते हुए (अर्थात् प्राणवस्था का प्राप्ति) पुत्र का मुख पिता देखता है तो उस पुत्र में, अपने धारण किए हुए (लौकिक तथा वैदिक) ऋणों को पिता स्थापित कर देता है और (स्वयं निश्चिन्त हो तत्त्वज्ञान के सम्पादन में लग कर) मुक्ति पद को प्राप्त करता है । जितने पृथ्वी से (गृहादि निवासादि वा अन्नोत्पत्त्यादि वा गन्धादि सम्बन्धी भोग) मिल सक्ते हैं, जितने जातवेदस वा आग्नि से (शीत निवारण, पाचन, प्रकाशादि सम्बन्धी) भोग मिल सक्ते हैं, जितने अप अर्थात् जल से (रस पान स्नानादि सम्बन्धी) भोग मिल सक्ते हैं इन सब से अधिक सुख पिता का पुत्र में रक्खा हुआ है । (सदा ऐसा होता है कि) पुत्र के उत्पन्न होने से पिता बहुत से अन्धकारों वा दुःखों से पार हो जाता है, पिता पुत्र रूप में उत्पन्न हो जाता है इसी कारण जिस प्रकार तरणी (मनुष्य को समुद्र

से) पार ले जाती है उसी प्रकार पुत्र (दुख से) पिता को पार उतारता है। प्राण अन्न के समान (सुखदाई है)। गृह, शरण (किसी की शरण वा रक्षा में जिस प्रकार मनुष्य हो) के समान (सुख दाई है) सुवर्ण, सुन्दर रूप के समान (सुख-दाई है)। विवाह, अपने दुग्धादि से सुख देने वाली गवादि पशुओं की तरह (सुखदाई है)। स्त्री मित्र स्वरूपिणी है अर्थात् सच्चे मित्र की तरह सुख देने वाली है। पुत्र प्रकाश की तरह चांदना कर के सुख देने वाला है। पति गर्भ रूप से अपनी स्त्री में प्रवेश करता है। जिस के पुत्र नहीं है उस का सांसारिक सुख भी नहीं की तरह का फीका है।

इसी प्रकार सूत्र-ग्रन्थों में भी विवाहित स्त्री पुरुष के आश्रम अर्थात् गृहस्थाश्रम की महिमा गाई गई है यथा:—

जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियां समुद्र में जा कर विश्राम पाती हैं उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थियों से रक्षा पाते हैं, जिस प्रकार सब बच्चे अपनी माता की रक्षा करने से ही रक्षित रहते हैं उसी प्रकार सब भिक्षुक (संन्यासी) भी गृहस्थियों के रक्षा दान से ही जीते रहते हैं (वाशिष्ठ, अ० ८, सूत्र १५ तथा १६)

गृहस्थाश्रम ही ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम, तथा संन्यासाश्रम का जनक है क्योंकि गृहस्थाश्रमियों से भिन्न अन्याश्रमी सन्तानोत्पन्न नहीं करते (गौतम, अध्याय ३, सूत्र ३)

जिस गृहस्थाश्रम की महिमा इतनी गाई गई है उस में निश्चय है कि ब्रह्मचारी गण प्रसन्नता पूर्वक प्रवेश करते होंगे।

ब्रह्मचारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश की विधि सूत्र-ग्रन्थों में इस प्रकार लिखी है:—

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेके पूर्व ब्रह्मचारी को चाहिये कि अभिमान और क्रोध रहित हो कर गुरु की आज्ञा से स्नान करे तदनन्तर अपने वर्ण की उस कन्या से जो अपने गोत्र की न हो, जो अपने प्रवर की न हो जिस ने किसी पुरुष से प्रसङ्ग न किया हो विवाह करे। उक्त कन्या को पति की माता की चार पीढ़ियों से दूर तथा पति के पिता की छः पीढ़ियों से दूर भी होना आवश्यक है (वाशिष्ठ सूत्र, अध्याय ८, सूत्र १ तथा २)

पिता को चाहिये कि अपनी पुत्री को ऐसे वर को न दे जो उस के गोत्र का हो तथा जो उस के पिता वा माता की छः पीढ़ियों के भीतर हो (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ५, खण्ड ११, सूत्र १५ तथा १६)

उक्त प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि जैसा कि महर्षि यास्क ने लिखा है “दुहिता दुहिता दूरोहिता” अर्थात् दुहिता का विवाह दूर दूर कुलों वा दूर दूर स्थानों में ही होना हितकारक है मूत्रग्रन्थों के समय भी प्रवृत्त था ।

यूरोप में बहुत दिनों से निकट सम्बन्धियों में भी विवाह की प्रथा चली आ रही है परन्तु हर्ष का विषय है कि विवाह सम्बन्धी आर्ष-नियमों का यूरोप के बड़े बड़े विद्वान् अब कुछ २ समझने लगे हैं । यूरोपीय कई डाक्टरों ने अब मुक्तकण्ठसे कह दिया है कि निकट कुलों में विवाह न करो, निकट कुलों में विवाह हाता रहेगा तो तीक्ष्ण बुद्धि के बालकों का उत्पन्न होना बन्द हो जायगा ।

जिस प्रकार गुरुकुल निवास को समाप्त कर ब्रह्मचारी विवाह के विचार से किसी सम-गुण कर्म स्वभाव वाला ब्रह्मचारिणी का अनुसन्धान करता था उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी भी गुरुकुल निवास को समाप्त कर अपने योग्य पति को वरने की चिन्ता करने लगती थी । और कन्या को स्वयम्बर अर्थात् अपने योग्य पति के वरने का पूरा अधिकार था । ब्राह्मण ग्रन्थों के समय के पश्चात् के तो अनेक सुप्रसिद्ध स्वयम्बरों की कथा सुनने में आती ही हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वयम्बर की चर्चा से शून्य नहीं हैं । ऐतरेय ब्राह्मण की चतुर्थ पञ्जिका के द्वितीयाध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा है:—

“प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञं दुहितरं प्रायच्छत्सूयां सावित्रां तस्यै सव दवा वरा आगच्छन्.....”

अर्थात् प्रजापति नाम पुरुष की कन्या सूर्यासावित्री थी, उसे शान्त स्वरूप सर्वोत्तम गुणों से प्रकाशित पुरुष के लिए विवाहार्थ देने की इच्छा जब प्रजापति ने प्रगट की तो (उस समय के) सब बड़े २ विद्वान् विवाहच्छा से प्रजापति के समीप आए ।

आगे लिखा है कि उक्त विद्वानों का मण्डली में प्रजापति ने अपनी प्रतिज्ञा को कह सुनाया कि जो विद्वान् अमुक २ गुण सम्पन्न होगा उसे हमारी

कन्या वरेगी इत्यादि जिस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रजापति ने सूर्यासावित्री के लिए स्वयम्बर का अधिकार दिया था ।

गौतम सूत्र अध्याय १८, सूत्र २० में लिखा है कि ब्रह्मचारिणी कन्या को उचित है कि (जब वह विवाह के योग्य हो जावे ता) तीन मासों को व्यतीत हो जाने दे और तदनन्तर स्वच्छा से किसी दाषराहत पुरुष को (जिसे वह पसन्द करे) बरले परन्तु (पति गृह में जाने के पूर्व) उन सब आभूषणों का जो उस ने अपने पिता वा अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त किये हों उन्हें वापिस देदे ।

बौद्धायनसूत्र प्रश्न १ अध्याय ११, खण्ड २०, तथा आपस्तम्बसूत्र प्रश्न २, पटल ९, खण्ड ११, तथा गौतमसूत्र अध्याय ४, के देखने से ज्ञात होता है कि सूत्रग्रन्थों के समय आठ प्रकार के विवाह प्रचरित थे जिन के नाम ये हैं:— “ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, देव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच” । इन सब प्रकारों में ब्राह्म विवाह सर्वोपरि समझा जाता था ।

बौद्धायनसूत्र प्रश्न १, अध्याय ११, खण्ड २०, सूत्र २ में लिखा है:—

“यदि पिता अपनी कन्या को विवाहार्थ उम ब्रह्मचारी को देता है जिस की विद्या और सदाचार के विषय में उस ने पूरा ज्ञान करली है तथा जो ब्रह्मचारी उस कन्या से विवाह करने के लिए प्रार्थी हो चुका है ता ऐसे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी के विवाह को ब्राह्म विवाह कहते हैं” ।

प्राजापत्य उसे कहते थे जिस में विवाह समय कन्या को भूषणों सहित पिता वर को देता था, आर्ष उस जिस में कन्या के तस्वी पिता को यज्ञार्थ एक वृषभ और गाय देकर ब्रह्मचारी कन्या से विवाह करता था, देव उम जिस में यज्ञ कराने वाले स्नातक ब्रह्मचारी को यज्ञ कराते समय यजमान दक्षिणा सहित अपनी कन्या को विवाहार्थ देता था । ये तीन प्रकार भी उत्तम ही समझे जाते थे । गान्धर्व विवाह को कोई उत्तम और कोई निकृष्ट कहता था । परन्तु आसुर, राक्षस और पैशाच विवाह सदा घृणित समझे जाते थे क्योंकि इन विवाहों का प्रवृत्त कराने वाली पुरुषों की कुवृत्तियां होती थीं । क्योंकि ये तीनों प्रकार के विवाह कन्याओं की अनिच्छा तथा उन की असहाय दशा के सूचक थे और इन विवाहों से भी सन्तानोत्पत्ति होती ही थी इस कारण धर्मव्यवस्थापकों ने यह समझ कर कि पुरुषों के अत्याचार से निरपराध कन्याओं तथा उन के निरपराध सन्तानों के अधिकार नष्ट न हों इन आसुर,

राक्षस और पैशाच रीतियों से हुए सम्बन्धों को भी विवाह ही ठहरा दिया अर्थात् इन विवाहों को धर्म-युक्त न मानते हुए भी इन्हें राजव्यवस्था के अन्तर्गत डाल दिया ।

सूत्रग्रन्थों के समय द्रव्य लेकर कन्या का विवाहार्थ किसी पुरुष को देना अत्यन्त ही नीचकर्म समझा जाता था यथा:—

वह दुष्ट पुरुष जो लोभ में आकर और द्रव्य लेकर अपनी कन्या का विवाहार्थ दे देता है, अपने को बच डालता है और घर पाप का भगी बनता है, घर नरक में गिरता है और आने वाली सात पीढ़ी तक अपन वंश को कलङ्कित कर देता है, इस के अतिरिक्त उसे बारम्बार जन्म मरण (का क्लेश) भोगना पड़ता है । यह सब इसा कारण कि वह द्रव्य लेता है । (बौद्धायन प्रश्न १, अध्याय ११, कण्डिका २१, सूत्र ३)

जो कन्या द्रव्य लेकर (विवाहार्थ) माल लाई जाती है वह पत्नी नहीं बन सकती, वह देवयज्ञ और पितृयज्ञ में पात का साथ नहीं दे सकती, काश्यप की सम्मति है कि ऐसी स्त्री दासी (तुल्य) है (बौद्धायन प्रश्न १, अध्याय ११, कण्डिका २१, सूत्र २)

ब्राह्मण ग्रन्थों के देखने से बोध होता है कि त्रिपय भोग की लालसा से नहीं प्रत्युत गृहस्थाश्रम धर्म को सुरीत्या सम्पादन करने के लिये स्नातक और स्नातका का विवाह होता था ।

ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से हम देखला आए हैं कि राजा हरिश्चन्द्र को अपुत्र होने के कारण कितनी चिन्ता थी । नारद ने जो वहाँ यह बतलाया है कि प्राइ पुत्र में पिता अपने वैदिक और लौकिक सब ऋणों को स्थापित कराने के लिये मोक्ष साधन में तत्पर हो सकता है उस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऋणियों के मतानुसार विवाह वैदिक तथा लौकिक ऋणों से उन्मुक्त होने के लिए ही किया जाता है यही उच्चभाव था जिस कारण आर्य्यपुरुष और आर्य्यनारी का विवाह सांसारिक कल्याण का साधन बनता था । स्त्री को अनेक स्थानों में पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी बतलाया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि पुरुष स्त्री यदि दोना जोते हों तो पुरुष स्त्री की सहायता के बिना अग्निहोत्र नहीं कर सकता । ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पञ्जिका के द्वितीयाध्याय के नवम खण्ड में यह प्रश्न उठाया गया है कि “तदाहुर्वाचापत्नीकाऽग्निहोत्रं कथंमव जुहोति” जिस पुरुष की स्त्री मर गई है अर्थात् जो अपत्नीक हो वह अग्नि-

होत्र करे वा न करे और करे तो किस प्रकार? इस का उत्तर अनेक प्रकार से दिया हुआ है अन्त में लिखा है कि "श्रद्धापत्नी, सत्यं यजमानः" इत्यादि, अपनीक पुरुष अपनी श्रद्धा को ही खी मान ले और अपने को सत्य स्वरूप समझे और इस प्रकार श्रद्धा और सत्य मिलकर मानस यज्ञ करें इत्यादि । इन प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृहस्थ धर्मों के सम्पादनार्थ पति के लिए पत्नी और पत्नी के लिए पति कितना उपयोगी माना जाता था ।

सूत्र ग्रन्थों में भी विवाह सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उस से ज्ञात होता है कि विविध यज्ञों की पूर्ति के लिये ही विवाह होता था और गृहस्थाश्रम सम्बन्धी सब धर्म कार्यों में पति पत्नी पर और पत्नी पति पर निर्भर रहती थी । यथा:—

वह धर्मपत्नी जो अग्निहोत्र में पति का साथ देती है वह उन सब धार्मिक कार्यों में भी पति की सहवर्तिनी मानी जाती है जिन धर्म कार्यों का कि अग्निहोत्र एक भाग मात्र है (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खण्ड ११, सू० १४)

धर्मकार्यों के सम्पादन में पत्नी स्वतन्त्र नहीं है, अर्थात् (जो धर्म कार्य पत्नी करे वह पति के साथ करे) (गौतम अध्याय १८, सू० १)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी जब विवाह के लिए वर वधू बनते थे और उन का विवाह संस्कार होने लगता था तो उपस्थित सभा के बीच उन्हें परस्पर अनेक प्रतिज्ञाएं करनी पड़ती थीं जिन प्रतिज्ञाओं में से कतिपय निम्नलिखित हैं:—

"हे वरानने ! मैं ऐश्वर्य्य सुमन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिए तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, मुझ पति के साथ जरावस्था को प्राप्त हो कर भी सुख पूर्वक निवास कर । हे वीर ! मैं सौभाग्य का वृद्धि के लिए आप के हस्त को ग्रहण करती हूं आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिए । आप को मैं और मुझ को आप आज से पति पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं । सकल ऐश्वर्य्य-युक्त न्यायकारी सब जगत् की उत्पात्ति का कर्ता बहुत प्रकार से जगत् का धर्ता परमात्मा और ये सब सभा-मण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग गृहाश्रम कर्म के अच्युष्टान के लिए तुझ को मुझे देते हैं आज से मैं आप के हस्ते और आप मेरे हस्ते बिक चुके हैं कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण नहीं करेंगे । हे अनघे ! धर्म युक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे हाथ को ज्ञान पूर्वक ग्रहण कर चुका हूं जिस जगत् पति परमात्मा ने तुझ को मुझे दिया है उस की कृपा से सौ वर्ष पर्यन्त तू सुख पूर्वक मुझ पति के साथ जीवन

धारण कर । हे भद्रेश्वर ! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो मेरे लिए आप के सिवाय इस जगत् में दूसरा पति नहीं है न मैं आप से अन्य दूसरे कृती को मानूंगी, मैं प्रेम द्वारा आप को प्राप्त हूँ, ज्ञान पूर्वक आप को ग्रहण करती हूँ आप का हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण धर्म में धारण करती हूँ मेरे चित्त के अतुल्य आप का चित्त सदा रहे आप एकेश्वर हो के मेरी वाणी का जो कुछ मैं आप से कहूँ उस का सेवन सदा किया कीजिए क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आप को मेरे आधीन किया है जैसे मुझ को आप के आधीन किया है इत्यादि—”

इस के विरुद्ध योरोप में स्त्री पुरुष का सम्बन्ध आर्योचित उच्च देशों के साथ नहीं होता जिस कारण बहुत से विवाह बन्धन विच्छेद हो जाते हैं ।

सूत्रग्रन्थों में कई जगह लिखा है कि स्त्री स्वतन्त्र नहीं प्रत्युत वह पुरुष के आधीन है यथा:—

(स्त्री की रक्षा) उस का पिता उस की बाल्यावस्था में करता है, युवावस्था में पति रक्षा करता है वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करता है, स्त्री कभी भी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है । (वासिष्ठ अध्याय ९, सूत्र २)

परन्तु वह आधीनता किस प्रकार की है इसे समझने के लिए निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए । उसी वासिष्ठ सूत्र में लिखा है:—

वेद में ऐसा वर्णन किया गया है कि वह नारी जो नग्न नहीं अफरी (अर्थात् जो बाल्यावस्था को समाप्त कर चुकी है) और जिस में अलौकिक अपवित्रता भी नहीं है, स्वर्गवत् है (वासिष्ठ अ० ९, सू० १)

बाल्यावस्था में कन्याओं की रक्षा उन के पिता माता तथा जब वह गुरुकुल में पढ़ने जाती थीं तो उन की रक्षा उन की आचार्या करती थीं सो तो ठीक ही थी । कन्या युवावस्था को प्राप्त हो विवाह कर जब पतिकुल का जाती थी तब भी वह निकृष्ट दासी वा अप्रतिष्ठित नहीं मानी जाती थी प्रत्युत वह महती प्रतिष्ठा वाली समझी जाती थी जिस का प्रमाण यह है कि वासिष्ठ सूत्र अध्याय १३, सूत्र ५९ तथा ६० में जहाँ यह लिखा है कि यदि एक ही सड़क पर सन्मुख आतं हुए राजा को स्नातक ब्रह्मचारी मिले तो राजा को चाहिये कि स्नातक ब्रह्मचारी को (मान्य देने के लिये) मार्ग देदे वहाँ यह भी लिखा है कि “ (राजा और स्नातकादि) सब

लोग (मान्य देने के लिये) उस विवाहिता वधू के लिए मार्ग छोड़ दें जो (सवारी पर पितृगृह से) पति गृह को लेनाई जाती हो" ।

पति के साथ रहती हुई स्त्री उम की निकृष्ट दासी नहीं प्रत्युत उम की अर्द्धाङ्गिनी समझी जाती थी, पति पत्नी की रक्षा में रहता था और पत्नी पति की रक्षा में रहती थी । पति की पूरी रक्षा न रहने के कारण किसी कुसंगवश यदि पत्नी कभी मदिरा पान कर लेती थी तो वह घोर पतित समझी जाती थी और माना जाता था कि पति का आधा शरीर पतित हो गया और अब आधा शरीर रखने के कारण वह किसी काम का न रहा यथा:—

पति का आधा अङ्ग टूट कर गिर पड़ता है यदि उस की पत्नी मदिरा पान करती है । (वासिष्ठ अध्याय २१, सूत्र १५)

पत्नी जब पुत्रवती हो जाती थी और उस के पुत्र प्रौढ़ हो जाते थे तो माता उन पुत्रों की दासी की भांति नहीं रहती थी प्रत्युत पुत्रों की सर्वोत्तम पूज्यदृष्ट माता की ही आर हाती थी यथा:—

उपाध्याय की अपेक्षा दशगुण अधिक प्रतिष्ठित आचार्य्य हैं आचार्य्य से सौ-गुण अधिक प्रतिष्ठित पिता है और पिता से सहस्र गुण अधिक प्रातिष्ठा योग्य माता है (वासिष्ठ अध्याय १३ सूत्र ४८)

अतः जैसा कि हम ऊपर लिख आये वासिष्ठ सूत्र अध्याय ९, सूत्र २ का अर्थ यह हुआ कि स्त्री की सर्वोपरि रक्षा में उस की बाल्यावस्था में पिता मातादि युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र तत्पर रहें और उस का स्वन्त्र वा अकली वा असहायावस्था में न छोड़ें ?

उक्त सूत्रों के अतिरिक्त निम्नलिखित आपसम्बन्धसूत्रों से भी पति और पत्नी के धर्म तथा उन के समानाधिकार स्पष्ट ज्ञात होते हैं:—

पति और पत्नी के बीच विभाजन नहीं हो सकता (अर्थात् उन का विवाह बन्धन किसी भी प्रकार टूट नहीं सकता अथवा गृहमपत्ति का वे आपस में बांट नहीं सकते) क्योंकि विवाहकाल से ही वे धार्मिक कार्यों के लिए युक्त होते हैं, वह सब कर्म जिन से आत्मिक योग्यताएं प्राप्त होती हैं उन के फल भी दोनों को ही मिलते हैं और इसी प्रकार जो ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है उसमें भी उन का युक्ताधिकार है क्योंकि (विद्वानों का) कथन है कि पति की अनुपस्थिति में यदि पत्नी

द्रव्य व्यय करे तो यह चोरी नहीं समझी जाती (आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ६, खण्ड १४ सूत्र १६, १७, १८, १९, २०)

पति और पत्नी दोनों ही युक्त सम्पत्ति पर अधिकार रखते हैं (अर्थात् सम्पत्ति दोनों की ही समझी जाती है) (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ११, खण्ड २९, सूत्र ३)

यदि विवाह समय की प्रतिज्ञाएं टूटेंगी तो पति और पत्नी दोनों ही निश्चय कर के नरक में गिरेंगे । (आपस्तम्बसूत्र प्रश्न २, पटल १०, खण्ड २७, सूत्र ६)

यह सूत्र स्पष्ट बतला रहा है कि विवाह बन्धन धर्मबन्धन समझा जाता था और जिस प्रकार धर्म किसी दशा में भी त्याज्य नहीं उसी प्रकार विवाह बन्धन भी किसी दशा में टूटने योग्य न था ।

कदाचित् किसी कारण यदि कोई पुरुष अपनी सदाचारिणी स्त्री को त्यागता था तो वह स्त्री पतित नहीं समझी जाती थी प्रत्युत वह पुरुष ही पतित माना जाता था और जब तक वह अपने इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं कर लेता था तब तक वह घृणित पुरुष ही कहलाता था । पत्नित्याग का प्रायश्चित्त यह था:—

जिस ने अपनी स्त्री को अन्याय से त्याग किया है वह गंध का चमड़ा ओढ़ कर (चमड़े का बाल ऊपर की ओर रहे) प्रतिदिन सात गृहों में यह कहते हुए भिक्षा मांगे कि उस पुरुष को भिक्षा दे जिस ने अपनी पत्नी को त्याग दिया है । इसी प्रकार की भिक्षा से वह छः महीने तक अपना निर्वाह करे (आपस्तम्ब, प्र० १, पं० १०, खं० २८, सू० १९)

इसी प्रकार जो स्त्री कदाचित् अपने सदाचारी पति को छोड़ती थी तो वह भी पतित समझी जाती थी और जब तक वह अपने इस पाप का प्रायश्चित्त नहीं कर लेती थी तब तक अति घृणित मानी जाती थी इस अपराध के लिए पत्नी के वास्ते यह प्रायश्चित्त था:—

यदि कोई स्त्री अपने पति को छोड़े तो उसे द्वादश दिनों बलाकृच्छ्रव्रत, छः महीने तक करना पड़ेगा (आपस्तम्ब प्र० १, पं० १०, खं० २८ सूत्र २०)

संसार में मनुष्य कल्याण सम्बन्धी जितने नियम चलाए जाते हैं उन की उत्तमता वा निकृष्टता उस परिणाम से सिद्ध होती है जो उक्त नियम किसी मनुष्य समाज में प्रकट करते हैं । पति और पत्नी के परस्पर सम्बन्ध को प्राचीन आर्यों ने मली भांति समझ कर उसे इस प्रकार चलाया था जिस से उस समय के आर्यगृह स्वर्ग

स्थान बन रहे थे, पति और पत्नी के बीच ऐसा गाढ़ प्रेम रहता था कि व्यभिचारी पुरुष वा व्यभिचारिणी स्त्री का नाम तक कर्तव्यता से सुन पड़ता था जिस का प्रमाण छान्दोग्योपनिषद् में भी विद्यमान है । वहाँ लिखा है कि ब्रह्मविद्या की खोज में ऋषिगण जब महाराज कैकेय अश्वपति के राज्य में गए तो महाराज ने ऋषियों का प्रारम्भिक आतिथ्यसत्कार कर निवेदन किया कि हे ऋषिगण ! कृपया आप मेरे राज्य में निवास करें, (आप ऐसा न समझें कि मेरा राज्य अपवित्र है यहाँ ठहरना उचित नहीं) आप को मैं विश्वास दिलाता हूँ कि:—

“न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यो ना नाहिताग्निर्ना विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः” (छान्दोग्य, प्रपाठक ५, खण्ड १११ वाक ९)

मेरे राज्य में न तो कोई चोर है और न कायर, न कोई मद्य है और न अग्निहोत्र न करने वाला, न कोई अनपढ़ है और न व्यभिचारी और जब कि व्यभिचारी ही नहीं है तो व्यभिचारिणी स्त्री कहाँ हाँ सकती है ?

उक्त ऐतिहासिक घटना को पढ़ कर कौन ऐसा पुरुष है जो यह कहने का दावा करे कि प्राचीन आर्यों का दाम्पत्य धर्म अयूर्ण था वा वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर न था ?

पतित्याग और पत्नित्याग के सहस्रों अभियोग जो प्रतिवर्ष यूरोप और अमेरिका में होते हैं वे बंड बल से घोषणा कर रहे हैं कि इन देशों के लोगों ने अभी तक दाम्पत्य धर्म को नहीं समझा है ।

सूत्रग्रन्थों के समय भी स्त्रियाँ बहुधा बड़े मान्य और पूजा की दृष्टि से देखी जाती थीं क्योंकि वासिष्ठसूत्र अध्याय २८, सूत्र ९ में स्पष्ट लिखा है:—

“ स्त्रियाँ सवाङ्ग से पवित्र हैं ”

प्राचीन काल में पर्दे की कुरीति न थी—ब्राह्मण ग्रन्थों के समय की स्त्रियाँ बड़ी विदुषी होती थीं यह तो कन्याओं के गुरुकुल निवास तथा पत्नी का पति के साथ सब प्रकार के यज्ञों में सम्मिलित होने से सिद्ध ही है परन्तु इस से एक बात यह भी सिद्ध होती है कि उस समय की स्त्रियों में आज कल की तरह पर्दे की कुरीति न थी । यदि पर्दे की कुरीति होती तो (जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में लिखा है) राजा जनक की सभा में ब्रह्मवादीनी गार्गी वाचस्पती महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ न कर सकती और न महर्षि याज्ञवल्क्य, गार्गी

के इस प्रश्न पर “ कस्मिन्नुब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च ? ” कहते कि “ गार्गी ! मातिप्राक्षीः ” अर्थात् हे गार्गी ! अब मत पूछ । और न ऐतरेय ब्राह्मण की पञ्चम पञ्जिका के चतुर्थ खण्ड में यह लिखा मिलता “कुमारी गन्धर्व गृहीता वक्तास्मः” अर्थात् कुमारी गन्धर्व गृहीता वक्ता अर्थात् वक्तृता करने वाली थी, और न तैत्तिरीय (सं० २, २, ८, १) में यह लेख मिलता “इन्द्राणी वै सेनाया देवता” अर्थात् इन्द्राणी सेना की देवी है । लोपामुद्रा ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तैत्तिरीय अनुवाक के १.७९ सूक्त का प्रचार किया था और कुमारी अपालात्रेयी ने ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के नवम अनुवाक के ९१ सूक्त का प्रचार किया था । एवं अनेक देवियां ब्रह्मवादिनी अर्थात् ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाली थीं जिन में से कतिपय के नाम निम्नलिखित हैं:—

गोधा घोशा विश्वव रा पालोपान्निपन्निपत् ।
 ब्रह्मजायाजुहूर्नाम्नी अगस्त्यस्य स्वसादितिः ॥
 इन्द्राणी वेन्द्रमाता च सरमा रोमसोर्वशी ।
 लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी च शश्वती ॥
 श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धा मेधा च दक्षिणा ।
 रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्यईरिताः ॥

इन प्रमाणों को पढ़कर कोई भी सदसद्विवेकी पुरुष नहीं कह सकता कि प्राचीन आर्यों में विदुषी स्त्रियां न थीं अथवा उन में पदों की रीति थी ।

सूत्र ग्रन्थों के समय भी विदुषी स्त्रियों का अभाव न था । यदि उस समय विदुषी स्त्रियां न होती तो बौद्धायन सूत्र प्रश्न २, अध्याय १, काण्डका २, सूत्र २१ में आचार्यों का उल्लेख न होता, और न आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न १, पटल ७, खण्ड १३ सूत्र ९ में आचार्यों विषयक लेख होता ।

गृहस्थियों के स्नाधारण धर्म—ऐसे तो जितने शुभ कर्म हैं उन सब के ही अनुष्ठान का अधिकार गृहस्थ को था । तो भी उन के सामान्य कर्म निम्नलिखित थे:—

(१) नित्य स्नान कर अग्निहोत्र करना यथा:—

य आहिताग्निर्यदि प्रातरस्नातोऽग्निहोत्रं जुहुयात् का तत्र प्रायश्चित्तिरिति (ऐतरेय ब्राह्मण सप्तमपञ्जिका, द्वितीयाध्याय, खण्ड ८)

अर्थात् नित्य हवन करने की प्रतिज्ञा जो धारण कर चुका है (अर्थात् गृहस्थ) यदि बिना स्नान किए ही कभी अग्निहोत्र करले तो उस के लिये प्रायाश्चित्त क्या है?

(२) देवयज्ञ पितृयज्ञ और नृत्यज्ञ नियम पूर्वक करना यथा:—

काण्डान्ना पुरुष इति न देवान् न पितॄन्, न मनुष्या इति (ऐतरेये ब्रा०, सप्तम-पञ्जिका, अध्याय २, खण्ड ८)

अनन्ना अर्थात् पापी पुरुष कौन है ? जो न देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र और न पितृ-यज्ञ और न नृत्यज करता है ।

(३) अतिथि सत्कार यथा:—

नसायमतिथिरपरुष्य इति [ऐतरेय, पञ्जिका ९, अ० ९, खण्ड ९]

अर्थात् अतिथि जो सायंकाल आवे उस को तो अपने यहां निवास अवश्य ही दो ।

अभिहेपने पिशासने क्षिप्रं प्रयच्छेन [ऐतरेय, पञ्जिका ६, अध्याय २, खण्ड ९]

अर्थात् भूखे और प्यासे को [अन्न जल] शीघ्र दे ।

इत्यादि गृहस्थों के अनेक सामान्य धर्म ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित हैं ।

एवं सूत्र ग्रन्थों में भी गृहस्थों के सामान्य धर्म इस प्रकार लिखे हुए हैं:—

गृहस्थ की दिनचर्या और उस के कनिष्ठ कर्तव्य कर्म ।

यदि गृहस्थ सूर्योदय समय तक सोता रहे [अर्थात् प्रातःकाल की सन्ध्या न कर सके] तो वह दिन भर मौन धारण किए हुए भूखा खड़ा रहे । यदि सन्ध्या-काल सो जावे [अर्थात् सन्ध्या समय उपासना न कर सके] तो वह रात भर मौन धारण किए हुए भूखा बैठा रहे और प्रातःकाल स्नान कर के परमात्मा को उपासना करे [अर्थात् प्रातः सायं की सन्ध्या अवश्य ही किया करे] [आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खण्ड १२, सूत्र १३, १४,]

प्रतिदिन एकान्त में वेद के कुछ भागों का पाठ किया करे । विवाह समय जो गार्हपत्याग्ने नलाई गई हो उसी से गृह सम्बन्धी सब संस्कारों को करता रहे [गौतम अध्याय ९, सूत्र ४, ८]

जब भोजन तैयार हो जाय और बलिवैश्वदेव होजाय तो उस भोजन में से

सब से पहले (किसी को) दान देदे तदनन्तर उस भोजन में से अतिथियों को, अपने छोट २ बच्चों को, वृद्ध वा रोगी को, अपनी सम्बन्धिनो स्त्रियों तथा गर्भवती स्त्रियों का भोजन करावे । गृहपति और गृहपत्नी को उचित है कि वह कभी भी भोजन मांगने वाले को न फेरे जब कि अपन यहां बलिवैश्वन्दव हो चुका हां । यदि [दूसरों का देने को] भोजन के लिए कुछ शप न हो तो स्थान, जल, आमन और प्रियवचन तो एक अच्छे पुरुष के गृह में कभी भी नहीं घटत [आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल २, खण्ड ४, सूत्र १०, ११, १२, १३, १४]

गृहपति चाहे अपने आप भूखा रह जाय, अपनी स्त्री वा बच्चों को भूख रख ले परन्तु उस दास (शूद्र) को कभी भूखा न रखे जो उस का दैनिक कार्य करता है (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ४ खण्ड ९, सूत्र ११)

धर्म से धन कमावे और उसे योग्य पुरुषों को दे वा उचित वस्तुओं के लिए व्यय करे । अयोग्य पुरुष को कभी कुछ भी न दे हां दे यदि उस का उस भय हो । और लोगों को अपनी उदार वृत्ति तथा दानों से प्रसन्न करना रहे और उन सुखों को भोगे जो धर्मानुकूल हों (आपस्तम्ब, प्रश्न २, पटल ८, खण्ड २०, सू० १८, १९, २०, २१, २२)

जो लोग गुरु के लिए मांगते हैं, अथवा विवाह संस्कार का व्यय चलाने को मांगते हैं अथवा रोगी की औषधादि के लिए मांगते हैं, अथवा जो दान होने के कारण (अपने भरण पोषण के लिए) मांगते हैं, अथवा जो यज्ञ करने जाता हो और मांगता हो, अथवा जो विद्याध्ययन में लगा हुआ हो, अथवा जो यात्री हो अथवा जिस ने विश्रान्त यज्ञ कर लिया हां, [अर्थात् अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर सन्यास धारण कर लिया हां] उन सब को [वेदा से बाहर] द्रव्य की भेंट अवश्य हां देनी चाहिए [गौतम अध्याय ९, सू० २१]

गृहस्थ को अपना कोई भी समय [चाहे प्रातः दोपहर वा सन्ध्या ही क्यों न हो] कभी भी व्यर्थ नहीं खाना चाहिए प्रत्युत अपनी योग्यतानुसार प्रत्येक समय से लाभ उठाना चाहिए चाहे आत्मिक योग्यता सम्बन्धी, धन सम्बन्धी वा सुख सम्बन्धी । परन्तु उक्त तीनों लाभ अर्थात् आत्मिक, अर्थ और काम सम्बन्धी में से उस अधिकतर आत्मिक योग्यता की ओर ध्यान देना चाहिए । उस अपनी विशेषेन्द्रिय, अपना पेट, अपने हाथ, अपने पग, अपनी जिह्वा, अपनी आंखों को

पूर्ण वश में रखना चाहिये । उसे घर पर सदा बैठे रहना भी उचित नहीं है । उसे सदा सत्य बोलना चाहिए । एक आर्य्य की भांति उसे आचरण करना चाहिए धर्मात्मा पुरुषों का ही उसे विद्या दान देना चाहिए । शास्त्रों में लिखित शुद्धि सम्बन्धी नियमों का उम पालन करना चाहिए । वेदों के अध्ययन में उसे प्रीति रखनी चाहिए किसी भी प्राणी को कभी भी हानि पहुंचानी उम नहीं चाहिए, उसे नम्र तो होना चाहिए परन्तु साथ ही दृढ़ भी, सदा अपनी इन्द्रियों का वश में रखते हुए उसे उदारचित्त होना चाहिए [गौतम अध्याय ९, सूत्र ४६, ४७, ५०, ५३, ६५, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३]

तीनों वर्णों के द्विजों का समान धर्म वेदाध्ययन, अग्निहोत्र तथा दान देना है [गौतम, अध्याय १० सूत्र १]

गृहस्थ को चाहिए कि वेदाध्ययन में यज्ञों के करने में, सन्तति उत्पन्न करने में तथा अपने अन्यान्य औचित्य पालन में पूर्ण परिश्रम करता रहे । उसे चाहिए कि अपने यहां आए हुए लोगों का उठ कर सत्कार करे, उन्हें आसन दे और उन की स्तुति करता हुआ उन से मृदुभाषण करे और सब प्राणियों का अपनी शक्ति अनुसार भोजन दिया करे [वाशिष्ठ, अध्याय ८, सूत्र ११, १२, १३]

भोजन कहता है कि उस का जो मुझे देवों, पितरों अपने सेवकों, अतिथियों, मित्रों का बिना दिए हुए खाता है, मैं उस को भक्षण कर जाता हूं और उस के लिए मैं मृत्यु हूं क्योंकि अपना गौर मूर्खता के कारण वह विष खाता है, अर्थात् ग्रास नहीं खाता परन्तु जो अग्निहोत्र कर के, वैश्वदेव कर के, अतिथियोंका सत्कार कर के अपने आश्रितों का भोजन करा के जो कुछ बचता है उसे सन्तोष, पवित्रता और श्रद्धा सहित खाता है उस पुरुष के लिए मैं अमृत हूं और सत्र मुत्र वही मुझ से आनन्द भोगता है (बौद्धायन प्रश्न २, अध्याय ३, कण्डिका ५, सूत्र १८)

सदाचार का भेवन मनुष्य मात्र का कर्तव्य है, जिस का आत्मा अमदाचार से बिगड़ गया है वह इस लोक और परलोक दोनों में नाश (दुर्दशा) को प्राप्त होता है । न तपश्चरण, न वेदाध्ययन, न अग्निहोत्र न पुष्कल दान उम मनुष्य को बचा सक्ता है जो दुराचारी है और जिस ने धर्म मार्ग को परित्याग दिया है । वेद उस पुरुष को शुद्ध नहीं कर सक्ते जो आचरण में नीच है यद्यपि उस ने छः अङ्गों सहित ही वेदों को अध्ययन किया हो । धूर्त पुरुष को जो धूर्तता करता है

पवित्र वेद भी नहीं बचा सक्ते । दुराचारी पुरुष की सब मनुष्यों में निन्दा हांता है, वह रांगों से दुःख पाता है और अल्पायु हो जाता है, सदाचार से ही मनुष्य आत्मिक योग्यता प्राप्त करता है, सदाचार से ही धन प्राप्त करता है सदाचार से ही सुन्दरता प्राप्त करता और सदाचार ही कुसंस्कारों के प्रभाव को मिटा देता है । धार्मिक पुरुषों में जो सदाचार के नियम स्थापित हैं उनके अनुसार जो पुरुष चलता है, जो श्रद्धावान् है और जो द्रोह रहित है वह विशेष गुणान्वित न हाने पर भी सौ वर्ष तक जीता है (वासिष्ठ, अध्याय ६ के कई सूत्र)

अपने कर्तव्यों का पालन केवल इस विचार से न करे कि उसे प्रसिद्धि, आय (धन) और प्रतिष्ठा प्राप्त होंगी क्योंकि फल की आकांक्षा से किया हुआ कर्म कर्तव्यपालन नहीं कहाता । सांसारिक फल तो कर्तव्यपालन से स्वयम् हां प्राप्त होते हैं यथा आम्र-फल का प्राप्ति के लिए जब आम्र-वृक्ष बोते हैं तो छाया और सुगन्धि अवश्य ही मिलती है । (जो केवल कर्तव्य पालन के विचार से कर्म करता है) उसे यदि सांसारिक फल नहीं भी मिलते तो भी उस का कर्तव्य पालन तो पूर्ण हां ही जाता है । धूर्तों, दुष्टों, नास्तिकों और मूर्खों के वचनों को सुन कर क्रुद्ध मत हो और न उन वचनों से ठग जावो । धर्म और अधर्म यह कहते नहीं फिरते कि हम यहां हैं हम यहां हैं । धर्म वही है जिस के आचरण को तानों द्विज वर्णों के ज्ञानी पुरुष सराहते हैं और जिस (आचरण) को वह निन्दा करते हैं वह अधर्म है । कर्म ऐसे करने चाहिएं जिन का अनुमोदन सब देशों के ऐसे द्विज करें जिन्होंने अपने आचार्यों का यथाचित आज्ञा पालन की है, जो वृद्ध हैं, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को दमन कर लिया है जो न तो लोभ और न धूर्तता करते हैं । जो इस प्रकार आचरण करेगा वह दोनों लोकों (यह लोक और पर लोक) का भागी बनेगा (आपस्तम्ब प्रश्न १, पटल ७, खण्ड २०, के कई सूत्र)

आत्मघात कभी न करे और न वह किसी अन्य का प्राण हनन करे नहीं तो उसे अभिशप्त बनना पड़ेगा (आपस्तम्ब प्रश्न १, पटल १०, खण्ड २८, सू० १७)

कभी संदिग्ध वार्ता के विषय में ऐसा न बोलें मानों वह उसे विस्पष्ट जान रहा है (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खण्ड १२, सू० २१)

धर्म ही का आचरण करो, अधर्म का नहीं, सत्य ही बोलो, असत्य नहीं विशालदृष्टि के बने संकुचित हृदय के नहीं, उस की ओर देखो जो सब से उच्च

(श्रेष्ठ और महान् है), उस की ओर नहीं जो सब से उच्च नहीं है । वृद्ध पुरुष के बाल वृद्धता के लक्षण बनाने हैं तथा वृद्ध पुरुष के दांत वृद्धता के लक्षण बनाने हैं परन्तु जीवन की इच्छा तथा धन की इच्छा वृद्ध पुरुष की भी ह्रास को प्राप्त नहीं होती । आनन्द उषी पुरुष के भाग में है जो कामनाओं को त्याग देता है, जिन कामनाओं को कि मूर्ख बड़ी कठिनता से छोड़ते हैं, जो (कामनाएं) वय के ह्रास के साथ ह्रास को प्राप्त नहीं होती और जो कि जन्म भर के लिए रोग हैं ।
(वासिष्ठ, अध्याय ३०, सूत्र १, ९, १०,)

शूद्र की स्थिति—इस ग्रन्थ के कई स्थानों में प्रकरणानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्तव्यों को संक्षेपतः वर्णन कर दिया है यहां शूद्रों की स्थिति अधिकतर स्पष्टता के साथ जतलाने के लिए हमें इन के विषय में कुछ और वर्णन करना है क्योंकि आगे हमें खान पान तथा छूआ छूत के विषय में भी कुछ लिखना पड़ेगा ।

शूद्र उन्हीं को कहते थे जो मन्द बुद्धि होने के कारण विद्याध्ययन नहीं कर सके हों चाहे वे ब्राह्मण के पुत्र हों क्षत्रिय के, वैश्य के वा शूद्र के । शूद्र का भी पुत्र यदि बुद्धिमान् होने के कारण विद्याध्ययन कर के ज्ञानी बन जाता था तो वह भी पूर्ण पूजा का पात्र माना जाता था । परमात्मा यदि शूद्र के पुत्र में बुद्धि दे और वह बुद्धि औरों के ज्ञान प्रदान से बढ़ाई जाय तो कोई भी अवरोध ऐसा नहीं दीखता निम से कि उक्त शूद्र का पुत्र ज्ञानी न बन सके प्राचीन काल में शूद्रों के बुद्धिमान् पुत्रों को आचार्य्य लोग बराबर पढ़ाते रहे हैं और परमात्मा की कृपा से वे बड़े २ ज्ञानी हो चुके हैं । ऐतरेय ब्राह्मण की द्वितीय पञ्जिका के तृतीयाध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा है:—

“ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन् दास्याः पुत्रः
किनवोऽब्राह्मणः कथं नोमध्य दीक्षेष्टति.....तेवा ऋषयोऽनुवन् विदुवा इमं देवाः”

अर्थात् किसी समय ऋषि लोग सरस्वती के किनारे यज्ञ कर रहे थे, उस समय इलूष नाम पुरुष का पुत्र कवष उन के बीच आ बैठा । ऋषि लोग बोले यह दासी का पुत्र जो अब्राह्मण है हम लोगों के बीच बैठ कर किस प्रकार दीक्षा कर सका है !.....पुनः वे सब ऋषि बोले इस को तो देवता लोग भी जानते हैं ।
इत्यादि ।

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि उक्त कवष ऐलूप इतना बड़ा ज्ञानी हो गया था कि उस की प्रसिद्धि देवताओं (विद्वानों) में फैल गई थी ।

ऋग्वेद मण्डल १०, अनुवाक ३ सूक्त ३०, ३१, ३२, ३३ तथा ३४ का ऋषि अर्थात् समाधि द्वारा इन सूक्तों के मन्त्रों का यथार्थ परमात्मा के द्वारा जान कर इन का प्रचारक कवष ऐलूप हुआ है जिस का नाम अति प्राचीन काल से उक्त सूक्तों के ऊपर लिखा चला आता है । दासी का पुत्र बुद्धिमान्, ज्ञानी तथा परमात्मा का उपासक बनने से यदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन सकता है तो उस के लिए अन्य और कौनसी महानता शेष रह गई ?

इसी प्रकार ऋग्वेद मण्डल १ अनुवाक १७ के सूक्त ११६ से १२६ तक का ऋषि अर्थात् इन के अर्थों का प्रथम २ प्रचारक (शूद्रा आशिक का पुत्र) कक्षिवान् था । आशिक पुत्रः कक्षिवानृषिः यह नाम उक्त सूक्तों के ऊपर आर्य्य लोग अति प्राचीन काल से लिखते आते हैं ।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ४ में स्पष्ट लिखा है कि सत्यकाम जावाल की माता ने उस किस से गर्भ धारण कर उत्पन्न किया यह जावाल की माता को ज्ञात न था अतः जावाल का कुल कुछ भी ज्ञात न था परन्तु उसे महर्षि गौतम ने पढ़ाया । एवं महर्षि रथिक ने शूद्र के बालक जानश्रुति को विद्यादान दिया ।

सूत्रग्रन्थों में भी ऐसे प्रमाण हैं जिन से ज्ञात होता है कि शूद्र का पुत्र ज्ञान धारण करने के कारण यदि उत्तम कर्म करे तो वह उत्तम बन सकता है और द्विज कुलोत्पन्न यदि मूर्ख हो वा निकृष्ट कर्म करे तो वह पातित हो जाता है यथा:—

धर्मचर्य्या जघ्न्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्गमापद्यते जाति परिवृत्तौ । अधर्मचर्य्या पूर्वो वर्णो जघ्न्यं जघ्न्यं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ । आपस्तम्ब धर्म सूत्र ।

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस २ के योग्य होंगे । वैसे ही अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्ण वाला मनुष्य अपने से नीचे २ वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ।

जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न वेदाध्ययन नहीं करता (अतः) जो अन्यो को नहीं पढ़ाता तथा जो अग्निहोत्र नहीं करता वह शूद्र के बराबर हो जाता है । वह द्विज कुलोत्पन्न जो वेदों के न पढ़ने के कारण अन्यान्य कर्मों में लग जाता है जाता

हैं हुआ पतित हो जाता है, शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है (वासिष्ठ अध्याय ३, सूत्र १ तथा २)

सूत्रग्रन्थों में शूद्रों में सामान्य धर्म तथा उन की जीविका और प्रतिष्ठा के विषय में इस प्रकार उल्लेख है:—

शूद्र के लिए भी सत्यता, नम्रता तथा पवित्रता का विधान है, जो उस के आश्रित हों उन की रक्षा उसे करनी चाहिए, पवित्रता होना चाहिए उच्च वर्णों की सेवा करनी चाहिए, और उन से अपनी जीविका प्राप्त करनी चाहिए अथवा कारीगरी के कामों से उसे जीविका प्राप्त करनी चाहिए, यदि वह अपने स्वामी की सेवा करते समय काम करने के अयोग्य होजाय तो स्वामी से वह रक्षा का भारी है और यदि उस का स्वामी विपत्ति में पड़ जाय तो उस का पालन करना भी शूद्र का काम है (गौतम सूत्र अध्याय १० के कई सूत्र)

गृहस्थ चाहे अपने को, अपनी भार्या को, अपने बच्चों को भूखा रखे तो रखे परन्तु अपने सेवक (शूद्र) को कभी भूखा न रखे (आपस्तम्ब द्रश्च २, पटल ४, खण्ड ११, सूत्र ११)

किसी भी वृद्ध पुरुष का चाहे वह शूद्र भी होवे तो उस का सम्मान करो यदि तुम उम के पुत्र के वय के बराबर हो (गौतम, अध्याय ६, सूत्र १०)

दुःआछूत और भक्ष्याभक्ष्य—जिस दुःआछूत ने आज कल वर्णाश्रम धम्मद्विषायी कहलाने वाले नर नारियों को डुबा रक्खा है प्राचीन ग्रन्थों में इस का चिह्न भी कहीं नहीं मिलता । आपस्तम्ब धर्म सूत्र में लिखा है:—

“ आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्काराः स्युः....”

(द्विज गृहस्थों के घर) शूद्र भी भोजन बना सक्ता है, परन्तु जब वह भोजन बनावे तो उस का निरीक्षण द्विज करले । यदि शूद्र भोजन बनावे तो उसे प्रतिदिन शीश के बाल, दाढ़ों के बाल, शरीर के बाल तथा नख कटवा लेने चाहिए और वस्त्र सहित स्नान कर लेना चाहिए । (यदि प्रतिदिन शौर न करा सके तो) आठवें दिन अथवा प्रतिपदा और पूर्णिमा को शौर करा लिया करे ! पश्चात् शूद्र पाचक अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित होवे और कहें कि भोजन तय्यार हो गया, यह सुन कर गृहपति कहे कि सुपक भोजन ही श्री वृद्धि का कारण है, यह श्री-वर्द्धक होवे । द्विज के निरीक्षण के बिना जो भोजन शूद्र तय्यार करे उसे गृहपति स्वयं पुनः अन्न पर रखे और उस पर जल के छोट डाल दे यह भोजन देवताओं

(विद्वानों) के भां खाने योग्य हैं । आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल २, खण्ड ३, सूत्र ४, ६, ७, ८, ९, १०, ११ ।

उक्त प्रमाणां से स्पष्ट सिद्ध होता है कि द्विज गृहपति के घर यदि शूद्र भोजन बनावे तो वह भोजन द्विज मात्र के लिए भक्ष्य था । पुनः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण एक दूसरे के घर का भोजन खाते थे इस का सिद्धि का क्या आवश्यकता है? इन्हीं सूत्र ग्रन्थों में लिखा है कि गृहपति के घर में जो भोजन तय्यार होजाय पहले उस से बलिवैशदेव करे और पुनः उसी भोजन में से अतिथियों को खिलावे इन्हीं सूत्र ग्रन्थों में लिखा है कि चारों वर्णों के लोग गृहपति के अतिथि बनने थे अतः इस में सन्देह ही क्या रहा कि चारों वर्णों के लोग उस भोजन को ग्रहण करते थे जो गृहपति अपने यहां तय्यार कराता था । आज कल की सखरी और निखरी कच्चे और पके भोजन का प्रश्न ही वहां उदास्थित नहीं हो सका था क्योंकि कोई भी गृहपति अपने यहां प्रतिदिन एक ही प्रकार का भोजन बनवा नहीं सक्ता होगा ।

जो वस्तु अखाद्य और अपेय माने जाते थे उनकी संक्षिप्त गणना निम्नलिखित है :—

पक (पकाया हुआ) भोजन जो रातभर पड़ा रहे (अर्थात् वामी हो जाय) वह न खाद्य न पेय है, न वह पकाया हुआ भोजन जो किसी कारण कड़वा हो जाय, प्रत्येक प्रकार की ऐसी वस्तु जिस से मद (नशा) हो वर्जित है इसी तरह वह भोजन जो उस प्रकार की पत्तियों के साथ जिन से मदिरा बन सकें बना हो अखाद्य है, (अपस्तम्ब, प्रश्न १, पटल ९, खण्ड १७, सू० १७, १८, २१, २६,)

वह भोजन मत खावे जिस में बाल वा कीड़े गिर पड़े हों जो एक बार पक हो गया हो और पुनः पकाया जाय (गर्म किया जाय) (गौतम अध्याय २७, सूत्र ९ तथा १९)

उच्छिष्ट भोजन किसी का न खावे.....वह भोजन भी न खावे जो देर तक रखे रहने से बे स्वाद हो गया हो, जो स्वभावतः बिगड़ा हुआ हो जो एक बार से आधक पकाया गया हो, जो कच्चा हो वा जो थोड़ा कच्चा हो (अर्थात् जो सुपक न हो) (वासिष्ठ, अध्याय १४, सूत्र २०, तथा २८)

सुख शान्ति का प्रधान कारण—उक्त लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गृहस्थाश्रम नियम पूर्वक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासियों को उत्पन्न क-

रता था । गृहस्थाश्रम के जो चार भेद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे वे किसी पक्षपात के कारण नहीं प्रस्युत गुण कर्मानुसार थे । कितां भी शूद्र कुलेश्वर बुद्धि-युक्त व्यक्ति को इस कारण दुखी नहीं होना पड़ता था कि परमात्मा ने तो मुझे बुद्धि दी परन्तु मनुष्य मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं अर्थात् मुझे ज्ञान दान नहीं करते शूद्रों के लिए उन्नति का मार्ग खुला हुआ था जिस पर चलते हुए वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि के पद तक भी पहुँच सक्त थे । शूद्रों को वा किमी अन्य वर्णों के पुरुषों को यह भी कहने का अवसर नहीं मिलना था कि अमुक पुरुष का पुत्र महा निर्बुद्ध तो है परन्तु उस का कितना सन्मान हाता है । ऐसे मन्द बुद्धि पुरुष चाह ब्राह्मण कुमार ही क्यों न हों पतित समझे जाते थे और उन्हें केवल शूद्रों की कोंटि का सत्कार मिलता था । इस प्रकार प्राकृतिक घटना की भांति चारों वर्णों के काम निर्विघ्नता के साथ चल रहे थे जिस से भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर चढ़ गया था । कोई भी परिव्राजक जिस का काम जीविकापार्जन नहीं था भूखा नहीं रह सकता था, उस को सब से पहले भोजनादि से सत्कार करना गृहस्था का काम था और न कोई अन्धा या लूला लंगड़ा वा पापरागी वा पातित वा अन्य कोई जो जीविकोपार्जन में असमर्थ था और जो गृहस्थ के द्वार पर आ जाता था कर्मा भी भूख की पीड़ा से संतप्त न होता था क्योंकि गृहस्थ का धर्म था कि भोजन तय्यार हां जाने के बाद वह बलि-वैश्वदेव अवश्य करे एवं अपने द्वार पर आए हुए भूख को अन्न भी अवश्य दे । अङ्ग विहानों पापरागियों वा पतितों को तो अवश्य दान दिया हां जाता था इन के अतिरिक्त उन ज्ञानी धर्मात्मा पुरुषों अर्थात् ब्राह्मणों को भी जो स्वर्जाविकोपार्जन की चिन्ता छोड़ ज्ञान वृद्धि के लिए निरन्तर यत्न किया करते थे उत्तमोत्तम दानों से सत्कृत किया जाता था परन्तु उस पुरुष का दान नहीं दिया जाता था जो बुद्धि रखता हुआ भी आलस्य के कारण पुरुषार्थहीन हो याचना करता था । वा-शिष्ठपुत्र अध्याय २ सूत्र ४ में स्पष्ट लिखा है कि राजा को चाहिये कि उस ग्राम के निवासियों को दण्ड दे जहां (नाम मात्र के) ब्राह्मण, वेद विद्या विहान स्वधर्म की पालना न करने वाले भिक्षा मांग कर जीवन व्यतीत करते हों, (ऐसे ग्राम निवासियों को) दण्ड देने का कारण यह है कि वे लोग लुंठों को भोजन कराते हैं । अतः स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय का दान आज कल की तरह कुपात्रों के लिए नष्ट नहीं होता था । जब कि दान सुपात्रों को और उत्तम कार्य्यों के सम्पादन के लिए मिलता था तो उस समय उन्नति न हांती तो और किस समय हांती ? आज

कल भी भारतवर्ष में कई क्रोड़ रुपये दान हांते हैं परन्तु इस का बड़ा भाग अपात्रों को मिलता है, यदि दान की शैली बदल जाय और सुपात्रों एवं धर्म प्रचार सुशिक्षा प्रचारादि कार्यो के लिए दान मिलने लगे तो निस्पन्देह इस समय भी भारत की बड़ी उन्नति हो सक्ती है । सुनियमों के प्रचरित रहते हुए भी यदि कोई पुरुष धर्मरोपित सामाजिक नियमों को तोड़ता था तो वह अपराधी समझा जाता था और (जैसा कि आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न २, पटल ५, खण्ड १० तथा ११ में लिखा है) उस की शुद्धि के लिए उस का आचार्य ही प्रायश्चित्त नियत कर देता था अथवा अपराधी के दण्ड होने की दशा में राजपुरोहित (जो बड़ा धार्मिक और विद्वान हुआ करता था) प्रायश्चित्त नियत करता था यदि अपराधी विशेष उद्दण्ड हाता था तो राजा बलात् प्रायश्चित्त कराता था और प्रायश्चित्त न करने का दशा में राजा उस कारागारादि विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करता था । राजा अपनी प्रजा के हित चिन्तन में सदा लगा रहता था और उन क दुःख सुख में सम्मिलित होने के लिए अवकाशानुसार प्रजा के घरों पर भी जाया करता था यदि ऐसा न हाता तो गौतमसूत्र अध्याय ५ सूत्र ३०, ३१, ३२, ३३ में यह न लिखा हाता कि यदि गृहस्थ के घर राजा आवे और वह राजा यदि श्रान्त्रिय । वैदिक विज्ञान में पारङ्गत हा तो उस का सत्कार मधुपर्क से करे, वह जितना वार आवे उतनी वार मधुपर्क से सत्कार करे, यदि राजा श्रोनिय न हो तो मधुपर्क के सिवाय अन्याय रीतियों से भली भांति सत्कार करे और उस के लिए विशेष भाजन बनवावे ।

गृहस्थाश्रम के विषय में जो कुछ पूर्व संक्षेपतः लिखा जा चुका है उस से विशेष नहीं तो संक्षिप्त रीति से तो यह अवश्य हां ज्ञात हां गया हागा कि किस प्रकार सुख और शान्ति से प्राचीन काल के भारतीय गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों में तत्पर रहत थे ।

वानप्रस्थ और संन्यास ।

शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में लिखा है:—

“ब्रह्मचर्याश्रम समाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वर्णा भवेद्वनीभूत्वा प्रवृत्तेत्”

अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर के गृहस्थ हांवे, गृहस्थाश्रम का समाप्त कर वानप्रस्थ हांवे (तथा) वानप्रस्थाश्रम को समाप्त कर परिव्राजक वा संन्यासी हांवे ।

परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में ही यह भी लिखा है:—

“यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रब्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रब्रजेत्” ।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन वन से (वानप्रस्थाश्रम से) वा गृह से (गृहस्थाश्रम से) वा ब्रह्मचर्याश्रम से ही परिव्राजक वा संन्यासी बन जावे ।

पहिले “ ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य ” इत्यादि में संन्यास का क्रम कहा है और द्वितीय “ यदहरेव विरजेत् ” इत्यादि में विकल्प बतलाया है अर्थात् एक पक्ष तो यह है कि वानप्रस्थाश्रम समाप्त कर के संन्यासी होवे द्वितीय पक्ष यह है कि गृहस्थाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करे और तृतीय पक्ष यह है कि “जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषय भोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेवे” इसी प्रकार मूत्रग्रन्थों में भी लिखा है:—

साधारण नियम तो यह है कि सत्तरवें वर्ष की समाप्ति पर जब कि सन्तान धार्मिक कर्तव्यों का पालन करने लगे तो गृहस्थ संन्यासी हो जावे । अथवा वानप्रस्थी पुरुष वानप्रस्थके कर्तव्यों का पालन कर संन्यासी होवे । अथवा जिस ने ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर दिया हो वह ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर लेवे (बौद्धायनसूत्र, प्रश्न २, अध्याय १० कण्डिका १७, सूत्र ९, ६ तथा २)

वेद में लिखा है कि एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करता हुआ मनुष्य ब्रह्म में लीन हो जाता है (बौद्धायनसूत्र, प्रश्न २ अध्याय १०, कण्डिका १७, सूत्र १९ ।

वानप्रस्थ ।

मूत्रग्रन्थों में वानप्रस्थियों के कर्तव्य निम्नलिखित, बतलाए गए हैं:—

जटा जूट रखे, बलकल वा चर्म पहिने, ग्राम में न जाय और न जाते हुए खेत में पग रखे, केवल वन्य फल मूलों को एकत्रित कर खावे, सदा (अन्नर और बाह्य स) पवित्र रहे, अपने हृदय को दया भाव से पूर्ण रखे, जो अतिथि उस के आश्रम पर आवें उन का फल मूल से सत्कार करे, अन्यों को दिया तो करे परन्तु किसी से कुछ ले नहीं । त्रिकाल प्रातः मध्याह्न और सन्ध्या को स्नान करे, अपने आश्रम के नियमानुसार अग्न्याधान कर अग्निहोत्र करे, इस प्रकार छः मासों तक निर्वाह कर कुटि और अग्नि को भी परित्याग कर वृक्ष के मूल में निवास करे, इस प्रकार जो कोई देव, पितर और मनुष्यों को उन २ का भाग देता है उसे अनन्त सुख मिलता है (वासिष्ठ, अध्याय ९, के सब सूत्र)

(फलादि पर जीवन निर्वाह करने के पश्चात् कुछ दिनों तक) केवल जल पीकर और पुनः केवल हवा पीकर और पुनः कुछ दिन (श्वास लेता हुआ) सर्वथा निराहार रहे (अर्थात् इस प्रकार उग्र तितिक्षा का साधन करे) (आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ९, खण्ड १२, सू० ४)

वानप्रस्थियों के विषय में मुण्डकोपनिषत् में लिखा है:—

“तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्या चरन्तः । सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्र ऽमृतः स पुरुषो ह्यन्ययात्मा”

अर्थात् जो शान्त विद्वान् लोग वन में तप धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा कर के भिक्षा चरण करते हुए जंगल में बसते हैं व जहाँ नाश रहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहाँ निर्मल हो कर प्राण द्वार से उस परमात्मा को प्राप्त हो के आनन्दित हो जाते हैं ।

संन्यास ।

सूत्रग्रन्थों में संन्यासियों के कर्तव्य निम्नलिखित बतलाए गए हैं:—

संन्यासी को चाहिए कि सब प्राणियों को अभय दान देता हुआ घर से निकल जाव, वह संन्यासी जो सब प्राणियों के साथ निर्वैर (शान्त सहित) वर्तता हुआ घूमता है उसे किसी भी प्राणी से भय प्राप्त नहीं हांता, (संन्यासी को चाहिए कि) वह अन्यान्य सभी संस्कारों का परित्याग दे परन्तु वेदों के अध्ययन को कभी न छोड़े क्योंकि वेदों के भूलने से वह शूद्र हो जाता है अतः वेदों (का अध्ययन) कभी न छोड़े, (उस के लिए) “ओ३म् ” स्वाध्याय वेद का सर्वोत्तम स्वाध्याय है, प्राणायाम सब से बड़ कर तपश्चरण है भिक्षा पर निर्वाह उपवास व्रत से बड़कर है, दयालुता दान शीलता से बड़ कर है, (संन्यासी को चाहिए कि) वह अपने बाल मुंडवाया करे, किसी प्रकार की भी सम्पत्ति धारण न करे और न कोई अपना गृह रखे (प्रतिदिन) ऐसे सात द्वारों में (भोजनार्थ) भिक्षा मांग जिन्हें उस ने पूर्व से न चुन रक्खा हो भिक्षा मांगने ऐसे समय पर जाव जब कि भोजन शाला का धूम बन्द हो गया हो और चक्की तथा ओखली का चरना भी बन्द हो, कोपीन धारण करे अथवा एक वस्त्र पहने, भूमि पर शयन करे, अन्न निवास स्थानों को बारम्बार बदलता रहे, ग्राम के किसी अन्तिम भाग किसी देव मन्दिर में, अथवा किसी रिक्त गृह में अथवा किसी वृक्ष के मूल में निवास करे, अपने हृदय में विश्व-

व्यापक ब्रह्म का ज्ञान खोजा करे, जब उसे (भोजनादि के लिए) कुछ प्राप्त न हो तो उसे उदासीन होना ठीक नहीं और न उसे प्रसन्न होना चाहिए जब कि उसे कुछ मिल जावे, उसे केवल उतना ग्रहण करने का यत्न करना चाहिए जितने से कि उस का प्राण पांषण हो, गृह सम्बन्धी सम्पत्तियों के विषय में उसे किञ्चित् भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उस संन्यासी को ही मोक्ष का ज्ञान होता है जो न तो किसी कुटि, न वस्त्र, न तीन पुष्करों (पवित्र ताल) न गृह, न आसन, और न भोजन की चिन्ता करता है । संन्यासी को किसी प्रकार के भी विषयानन्द को भोगना नहीं चाहिए (वाशिष्ठ सूत्र, अध्याय १० के कई सूत्र)

संन्यासी को चाहिए कि पीत युक्त लाल रंग के वस्त्र धारण करे, मन, वच और कर्म तीनों में से किसी से भी किसी प्राणी को हानि न पहुंचाए (दण्ड न दे) (बौद्धायन सूत्र, प्रश्न २, अध्याय ६, कण्डिका ११ सूत्र २१ तथा २३)

ब्रह्म का अनादि महत्व उस की क्रियाओं से न बढ़ता है और न घटता है, जीवात्मा उस महत्व के भाव को जान (सक्ता) है, वह पुरुष जो उस भाव को जानता है दुष्कर्मों के लालन से बचा रहता है, उस ज्ञान से (वारम्बार के) जन्मों से बच जाता है, उस पुरुष को (जो संन्यासी होता है) अनादि (परमात्मा) महत्व को पहुंचा देता है (संन्यासाश्रम की महिमा इन वाक्यों से निकलती है) संन्यासी को श्वेत वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए (बौद्धायन प्रश्न २, अध्याय १० कण्डिका १७, सूत्र ७, ८, ९, ४४)

संन्यासी को चाहिये कि इन व्रतों को अवश्य धारण करे अर्थात् प्राणी मात्र को हानि पहुंचाने की इच्छा से रहित रहना, सत्यता, दूसरों की सम्पत्ति की कामना से सदा पृथक् रहना पवित्रता तथा उदारता । उस भिक्षा के लिये केवल इतनी देर ठहरना चाहिये जितनी देर में एक गाय दुही जासके । संन्यासी को चाहिये कि अग्नि न रक्खे, घर न रक्खे, कोई भी अपना निवास स्थान न बनावे, कोई भी अपना रक्षक न रक्खे । वेद रूप वृक्ष का मूल "ओ३म्" है (अतः) "ओ३म्" वेद का सार है, ओ३म् के अर्थों के विचार से (ध्यान से) (संन्यासी) ब्रह्म में युक्त हो जाने योग्य बन जाता है (बौद्धायन, प्रश्न २, अध्याय १०, कण्डिका १८ सूत्र १, २, ६, २२, २९, २६)

संन्यासी को चाहिये कि (अपने लिये) धन न रक्खे (सदा) पवित्र रहे,

उत्तम भोजनों की इच्छा छोड़दे, अपनी वाणी, आंख तथा वचन को वश में रखे,
(गौतम अध्याय ३, सूत्र ११, १२, १६)

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में संन्यासियों के विषय में लिखा है:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

(शतपथ काण्ड १४, प्र० ५ ब्रा० २, कं० १)

पुत्रादि के मोह, धन से भोग वा मान्य, लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन पांश के साधनों में तत्पर रहते हैं ।

वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ (मुंडकोपनिषत्) ।

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ ज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चिन संन्यास योग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं वे परमेश्वर में मुक्ति सुख को प्राप्त हो भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूर्ण हो जाती है तब वहां से छूट कर संसार में आते हैं ।

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात् ॥

(कठोपनिषत्)

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिस को शान्ति नहीं, जिस का आत्मा योगी नहीं और जिस का मन शान्त नहीं वह (संन्यास लेके भी) प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं हाता ।

यच्छंद्वाङ्मनसा प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छंत्तद्यच्छंच्छान्त आत्मनि ॥

(कठोपनिषत्)

(संन्यासी) बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोक के उन को ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ।

सर्व आश्रमियों के सामान्य धर्म ।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन चारों आश्रमियों के सामान्य धर्म ये हैं:—

पवित्र ज्ञान (वेद) का परित्याग न करना (अर्थात् वेदों का स्वाध्याय) सब आश्रमियों का सामान्य धर्म है (आपस्तम्ब प्रश्न २, पटल ९, खण्ड २१, सूत्र ४)

पाँचे में किसी की निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान, नास्तिकता, स्तंभ, स्वप्रशंसा, अन्याय पर दोषःरापण, छल काट लोभ, भ्रम, क्रोध, द्वेष इन सब का त्याग सभी आश्रम के लोगों का कर्तव्य माना जाता है (वामिष्ठ अध्याय १० सूत्र ३०)

पुनः सब आश्रमियों के सामान्य धर्म आपस्तम्ब सूत्र में इस प्रकार लिखे हुए हैं:—

उमे (मनुष्य को) चाहिए कि उन रीतियों को अवलम्बन करे जिन से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो, जिन का यह परिणाम हो कि मनोविकार नष्ट हों और मनोनिग्रह होवे और मन आत्मचिन्तन में स्थित हो जावे । आत्मज्ञान की प्राप्ति से बढ़कर कोई उद्देश्य नहीं है । हम उन छन्दों को उद्धृत करते हैं जो आत्मज्ञान प्राप्ति विषयक हैं । सर्व प्राणी उसी के निवामस्थान हैं जो प्रकृति के भीतर है जो अमर और दाषरहित है, जो उस का उपासना करते हैं वे भी अमर हो जाते हैं जो कि (स्वयम्) निष्कम्प है और सब चर वासस्थानों में रहता है । इस संसार में जो इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं उन से घृणा कर बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये यत्न करे । हे शिष्य ! मने जब कि अपने जीवात्मा में उस महान् स्वयंकाशस्वरूपा सर्वव्यापक, स्वतन्त्र परमात्मा को नहीं पहिचाना था जिन की प्राप्ति बिना किसी मध्यस्थ के ही करनी चाहिए तब मैं उसे (उस परमात्मा को) अन्य विषयों में डूबना था परन्तु अब जब कि मुझ ज्ञान हो गया वैसा नहीं करता अतः तू भी उस उत्तम मार्ग पर चल जो कि कल्पाण (योक्ष) की ओर ले जाता है और उस मार्ग पर न चल जो दुःख (चारम्बार के जन्म मरण रूप) की ओर ले जाता है । यह (परमात्मा) वही है जो सब प्राणियों में अनादि है, जिस का गुण ज्ञान है, जो अमर है अपरिवर्तनशील है, शरीर वा शारीरिक अवयवों से रहित है, वाणी वा जिह्वा से राहत है सूक्ष्म शरीर से भी राहत है स्पशेन्द्रिय से भी रहित है जो अति पवित्र है वही विश्व (अर्थात् व्यापक) है, वही सर्वोत्तम प्राप्त्व्य वस्तु है, वह शरीर के बाँच में रहता है जैसे कि सत्र यज्ञ में विवृत्त दिन मध्यवर्ती है, वह सब के लिए प्राप्त्व्य है जैसे कि अनेक मार्गों वाला नगर । जो उस का ध्यान करता है और जो सब स्थानों में और सर्वदा उस की आज्ञानुसार आचरण करता है और जो पूर्ण भक्ति के द्वारा उसे (उस परमात्मा को)

देखता है (जो कि बड़ी कठिनाता से देखता है और जो कि अति सूक्ष्म है) वह स्वर्ग सुख को प्राप्त होता है वह ब्राह्मण जो कि बुद्धिमान् है और जो कि सब प्राणियों को (सर्वव्यापक) आत्मा में देखता है और जो उस सर्वव्यापक आत्मा का ध्यान करता हुआ अशान्त नहीं होता (अथात् एकग्र हो जाता है) और जो कि प्रत्येक वस्तु में उस आत्मा को देखता है (वह ब्राह्मण) स्वर्ग में प्रकाशित रहता है। जो कि स्वयम् ज्ञानस्वरूप है और जो कि कमल तन्तु से भी अधिकतर सूक्ष्म है सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है और जो कि अपरिवर्तनशील है और पृथिवी से बड़ा है सारे ब्रह्माण्ड को अंग भूत रखता है इन्द्रियों और उन के विषयों का जो सांसारिक ज्ञान है उस से वह भिन्न है, उस का ज्ञान सर्वोपरि है। उर्मा से जो स्वयम् विभाजन करता है सब शरीर उत्पन्न होते हैं। वहाँ सब का आदि कारण है वह अनादि है, वह अपरिवर्तनशील है। परन्तु सब दोषों का क्षय इस जीवन में योग (साधन) से होता है। वह ज्ञानी पुरुष जिस ने अपने दोषों का क्षय कर दिया है (जो दोष कि प्राणियों की हानि किया करते हैं) मुक्ति को प्राप्त करता है। अब हम उन दोषों को गिनते हैं जिन से प्राणियों का क्षय हुआ करता है। वे दोष ये हैं "क्रोध, हर्ष में फूलजाना, अमन्तुष्टता, लोभ, घबड़ाहट, हानि पहुँचाना छल, (असत्य मानना बोलना वा करना), अधिक भोजन से पेट को फुला देना, निन्दा, द्रोह, तृष्णा, अन्तर्द्वेष, इन्द्रियों को दमन रखने में भूल, मन को एकाग्र करने की तत्परता में भूल, इन दोषों का निवारण योग से होता है। क्रोध और विशेष राग से रहित होना, असन्तुष्टता, लोभ, घबड़ाहट (असमाधानता) छल और हिंसा से पृथक् रहना, सत्यता, मिताहार, निन्दावरोध, अद्वेष, निष्काम उदारता प्रातग्रह से पृथक्, धीरता, सरलता, अचूचित उत्तनना का नाश, इन्द्रिय-दमन, सब जीवों के साथ निर्वैरभाव, चित्त की एकाग्रता (सर्वव्यापक आत्मा के ध्यान में) आर्योचित सदाचार, शान्ति और सन्तोष, ये सब हैं जो कि सर्व सम्पत्ति से सब आश्रमों के लिए (उचित) ठहराए गए हैं। वह पुरुष जो कि धर्मशास्त्र के नियमानुसार इन सब का आचरण करता है सर्वव्यापक ब्रह्म में प्रवेश करता है। (आपस्तम्ब, प्रश्न १, पटल ८, खण्ड २२, तथा खण्ड २३ के सब सूत्र)

वर्णाश्रम धर्म ।

वर्णाश्रम धर्म विषयक जो सब पूर्व लेख अङ्कित किए जा चुके हैं उन से परिणाम यह निकलता है कि प्राचीन काल में प्रत्येक गृहस्थ की सन्तान को ब्रह्म-

चारी वा ब्रह्मचारिणी बनना पड़ता था जो मन्दबुद्धि पढ़ नहीं सकते थे वे शूद्रों की कोटि में डाले जाते थे और जो पढ़ लिख कर भी पाँचों से कुसंगति के कारण कु-संस्कृत हो जाते थे वे भी शूद्र वा उन से भी नीच ठहराए जाते थे । गृहस्थाश्रम चार भागों में विभक्त था जिन के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र थे । ब्राह्मण, जाति के अम्युदय अर्थात् उन के मानसिक, आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक उन्नतियों के उपायों को आविष्कृत कर उन्हें प्रवृत्त कराने की चेष्टा किया करते थे और क्षत्रिय उक्त आविष्कृत नियमों के अनुसार सब वर्णों की उन्नति के लिये उन की रक्षा करते थे, वैश्य स्वदेश तथा विदेशों के वाणिज्य से जाती के वैभव की वृद्धि करते थे और शूद्र विशेष मानसिक कार्यों के सम्पादन न कर सकने के कारण अपने शरीर से ही उक्त तीनों वर्णों की सेवा किया करते थे । इन चारों वर्णों के लोग अपनी २ याग्यता के कारण उच्च और नीच समझे तो जाते थे परन्तु अपने २ कर्तव्य पालन करने के कारण सभी कल्याण के अधिकारी माने जाते थे ब्रह्मचर्या-श्रम की समाप्ति पर जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता था वह अपने गुणक-मानुसार किसी एक वर्ण के कार्यों के सम्पादन की प्रतिज्ञा करता था एवं वह उसी वर्ण का माना जाता था । सब वर्ण के लोग सब वर्ण के हाथ का भोजन खाते थे । समवर्ण का विवाह अच्छा समझा जाता था परन्तु उच्च वर्ण का पुरुष कभी २ अपने से नीच वर्ण की कन्या से भी विवाह कर सकता था इस प्रकार चारों वर्ण एक दूसरे के साथ बंधे हुए सुख से जीवन व्यतीत करते थे ।

गृहस्थाश्रम को समाप्त कर लोग विशेष तपश्चरण करने के लिए वानप्रस्थ बनते थे और फिर संन्यासी परन्तु यह कोई निश्चित नियम नहीं था, जो कोई विशेष साधन सम्पन्न पुरुष परांपकार की अतितीव्र कामना रखत थे वे ब्रह्मचर्याश्रम से भी संन्यास ग्रहण कर लेते थे । तात्पर्य यह है कि जैसा कि उपनिषद् में लिखा है “सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति तत्राश्रंसि सर्वाणि च यद् वदन्ति यदिच्छन्तं ब्रह्मचर्यं चरन्ति ततं पदं संग्रहेण ब्रह्मचर्याम्” ब्रह्मचारी, तपस्वी (विशेष धर्माच्छानी गृहस्थ, वानप्रस्थ वा संन्यासी) सभी आश्रमियों का मुख्योद्देश्य यह था कि संसार इस प्रकार चलाया जाय जिस में मनुष्य जीवन का सर्वात्तम उद्देश्य अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति सिद्ध होती रहे । इस उद्देश्य की पूर्ति में जो जो बाधाएं उपस्थित होती थीं उन के दूर करने का सर्वोपरि यत्न संन्यासी करता था । वह एक जाति की प्रजाओं के ही परस्पर द्वेष (यदि किसी कारण उत्पन्न हो गए हों) को उन्मूलन करने का यत्न

नहीं करता था प्रत्युत वह परिव्राजक नाम को सफल करने के लिए संसार की भिन्न २ मनुष्य जातियों में भी भ्रमण कर उन के बीच प्रीति संस्थापन का यत्न करता था ताकि लोग युद्धादि से पृथक् हो शान्ति पूर्वक परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में लगे रहें । इसी मङ्गल कामना के कारण परिव्राट् संन्यासी एक जाति नहीं प्रत्युत सभी मनुष्य जातियों का पूज्य माना जाता था, लोग उसे जगद् गुरु की उपाधि से भी भूषित करते थे और बड़े २ नरेश उस परिव्राट् के सन्मुख शीश नवाते थे, शोक कि वर्णाश्रम धर्म के अप्रचार से आज भारत ही नहीं प्रत्युत पृथिवी के सभी देश मनुष्य जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की ओर अपनी पूरी दृष्टि नहीं देते । परमात्मा कृपा करें कि उस प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का पुनः प्रचार हो ताकि भारत तथा अन्यान्य देश भी पूर्ण सुखी हों ।

षष्ठ परिच्छेद ।

राजवंश-सभ्यता-यज्ञादि ।

साधारण अवस्था—कुरु और पंचाल—विदेह, कोशल, काशी आदि—उस समय के कार्यकर्ता—उस समय की आर्थिक दशा—नगर और ग्रामों का वृत्तन्त—उस समय की सभ्यता पर एक साधारण दृष्टि—क्या प्राचीन आर्य गामांस-भक्षक थे?—नरमेव और अश्वमेव यज्ञ के वास्तविक अर्थ—ब्राह्मण ग्रन्थों के अङ्कुर और पश्चि-मार्ग इतिहासवृत्ताओं का सम्भ्रम—उपनिषदों और ब्राह्मणों के अलङ्कार अन्य मतों की धर्म पुस्तकों में—प्राचीन समय में शुद्धि—

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय भारतवर्ष उच्च सभ्यता को प्राप्त था । उस समय गुरु-कुलों में ब्रह्मचारियों का स्नातक बनाने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा से आरम्भ कर क्रमशः उत्तमोत्तम उच्चशिक्षाएं दी जाती थीं । परिषदों में भी गूढ़ गूढ़ विषयों की शिक्षाएं हाती थीं । पक्षपात रहित धर्मात्मा और पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण होते थे । राजा शौर्य धैर्य गुण युक्त तथा पूर्ण विद्वान् और दानी होते थे । उन की सनाएं युद्ध-विद्या विशारद और वार भावों से आवेशित होती थीं । वैशु स्वयंश और परदेश में व्यापार करते थे और जो पुष्कल धन उन्हें प्राप्त होता था उन वे उपयोगी कर्षों में व्यय करते थे । बुद्धिरहित पुरुष जो शूद्र कहलाते थे वे भी द्विजों की सेवा भक्ति से करते थे । सारांश यह है कि प्रजा सदाचारिणी और परिश्रमी थी । आलस्य की उस समय बड़ी निन्दा और उद्योग की बड़ी प्रशंसा थी । ऐतरेय ब्राह्मण ७, ३, ३ की शिक्षा "नाना श्रान्ताय श्रीरस्ति" अर्थात् विविध प्रकार के उद्यमी पुरुषों के लिए ही श्री (अर्थात् सब प्रकार के कल्याण और ऐश्वर्य) हैं भरी भांति प्रचरित थी । विद्यार्थ्यसभाएं विद्वानों से भूषित थीं जहां अन्यान्य स्थानों के विद्वान् अपनी शङ्काएं निवारण करने अथवा शस्त्रार्थ करने के लिए आया करते थे । लंग ग्रामों तथा नगरों में भी निवास करते थे । प्रत्येक गृह्यति प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञों की पालना के लिए पूरी चेष्टा करते थे । किसी भी द्विन का गृह ऐसा न था जहां गार्हस्थ्यग्नि स्थापित न हो और जिस में प्रति दिन होम न होता हो । इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ अपने धार्मिक तथा सामाजिक नियमों की पालना करता हुआ उत्तरोत्तर अपने परिजनों पुत्रजनों और देश की उन्नति किया करता था ।

आर्यों के राज्य उन दिनों कई प्रकार के थे जिन में से सार्वभौम राज्य सर्वोपरि था उस के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पञ्जिका के चतुर्थ अध्याय के प्रथम खण्ड में लिखा है:—

“साम्राज्यं...समन्त पर्यायी स्यात् सार्वभौम...आन्तादापरान्द्वत् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ता या एकराडिति ” अर्थात् जो राज्य सब जगह फैला हुआ हो उस सार्वभौम कहते हैं अर्थात् पृथिवी से लेकर समुद्रपर्यन्त जो एक मात्र राज्य हो (उसे सार्वभौम कहते हैं) ।

ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पञ्जिका के पञ्चमाध्याय के अष्टम खण्ड में लिखा है कि भिन्न २ समयों में निम्नाङ्कित राजे सार्वभौम हुए हैं:—

कावष्यः तुरः, साहदेव्यः सोमकः, सार्ज्जयः सहदेवः, दैवावृषो बभ्रुः, वैदर्भो भीमः, गान्धारा नम्रजित्, जानकिः क्रतुवित्, पैनवनः सुदासः । इन राजाओं की नामावली देकर वहाँ यह भी लिखा है “सर्वे ह्येव महाराजा आसुरादित्य इव ह स्म श्रियां प्रतिष्ठितास्नपन्ति सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमावहन्त” अर्थात् ये सब के सब महाराज बलवान् सूर्य की तरह प्रतापवान् थे सब प्रकार की श्री से पूरित रहते हुए सब को तपाते थे (अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश और उष्णता से सब को सुखी रखता है उसी प्रकार उक्त राजागण अपने ज्ञान और दण्ड से सब को सुखी रखते थे) और (जिस प्रकार सूर्य अपने किरणों के बल से सब दिशाओं से जलों के बाष्पों को खींचता रहता है उसी प्रकार उक्त राज गण) अपने प्रताप से सब दिशाओं से बलि अर्थात् करों को ग्रहण करते थे ।

उक्त प्रमाण से यह भी बोध होता है कि आर्यों के सार्वभौम राज्य का केन्द्र सदा एक ही स्थान नहीं रहता था प्रस्युत वह बदलता रहता था ।

ऐतरेय ब्राह्मण का अष्टम पञ्जिका के तृतीयाध्याय के तृतीय खण्ड में अनेक आर्य राज्यों का वर्णन आता है परन्तु वे राज्य कहां २ विस्तृत थे उन का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है । परन्तु यह तो ठीक है कि जो आर्य-साम्राज्य विस्तृत था उस का उत्तरीय भाग उत्तर कुरु और उत्तर मद्र कहलाता था । यथा—“उदीच्यां दिशि ये के च परेण द्विमवन्तं जनपदा उत्तरकुरुव उत्तरमद्रा इति” अर्थात् उत्तर दिशा में हिमालय से परे उत्तरकुरु और उत्तरमद्र नाम राज्य थे । तथा उस साम्राज्य के मध्यवर्ती देश कुरु और पञ्चाल कहलाते थे यथा—“मध्य

मायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरु पञ्चालानां राजानः सवशोशानिराणां” अर्थात् उस आर्य्य साम्राज्य के मध्यवर्ती देश कुरु और पञ्चाल थे और इन्हीं के साथ “ वश ” और “उशानर” देश भी थे । “प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः” अर्थात् उस आर्य्य साम्राज्य का पूर्व भाग प्राच्य कहलाता था “दक्षिणस्यां दिशि ये के च सस्वतां राजानांभौज्यायैव” दक्षिण दिशा में भौज्य नामक राज्य था । “प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां” पश्चिम दिशा में नीच्या तथा अपाच्या का राज्य था ।

इस प्रकार एतरेय ब्राह्मण से पता लगता है कि उस समय का आर्य्य जगत् दूर दूर तक विस्तृत था । शतपथ ब्राह्मण के देखने से बोध होता है कि कुरु और पञ्चाल नामक राज्य बड़े ही प्रताप शाली और सम्य थे । इन क अतिरिक्त कोसल जो अवध में रहते थे तथा विदेह जो उत्तरीय विहार में रहते थे तथा काशीराज्य में जो आर्य्य थे वे भी बड़े सम्य और प्रतापवान् थे । शतपथ ब्राह्मण काण्ड १, अध्याय ४, ब्राह्मण १ के वचन १४, १५, १६, १७, के देखने से ज्ञात होता है कि “सदानार” नाम नदी “कोमल विदेहाना मर्यादा” अर्थात् कोसल राज्य और विदेह राज्य के बीच में थी इस सदानार (कदाचित् गंडक) नदी के पूर्व ओर विदेहों का और पश्चिम ओर कोसलों का राज्य था । विदेहों ने सदानार के पूर्व भाग को जो दल दल और जङ्गलों से पूरित था सुखा और जलाकर बसने योग्य बनाया था । विदेहों का राजा जनक बड़ा ज्ञानी था । उस की प्रशंसा सुन दूर दूर के विद्वान् उस की सभा में आया करते थे । वृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि एक समय द्रुपदनामक नाम स्नातक ने जब काशी के राजा अजातशत्रु से कहा कि “ब्रह्मते ब्र-वाणाति” अर्थात् तुम्हारे लिए ब्रह्म का उपदेश करूंगा तब अजातशत्रु ने उक्त अनु-चान से कहा कि “जनका जनक इति वै जना धवन्तीति” इस ब्रह्मविद्या के लिए तो आज कल लोग जनक की ही ओर दौड़े चले जाते हैं । इसी महाराज जनक की सभा में याज्ञवल्क्य नाम महर्षि थे जिन से जनक का सत्संग हुआ करता था । जनक से भिन्न २ ऋषियों तथा ऋषि कुमारों के जो प्रश्नोत्तर हुए हैं वे उपनिषदों तथा अन्यान्य ग्रन्थों में लिखे हुए हैं जिन के अवलोकन से पता लगता है कि जनक ब्रह्मविद्यादि विषयों के एक गम्भीर ज्ञाता थे । इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ९, खण्ड ३, में पञ्चालों के राजा जैबलि प्रवाहण का वृत्तान्त आता है । वहा लिखा है “श्वेतकेतुर्हारुण्यः पञ्चालानां समिति मेयाय । तं ह प्रवाहणो जैबलिस्त्वाच कुमारा-

नुत्वाशिषन् पितेत्यनु हि भगव इति” आरुणे श्वेतकेतु पञ्चालों की समिति में आए तब उन से पञ्चालों के राजा जैबलि प्रवाहण ने पूछा कि कुमार! क्या तुम्हें पिता ने शिक्षित बना दिया है? कुमार ने उत्तर दिया “हां” । तब राजा ने कुमार से पांच प्रश्न किए परन्तु उन में से किसी का भी उत्तर श्वेतकेतु न दे सका और तब वह अपने पिता गौतम के पास पहुंचा और उन पांचों प्रश्नों का उत्तर पूछा गौतम भी उन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते थे अतः “सह गौतमो राज्ञोऽर्द्धमयाय” वह प्रसिद्ध गौतम ऋषि राजा के स्थान पर पहुंचे और उन पांचों प्रश्नों का उत्तर पूछा । राजा ने ऋषि गौतम को उन प्रश्नों का उत्तर बतलाया । इस से ज्ञात होता है कि उन दिनों के राजा बड़े विद्वान् और ज्ञानी होते थे जिन से बड़े २ ऋषि भी शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाया करते थे परन्तु इतने बड़े २ ब्रह्मवृत्ता होते हुए भी राजा लोग अपने शासन सम्बन्धी कार्यों में ढील नहीं डालते थे । यही कारण था कि महाराज कैकेय अश्वपति के समीप उद्दालकादि ऋषि जब ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा करने आए तो महाराज अश्वपति ने उक्त ऋषियों का अतिथ्य सत्कार करते हुए निवेदन किया कि हे ऋषिगण ! आप मेरे राज्य में ठहरने में संकोच न करें क्योंकि “न मे स्तेनो जनपदं न कद्र्यो न मद्यो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्स्वेरी स्वैरिणी कुतः” (छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ९, खण्ड ११,) मेरे राज्य में न तो कोई चोर है, न कोई कृण, न कोई मद्य, न कोई “अग्निहोत्र न करने वाला ” न मुख और न व्यभिचारी (और जब कि व्यभिचारी पुरुष ही नहीं है तो) व्यभिचारिणी स्त्री तो कहां हो सकती है ? अर्थात् मेरा राज्य पवित्र है आप लोगों के निवास के योग्य है ।

ऊपर हम उत्तर कुरु, उत्तर मद्र, कुरु, पञ्चाल, वश उशीनर कोसल, विदेह, काश्यप, प्राच्य, अपाच्य, नीच्य, दक्षिण (भौज्य) नाम राज्यों के नाम गिना आए हैं । गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग द्वितीय प्रपाठक के ९ ब्राह्मण में कातिपय उक्त नामों के साथ २ कुछ अन्यान्य देशों के भी नाम आते हैं, यथा “कुरु पञ्चालेष्वङ्ग मगधेषु काशी कौशल्येषु शाल्व मत्स्येषु शवस उशीनर रेषूदीच्येषु” कुरु, पञ्चाल, अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, शल्व, मत्स्य, शवस, उशीनर, उर्दाची ।

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक देशों अनेक राजाओं और आर्यों की भिन्न-भिन्न शाखाओं का वर्णन आता है जिन के विषय में अधिक विचार और छानबीन के प-

श्चात् लिखने की आवश्यकता है तथा इस ग्रन्थ का आकार बृहद् न हो जाय इस भय से भी इस विषय को यहां छोड़ते हैं ।

ब्राह्मणग्रन्थों के समय के कार्यकर्त्ता—अनेक प्रकार के थे—(१) समुद्री पातों के चलाने वाले मल्लाह, यथा “यथा समुद्रं प्रप्लवंरन्नेवं हैवते प्रप्लवते ये संवत्सरं वा द्वादशाह वासते तद्यथा सैरावतीं नावं पारकामाः समारोहेयुंरंवे भवैतास्त्रिष्टुभः समारोहन्ति” (ऐतरेय ६, ४, ९,) अर्थात् जिस प्रकार समुद्र पार हाने की इच्छा रखने वाले सैरावती नामक नाव पर चढ़ते हैं उसी प्रकार संवत्सर सत्र (यज्ञ) तथा द्वादशाह (यज्ञ) के अनुष्ठान करने वालों को त्रिष्टुभ पर चढ़ना होता है । (२) शिल्पकार, यथा “ हस्ती कंसो हिरण्यमश्वतरी रथः शिल्पमिति ” हस्ती, कंस, हिरण्य, अश्वतरी (जलयान) तथा रथ शिल्प हैं । “एतच्छिल्पम्” (शतपथ) यह शिल्प है आदि । इसी प्रकार (३) सचिव (४) सेनापति (५) वाणिक् (६) अस्त्र शस्त्र चलाने वाले योद्धा, कवचधारी योद्धा (७) रथ चलाने वाले (८) बर्हई (९) कुम्भकार (१०) सड़कों के संरक्षक (११) प्रभावशाली व्याख्याता (१२) सभा में जाने वाले (१३) रत्नकार (१४) वैद्य (१५) ज्योतिषी (१६) द्वारपाल (१७) चित्रकार (१८) रत्नक (१९) नापित (२०) चर्मकार (२१) व्याध (२२) स्वर्णकार (२३) कवि आदि आदि अनेक प्रकार के कार्यकर्त्ता होते थे जिन का उल्लेख भिन्न २ स्थलों में आता है ।

मालूम होता है कि व्याध चाण्डालों में से होते थे । यह हम पहले ही लिख आए हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय आज कल की भांति जातपात न थी जो जिस काम को पसन्द करता और कर सक्त था उसे ही वह करता था और उस का वर्ण उस के कर्मों के अनुसार ही माना जाता था कोई किसी को उस के कार्य (पेशा) के कारण घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था इस प्रकार सब कार्यों की यथेष्ट उन्नति थी । छान्दोग्योपनिषद् में स्वर्ण, रजत, रत्न, रथों, घोड़ों और गायों का वर्णन आता है । ब्राह्मणों को जब द्रव्य दान किया जाता था तो प्रायः वह स्वर्ण होता था । स्वर्ण और रजत के अतिरिक्त और भी अनेक धातुओं का लोगों को ज्ञान था । छान्दोग्योपनिषद् में लवण, सिक्का और लोहों का वर्णन आता है । अन्न भी उन दिनों कई प्रकार के उपजते थे । बृहदारण्यकोपनिषद् में चावल, यव, तिल, माष ज्वार, गांधूम आदि के नाम आते हैं । उस समय के ग्रन्थों में कहीं

ऐसा नहीं लिखा कि कहीं के लोग अन्न के अभाव से अर्थात् भूखों मरते थे । इन सब से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय देश की आर्थिक दशा अत्युत्तम थी ।

ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मणों के लिए स्वर्ण के आभूषणों से भूषित लक्षों हस्तियों के दान का विषय आता है । एवं छान्दाग्योपनिषत् में ऐसी सहस्र गायों के दान का विषय आता है जिन के श्रृंगों में बहुत सा सोना जड़ा हुआ था ।

नगर और ग्राम—उस समय के साहित्य में ग्राम और नगर दोनों का वर्णन आता है । यथा “प्राच्यो ग्रामता बहुला विष्टा” (ऐतरेय ३, ४, ६) पूर्व दिशा के ग्राम बहुत से मनुष्यों से भर हुए हैं । “असुरा....पुरोऽकुर्वत” (ऐतरेय १. ४, ६) इस का अर्थ सायणाचार्य्य यह करते हैं “असुराः प्रकार वेष्टितानि नगराणि कृतवन्तः” अर्थात् असुरों ने परकोट से विरे हुए नगरों का बनाया वा बसाया । “ते देवा अनुवन्नुपसदा उपाया मोपसदा वै मह्नापुरं जयन्तीतितथंति” (ऐतरेय १, ४, ६) इस का अर्थ सायणाचार्य्य करते हैं “विजयार्थिन स्ते देवाः परस्परमिदम् अनुवन् उपसदाख्यान् होमान् उपायाम अनुतिष्ठाम, लोकेषु उपसदा वै परकीयदुर्गसमीपावस्थानेन.....सर्वे राजानो महतीं दुर्गरूपां पुरं जयन्ति” अर्थात् विजयार्थी दैवों ने परस्पर में बातें की कि उपसदा रूप होम का हम लोग अनुष्ठान करें अर्थात् जिस प्रकार लोक में उपसदा के द्वारा ही अर्थात् दूसरे (शत्रु) के दुर्ग के समीप अवस्थित होने से ही बड़े २ दुर्गरूप नगरों को राजा लोग जय करते हैं उसी प्रकार हम लोग भी असुरों के महापुर को जय करने की चेष्टा करें ।

शतपथ ब्राह्मण (१४—४—९) में लिखा है कि “याज्ञवल्क्यो रथमास्थायानु प्रधावयांचकार”) अर्थात् याज्ञवल्क्य ऋषि रथ पर चढ़ कर (राजा जनक के पीछे २) शीघ्रता से दौड़े अर्थात् अपने रथ को दौड़ाया । जिस प्रकरण का यह लेख है वहां किसी दूर यात्रा का वर्णन नहीं प्रत्युत साधारण रीति से जनक के अपने गृह से बाहर जाने का वृत्तान्त है । इस से सिद्ध हाता है कि जनक का नगर ऐसा था जिस में सड़कें थीं और उन पर गाड़ियां दौड़ सकती थीं । बड़े २ राजसूय-यज्ञ जहां होते थे वहां भी नगर सा बम जाता था और चौड़े २ पथ भी वहां बन जाते थे क्योंकि राजसूय-यज्ञ में शकटों के गमनागमन की विशेष आवश्यकता रहती थी । क्या कोई मनुष्य मान सकता है कि जिस देश में सुन्दर वक्ता, सभाओं में जाने वाले, रत्नकार, हाथी चलाने वाले, द्वारपाल, रञ्जक, वैद्य, स्वर्णकार, बड़े बड़े शिल्पकार राजदर्शियों में जाने वाले कवि थे वहां बड़े नगर न थे? संक्षेप

यह है कि जिस आर्थिक दशा का चित्र हम ने खींचा है वह उस देश का नहीं हो सकता जिस में बड़े बड़े नगर न हों । आर्य्य लोग भूमि खण्डों में ही नहीं प्रत्युत सैरावती अश्वतरी आदि पोतों के द्वारा महामागर में भी भ्रमण किया करते थे । और जो लोग इस प्रकार अग्याहत गति से जलस्थल में घूम सकते हों और जिन के वणिक् बड़े ही बुद्धिमान् और व्यवसायी हों उन के धन धान्य और पराक्रम का क्या ठिकाना है । इस में कोई भी सन्देह नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय के आर्य्य बड़े ही सभ्य थे । वे चार वर्णों और चार आश्रमों में विभक्त रहने के कारण अपने प्रत्येक प्रकार की उन्नतियों को नियम पूर्वक करते जाते थे । अभियोगों के निर्णय के लिये उन के नियमबद्ध न्यायालय तथा न्यायकर्तृ सभाएं थीं । प्रबन्ध विभाग तथा न्याय विभाग के पुरुषों को वे पृथक् २ रखते थे उन की शिक्षा की रीति सर्वोत्तम थी, दरिद्री से दरिद्री की भी सन्तान यदि पढ़ने योग्य बुद्धि रखता था तो उसे यथेष्ट विद्या की प्राप्ति हो जाती थी क्योंकि आचार्य्य लोग विद्या का बेचना पाप समझते थे और ब्रह्मचारियों को भोजन देना गृहस्थ मात्र अपने धर्म का एक प्रधान अङ्ग समझते थे । गुरुकुलों और परिषदों में सब प्रकार की विद्याएं पढ़ाई जाती थीं साधारण राजाओं की कौन कहें जो चक्रवर्ती राजा भी होते थे उन्हें भी राज-नियमानुसार ही शासन करना पड़ता था । उन की शासनकर्तृ शक्ति भी प्रतिबन्धित मानी जाती थी वह सभाएं किया करते थे जिन में से किन्हीं २ में राजनैतिक और किन्हीं २ में आध्यात्मिक वैज्ञानिक विचार हुआ करते थे । सुप्रबन्ध के कारण देश में ऐश्वर्य्य बहुत बढ़ गया था राजाओं और वैश्यों के पास रत्न, स्वर्ण, रजत, हाथी, घोड़े और रथें बहुत होते थे परन्तु इस पर भी उन के आचरण भ्रष्ट नहीं होते थे क्योंकि समाज के पूज्य ब्राह्मण और संन्यासी सर्वथा लोभ रहित होते थे, लोभ करने से ब्राह्मण अपने पद से गिरा दिया जाता था और उसे दान भी कोई नहीं देता था । धन सञ्चय को ब्राह्मण पाप समझते थे अपनी मानसिक और आत्मिक शक्तियों की वृद्धि तथा समाज को पाप रहित रखना ही वे अपना मुख्योद्देश्य समझते थे । और संन्यासी जो महान् तपस्वी और महाज्ञानी होते थे वे भिक्षा मात्र से ही अपना निर्वाह करते थे । वे सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी तथा परोपकारी होते थे इसी कारण बड़े २ सम्राट भी उन के चरणों में शीश नवाते थे और प्रजा मात्र उन पर श्रद्धा रखती थी । ये संन्यासी ही सर्वोपरि थे और इन्हीं के दयामय तथा सर्वथा निष्पक्ष बर्ताव से वर्णाश्रम धर्म ठीक २ चलता था । बड़े २ वणिक् और राजा

तथा राजपुरुष नगरों में रहत थे और कृषकों का निवास प्रायः ग्रामों में था । हमारी सम्मति में संसार के किसी और देश के ज्ञात इतिहास में कभी ऐसा कोई समय नहीं आया जब कि आर्थिक उन्नति, सामाजिक न्याय आत्मिक पावत्रता, एवं परा और अपराविद्या उन्नात के साथ इस प्रकार सम्बन्धित हों । यह अवस्था जिसे अन्यान्य देशों के दाशनिक और राजनीति विशारद पुरुष कदाचित् अपनी कल्पना शक्ति के बल से कवल स्वप्नों में ही देख कर प्रसन्न होते हों, प्राचीन भारत में वस्तुतः उपस्थित थी । भारतवर्ष का कोई इतिहास नियमबद्ध अब प्राप्त न हाने की अवस्था में भी, साहित्य में बिखरे हुए ऐतिहासिक खण्डों को जोड़ कर यदि ऐसी आदर्श अवस्था का चित्र बन सक्ता है तो प्राचीन इतिहासज्ञों को अपने पुस्तकों के लिए कितनी सामग्री मिल जाती होगी और अपनी जात के पुत्रों का जातीयभिमान उत्तेजित करने और अन्य जातियों के लिए शिक्षा उपस्थित करने का कैसा पुण्यमय और मनोरञ्जक अवसर उन्हें प्राप्त होता होगा !

क्या प्राचीन आर्य गोमांस भक्षक थे ?—यूरोपीय इतिहासवेत्ताओं तथा उन के अनुयायी राजा राजेन्द्रलाल मित्र और महाशय रमेशचन्द्र दत्त सराखे भारतीय विद्वानों का मत है कि प्राचीन आर्य गोमांस भक्षक थे, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में गोरक्षा को इतना बड़ा पुण्य बतलाया गया है और गोमांस भक्षण का निषेध इतनी बार किया गया है कि यही ममझना पड़ता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों वा सूत्र-ग्रन्थों में जहां कहीं गो और मांस विषयक वाक्य आते हैं या तो यूरोपीय विद्वान् उन के अर्थ ही नहीं जान सके अथवा वे प्रक्षिप्त हैं । हम आगे चल कर बतलावगे कि इस विषय की कई बातों के समझने में यूरोपीय विद्वानों ने भूल की है क्योंकि उन के मन में जो संस्कार बैठे हुए थे उन के वे वर्शाभूत हो गये थे । प्रथम हम गोमांस भक्षण के विरुद्ध तथा गोरक्षा के पक्ष में जो प्रमाण मिलते हैं उन में से कातिपय संक्षेपतः यहां लिखते हैं और तदनन्तर यूरोपीय विद्वान् जो अपने सिद्धान्त की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित करते हैं उन की परीक्षा करना चाहते हैं । शतपथ ब्राह्मण के तीसरे काण्ड के इक्कासठे वाक् के प्रथमाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में लिखा है “स धेन्वे चानडुहश्च नाश्रायाद्धेन्वनडुहौ वाऽइदं सर्वं बिभृतस्त देवा अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वाऽइदं सर्वं बिभृतो……तद्वैतस्सर्वाश्यामिव यो धेन्वनडुहयोरश्राय दन्तगतिरिव तथै हाद्भुनमभिजनितोर्जायायै गर्भं निरबधीदिति पापमक दिति पापी कार्तिस्तस्माद्धेन्वनडुहयोर्नाश्रायात्” अर्थात् गाय वा बैल (का मांस) न खावे क्योंकि गाय

और बैल निस्सन्देह यहां सब पदार्थों का पोषण करते हैं । देवताओं ने कहा गाय और बैल ही सब का पोषण करते हैं । अतः जो कोई गाय वा बैल को खावंगा वह सर्वभक्षी माना जायगा वा सर्वनाशक माना जायगा, ऐसा पुरुष अद्भुत योनि में जन्म धारण करेगा, भ्रूणहत्या का पाप उसे लगेगा, उस की निन्दा होगी अतः गाय और बैल (का मांस) नहीं खाना चाहिए । शतपथ ब्राह्मण में बैल और गाय को यज्ञ और सावित्री के तुल्य बतलाया है । यज्ञ का अर्थ जो हम पहले बतला आए हैं तदनुसार यह अर्थ हांगा कि बैल अन्न उत्पन्न कर तथा गाय दूध देकर यज्ञवत् परंपकार कर रहे हैं और गाय का दूध सावित्री की तरह बुद्धि को बढ़ाने वाला है । शतपथ ब्राह्मण के तीसरे काण्ड के तृतीयाध्याय के तीसरे ब्राह्मण के प्रथम तथा द्वितीय वाक् में लिखा है “ महास्त्वैव गोर्माहेमेत्यध्वर्युः । गावै प्रति-धुक् । तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्याऽआतञ्जनं तस्यै नवनातं तस्यै घृतं तस्याऽआमिक्षा तस्यै वाजिनध्रं” अर्थात् अध्वर्यु कहता है कि गाय की महिमा तो महान् है (क्योंकि) गाय से ही धार का दूध, गाय से ही औटा हुआ दूध, उसी से मलाई, उसी से दही, उसी से दही का मक्खन, उसी से आतञ्जन, उसी से दूध का मक्खन, उसी से घृत, उसी से आमिक्षा और उसी से वाजिन उत्पन्न होता है । बौद्धायन सूत्र (२, ३, ६, ३०) में लिखा है कि ब्राह्मण, गाय, राजा, अन्धपुरुष, वृद्धपुरुष जिस के शीश पर बोझ भारी हो, गर्भवती स्त्री तथा निर्बल पुरुष के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए । बौद्धायन सूत्र (२, २, ४, १८) में लिखा है कि ब्राह्मण और वैश्य भी (जिन के लिए सामान्यतः शस्त्र धारण करना वर्जित है) गो ब्राह्मण की रक्षा के लिए शस्त्र धारण कर सकते हैं । बौद्धायन सूत्र १, १०, १९, ३) में गोघातक के लिए प्रायश्चित्त का विधान है । वासिष्ठ सूत्र अध्याय २१, सूत्र १८ में लिखा है “यदि कोई गो बध करे तो उसे चाहिए कि (इस पाप के लिए) छः महीने तक कृच्छ्र वा तप्तकृच्छ्र व्रत करे और छः महीने तक उस बध की हुई गाय का कच्चा चमड़ा ओढ़े और पहने । वासिष्ठ सूत्र अध्याय ६, सूत्र ३० में ब्राह्मण के अन्यान्य गुणों के साथ लिखा है कि “उस ब्राह्मण को दान दो जो गो रक्षा करता हो” । गौतमसूत्र, अध्याय २२, सूत्र १८ में लिखा है “गो बध करने का प्रायश्चित्त उतना ही है जितना कि एक वैश्य को बध करने का” । गौतम सूत्र अध्याय १९, सूत्र १४ में गाशाला को तीर्थ स्थान बतलाया है । गौतमसूत्र, अध्याय १०, सूत्र १८ में लिखा है कि युद्धक्षेत्र

में उम सैनिक को मत मारो जो अपने को कहे कि “हम गाय हैं वा हम ब्राह्मण हैं” ॥

कैसे सम्भव हो सक्ता है कि जिन लोगों ने गोरक्षा की इतनी महिमा बतलाई हो वह कभी भी गो मारन की शिक्षा दे सकें । एक उन्मत्त पुरुष के अतिरिक्त अन्य कोई भी अपनी बातों का आप खण्डन नहीं कर सक्ता । अतः समझना चाहिए कि जिन २ वाक्यों को यूरोपीय विद्वान् गो घात के विषय में प्रस्तुत करते हैं उन वाक्यों के या तो वे अर्थ नहीं जान सके अथवा वे वाक्य प्रक्षिप्त हैं । वेदों के शब्द तो “नैगमरुदि भवं हि सुसाधु” इस प्रमाणानुसार सर्वथा ही अरूढ़ि हैं परन्तु वेदों के व्याख्यान रूप जो ब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं उन में भी अरूढ़ि का कम प्रयोग नहीं है । यूरोपीय विद्वानों ने इस नियम को न जान कर अर्थ का अनर्थ कर दिया है ।

गा के अर्थ वाणां, पृथिवी तथा गाय आदि अनेक हैं परन्तु यूरोपीय विद्वान् इस गो शब्द का अर्थ गाय के अतिरिक्त अन्य कुछ लेते ही नहीं । इसी प्रकार “अश्व” शब्द के विद्युत् आदि अनेक अर्थ हैं परन्तु यूरोपीय विद्वान् अश्व का अर्थ “घोड़ा” के अतिरिक्त और कुछ करते ही नहीं । यज्ञ के अर्थ का जो उन्होंने ने अनर्थ किया है वह हम पहलू वर्णन कर चुके हैं । सच तो यह है कि जब उन्होंने ने यज्ञ में पशुहिंसा आवश्यक समझ लिया तो जिस यज्ञ के विधान में अश्व शब्द आया वहां उम का अर्थ घोड़े का बध और जिस यज्ञ के विधान में गो शब्द आया वहां उन्होंने गोबध अर्थ कर दिया ।

शतपथ ब्राह्मण काण्ड १, अध्याय २, ब्राह्मण ३, वाक् ६ तथा ७ में लिखा है:—

“पुरुषश्च ह वै देवाः अग्रे पशुमालेभिरे तस्या लब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽश्वं प्रविवेश तेऽश्वमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम स गां प्रविवेश ते गामालभन्त तस्या लब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽर्विं प्रविवेश तेऽर्विमालभन्त तस्यालब्धस्य मेधोऽपचक्राम सोऽजं प्रविवेश तेऽजमालभन्त तस्या लब्धस्य मेधोऽपचक्राम स इमां पृथिवीं प्रविवेश तं खनन्त इवान्धीपुस्तमन्वाविन्दंस्ताविमौ ब्रीहियवौ” ।

महाशय “रागांजिन” नाम ऐतिहासिक उक्त ब्राह्मण वाक्य का अर्थ अपनी पुस्तक वैदिक इंडिया (Vedic India) तृतीय संस्करण के पृष्ठ ४०९ में इस प्रकार लिखते हैं:—

The gods at first took man as victim (literally 'sacrificial animal'). Then the sacrificial virtue (medha) left him and went into the horse. They took the horse, but the medha went out of him also and into the steer. Soon it went from the steer into the sheep, from the sheep into the goat, from the goat into the earth. Then they dug the earth up, seeking for the medha and found it in rice and barley" &c.

अर्थात् देवनाओं ने पहले मनुष्य को ही बध योग्य (यज्ञ में बध योग्य पशु) ठहराया, तब याज्ञिक गुण (मेधा) उस में से निकल गई और घोड़े में घुस गई उन्होंने घोड़े को पकड़ा परन्तु मेधा उस में से भी निकल गई और प्रौढ़ बछड़े में गई, तुरत ही यह प्रौढ़ बछड़े में से निकल कर भेड़ी में गई, भेड़ा में से बकर में बकरे में से पृथिवी में । तब उन्होंने मेधा का खोजते हुए पृथिवी का खाद डाला और इसे धान (चावल) और यव में पाया ।

क्या कोई सामान्य बुद्धि का मनुष्य भी मानेगा कि यज्ञ में मनुष्य बध और अश्वत्थों बध तथा पृथिवी के खादने के बांच कुछ सम्बन्ध है ? प्राचिन समय के ऋषियों को यदि कोई असभ्य भी मानल तो भी उसे यह मानना पड़ेगा कि वे अपनी असभ्य रीति से भी कुछ न कुछ अवश्य तर्क करते होंगे । असभ्य लोग भी उन्मत्त वा अर्द्धमत्त पुरुषों की नाई बातें नहीं करते, हां उन की युक्त की शैली विचित्र होती है । उक्त ब्राह्मण वाक् का अर्थ महाशय रागोजिन उक्त प्रकार कभी नहीं करते यदि वे आंख मूंद कर प्रोफेसर मैक्समूलर के अनुयायी न बन गए होते और उक्त वाक् में आए हुए "आलेभिरे" शब्द का अर्थ मैक्समूलर की भांति वह भी "Took man as victim (literally sacrificial animal)" "अर्थात् मनुष्य को ही बध योग्य (यज्ञ में बध योग्य पशु) ठहराया" ऐसा न करते ।

शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक में जो "आलेभिरे" शब्द आया है उस का अर्थ है "स्पर्श क्रिया" । "आलेभिरे" 'आ' तथा 'लभ' के योग से बना है । 'आ' का अर्थ है भली भांति और 'लभ' का अर्थ है प्राप्ति (डुलभष् प्राप्तौ) । आलेभिरे, आलभ्य, आलब्ध, आलम्भ, आलम्भ्य भी एक ही "आलभ" के किञ्चित् किञ्चित् बदले हुए रूप हैं एवं सब के अर्थ स्पर्श सम्बन्धी ही हैं । धातुओं के रूप जितने प्रकार के होते हैं उतने प्रकार के रूप "आलभ" के भी हो सकत हैं । 'आलभ' सम्बन्धी शब्दों का अर्थ केवल हम ही "स्पर्श" करते हो ऐसा नहीं है । मनुस्मृति

भी “आलभ” सम्बन्धी “आलम्भ” शब्द का अर्थ “स्पर्श” करती है यथा “द्यूतं च जनवादं च, परिवादं तथा नृतम्, स्त्रीणां च प्रेक्षणा लम्भमुपघातं परस्य च” (मनु, अ० २ । १७९) यह श्लोक ब्रह्मचारी के कर्तव्य प्रकरण में आया है । इस श्लोक के पूर्व एक और श्लोक में जो “ वर्जयन् ” क्रिया आई है उस की अनुवृत्ति इस श्लोक में भी आई है अतः इस श्लोक का अर्थ हुआ कि ब्रह्मचारी द्यूत, जिस किसी की कथा, दूसरे की निन्दा, झूठ, स्त्रियों को ध्यान देकर देखना वा उन्हें (आलम्भम्) स्पर्श करना, तथा दूसरे की हानि रूप कुकर्मों को छोड़ देवे । यदि कोई हठात् कहे कि नहीं हम आलम्भ का अर्थ “बध” ही लेंगे तो उस से पृच्छना चाहिए कि ब्रह्मचर्य्य कृत्य पालन तथा ब्रह्मबध से क्या सम्बन्ध है ? मीमांसा दर्शन अध्याय २, पाद ३ के १७ वें सूत्र पर जो सुबाधिना टीका है उस में आलम्भ का अर्थ संस्पर्श क्रिया है यथा “एतेन वत्सस्य धेनुममीपस्थितौ दुग्धप्रस्रवः प्रसिद्धो लोके तदर्थं वत्सस्य समीपे आनयनार्थं मालम्भःस्पर्शोऽभवति” । आलभ वा आलम्भ शब्द की रचना ही जब कि यह बनलाती है कि यह “आ” (भली भाँति) और “ लभ ” (प्राप्ति) इन दोनों के योग से बना है तो कोई भी शब्द विद्या का ज्ञाता पुरुष स्वीकार नहीं कर सक्ता कि इस का अर्थ हिंसा भी हो सक्ता है । अतः जो लोग आलभ* सम्बन्धी शब्दों के अर्थ हिंसा करत हैं वे केवल अपना हठ प्रकाशित करते हैं और कुछ नहीं ।

शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाक् का शब्दार्थ निम्नलिखित प्रकार है:—

पूर्व काल में देवों ने पुरुष (मनुष्य) रूप पशु को संस्पर्शित किया, उस संस्पर्शित पुरुष की मेधा (बुद्धि , चली और घोड़े में प्रावष्ट हुई तब उन्होंने ने

* आप्ते की संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी में “आलभ” के निम्नलिखित अर्थ लिखे हुए हैं:—

“आलभ” I. A. I. To touch; गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा Ms. 5. 87. 4. 117; B. K. 14. 91 ; सत्ये नायुधमालभे; सत्येन (सत्यं) आत्मानमालभे M. B-2. To get, attain to आतितरां कान्तिमालप्स्यते ते (वपुः) Me. 15 V. I. ; Kam. 9. 63-3. To kill, immolate (as a victim in Sacrifices) ; प्रातर्वै पशुनालभते Sat. Br. ; गर्दभं पशुमालभ्य Y. 3. 280.-4 To take hold of, seize grasp, handle.-5 To gain or win over-Cans. 1 To touch-2 To Commence.

नोट—ध्यान रखना चाहिए कि इन दिना के बने हुए कोष मात्र, प्राचीन तथा आधुनिक दोनों प्रकार के अर्थों को प्रकट करते हैं अतः आप्ते ने भी जब कि “आलभ” का अर्थ “संस्पर्श” तथा “प्राप्ति” किया है तो उस का पीछे से वाममार्गियों द्वारा विगाढ़ा हुआ अर्थ “बध” भी लिखदिया है ।

(देवों ने) अश्व को संस्पर्शित किया, उस संस्पर्शित अश्व में जो पुरुष की मेधा आई थी वह अश्व में से निकली और गाय में प्रविष्ट हो गई, तब उन्होंने (देवों ने) गाय को संस्पर्शित किया उस संस्पर्शित गाय में जो पुरुष की मेधा घुसी थी वह उस में से निकली और भेड़ी में प्रविष्ट हो गई, तब उन्होंने (देवों ने) भेड़ी को संस्पर्शित किया उस संस्पर्शित भेड़ी में जो पुरुष की मेधा आई थी वह उस में से निकली और छाग में प्रविष्ट हो गई, तब देवताओं ने छाग को संस्पर्शित किया उस संस्पर्शित छाग में जो पुरुष की मेधा घुसी हुई थी वह उस में से निकली और इस पृथिवी में प्रविष्ट हो गई, तब इस पृथिवी को खोदते हुए उन्होंने अन्वेषण किया और उन्होंने ब्रीहि (धान, चावल) तथा यव की प्राप्ति की ।

उक्त वाक् में एक गूढ़ अलङ्कार और मानव उन्नति का क्रम दिखलाया गया है । यह सभी ज्ञानी मानते हैं कि वर्तमान सृष्टि की आदि में जो मनुष्य पैदा हुए उन्होंने एक साथ ही कृषि विद्या नहीं सीख ली । प्रत्युत कृषि विद्या द्वारा नाज उत्पन्न करने के पूर्व उन्होंने अपना पोषण पालन फलों से किया । वर्तमान सृष्टि की आदि में जिन मनुष्यों को परमात्मा के द्वारा ज्ञान मिला उन पवित्र मनुष्य वा ऋषि वा देवों ने अन्य मनुष्यों को जो सर्वथा पशुवत् थे संस्पर्श करना आरम्भ किया अर्थात् उन के साथ हो कर उन्हें शिक्षा देनी आरम्भ की । तब उन पशुनुस्य मनुष्यों की मेधा अर्थात् बुद्धि बढ़ी और घोड़ों में घुसी अर्थात् वे दूर दूर से फल लाने आदि कामों के लिये घोड़ों पर चढ़ने का यत्न करने लगे उक्त देवों ने भी इस कार्य में उक्त साधारण मनुष्यों की सहायता की अर्थात् घोड़ों को स्वयम् संस्पर्शित कर घोड़ों को बश में रखने की विधि साधारण मनुष्यों को सिखलाई । तब साधारण मनुष्यों की मेधा घोड़े में से निकली और गाय में प्रविष्ट हुई अर्थात् घोड़े से काम लेना जब वे सीख चुके तो गाय से लाभ उठाने का यत्न करने लगे इस कार्य में भी देवों ने साधारण मनुष्यों की सहायता की और साधारण मनुष्य जब गाय से दूध लेने आदि की विधि सीख चुके तब उन की मेधा गाय में से निकल कर भेड़ी में प्रविष्ट हुई अर्थात् भेड़ी के दूध और उस के रोम से जो लाभ उठाए जा सके हैं उन की प्राप्ति के लिए साधारण मनुष्य यत्न करने लगे और इस कार्य में भी देवों ने उन की सहायता की और जब साधारण मनुष्य भेड़ी से लाभ उठाना सीख चुके तब उन की मेधा भेड़ी में से निकली और छाग (बकरी) में प्रविष्ट हुई अर्थात् छाग के दूध से जो लाभ उठाए जा सके हैं उन्हें उठाने का यत्न

करने लगे । देवों ने इस कार्य में भी साधारण मनुष्यों की सहायता की और जब साधारण मनुष्य छाग से लाभ उठाना सीख चुके तब उन की मेधा (बुद्धि) छाग में से निकली और पृथिवी में प्रविष्ट हुई अर्थात् वे सांचने लगे कि इस पृथिवी से वे क्या २ लाभ उठा सकते हैं ! देवों ने इस कार्य में भी उन की सहायता की और साधारण मनुष्यों ने पृथिवी को खादना आरम्भ किया खुदी हुई भूमि जब उर्वरी हो गई तो देवों की शिक्षा से वे इस पृथिवी में व्रीहि और यव बाने लगे और पृथिवी में से उन की बुद्धि के फलरूप व्रीहि और यव नामक अन्न उत्पन्न हुए ।

वर्तमान सृष्टि के आरम्भ में मानुषी बुद्धि किस प्रकार क्रमशः उन्नत होती गई इस विषय का कैसा उत्तम यह लेख है ! यह एक दृढ़ सिद्धान्त है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की व्याख्या रूप हैं परन्तु महाशय रागोजिन कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के कई भाग वेदों से भी प्राचीन हैं । यदि उन का कथन कोई मान भी ले तो उसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्राह्मण वाक्यों का अर्थ आर्ष नियमों के अनुसार होगा न कि आधुनिक तान्त्रिक व्यवस्थानुसार ।

“ यज्ञमध्वरम् ” वेद के इस प्रामाण्य से ज्ञात होता है कि यज्ञ को अध्वर कहते हैं । ‘ ध्वर ’ का अर्थ हिंसा है अतः ‘ अध्वर ’ उस को कहते हैं जिस के साथ हिंसा का सम्बन्ध न हो । क्या कोई बुद्धिमान् विश्वास कर सकता है कि जिस यज्ञ के लिये अध्वर शब्द का प्रयोग हो । उस में रक्त बहाने की विधि पाई जा सकती है ? हम इस बात को मान लेते यदि यह कहा जाता कि पौराणिक तथा तान्त्रिक साहित्य के लिखने वाले अध्वर के “यौगिक” अर्थ भूल गए होंगे और इस लिए उन लोगों ने पशुहिंसा के साथ भी इस शब्द का सम्बन्ध जोड़ लिया होगा परन्तु वैदिक साहित्य में ही पशुहिंसा के सम्बन्ध में “अध्वर” शब्द का आना शब्दविद्या के स्वीकृत नियमों के सर्वथा विरुद्ध है ।

अतः मिस्टर रागोजिनादि यूरोपीय विद्वान् यज्ञों में पशुहिंसा के विधान सिद्धि का जो यत्न करते हैं वह सर्वथा अनुचित है ।

वेदों में “गाय” के लिए “अध्वर्या” * शब्द प्रयुक्त हुआ है “अध्वर्या” का

* “अध्वर्या—अध्वर्याहन्तव्या भवति, अध्वर्यातीति वा, तस्य यथा भवति :—

स्य वसाद्भगवती हि भूया अधो वयं भगवन्तः द्यामः ।

अद्धि नृणामध्वर्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥

अर्थ है “जो बध के योग्य न हो” जब गायत्राची “अध्या” शब्द का धात्वर्थ ही यह बतलाता है कि जो मारने के योग्य न हो फिर कैसे सम्भव हो सक्ता है कि वेद सम्बन्धी साहित्य में गोबध की आज्ञा मिल सके । परन्तु महाशय राजेन्द्रलाल मित्र अपने गुरु मिस्टर कोलब्रुक के सिद्धान्त “यज्ञ में पशुबध” के समर्थन के लिये निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते और लिखते हैं कि प्राचीन आर्य गोभक्षक थे :—

“सप्तम्यामष्टम्यां वाइवयुजी पक्षे तु वत्सतरिरेवालभेरन् उक्ष्णो विसृजेयुः” (ता-
ण्ड्य ब्राह्मण)

इस वाक्य में जो ‘आलभेरन्’ शब्द आया है उस का अर्थ महाशय राजेन्द्रलाल मित्र “बध” के करने हैं । परन्तु वेद सम्बन्धी साहित्य में आए हुए “आलभेरन्” शब्द का अर्थ किसी प्रकार भी “बध ” द्योतक नहीं हो सक्ता इसे अभी हम धात्वर्थ तथा कई साहित्य के प्रमाणों से सिद्ध कर आए हैं । क्या कोई भी बुद्धिमान् पुरुष यह स्वीकार कर सक्ता है कि जो प्राचीन आर्य गाय को अध्या और यज्ञ को अध्वर कहते थे वे किसी भी दशा में यज्ञ में गोबध की विधि बतला सकतें थे ? अतः आलभेरन् (जो आलभ वा आलम्भ का एक रूप है) का अर्थ स्पर्श ही है जैसा कि मनुस्मृति के पूर्व लिखित श्लोक में आलम्भ शब्द से प्रकट होता है । यज्ञ में दान से पूर्व, जो वस्तु दान में दी जाय उन का संस्पर्श एक साधारण नियम है अतः ब्राह्मण ग्रन्थ सम्बन्धी साहित्य में जहां कहीं गो अथवा गोवत्स के आलम्भन की वार्त्ता आवे वहां उन का संस्पर्श ही अभीष्ट है ।

इतना तर्क करने पर भी हम यह लिखे बिना नहीं रह सक्ते कि कई आर्ष ग्रन्थों में यज्ञों के प्रकरण में बाममार्गियों ने पशुहिंसा विधायक अनेक वाक्य भिन्न दिए हैं परन्तु यह भिन्न वट प्रकट हुए बिना रह नहीं सक्ता क्योंकि वैदिक शैली से अभिन्न याज्ञिकों ने यज्ञ को अध्वर (हिंसा रहित) और गाय को अध्या (अबध) स्पष्टतया अपने लेखों द्वारा प्रसिद्ध कर रक्खा है ।

गोबध के पक्ष में यूरोपीय विद्वान् जो एक अन्य प्रमाण देते हैं वह यह हैं कि संस्कृत में अतिथे का ‘गोघ्न’ कहते हैं । ‘गो’ के अर्थ महाशय कोलब्रुक और उन के चले राजेन्द्रलालमित्र गाय के लने हैं और हन के अर्थ हिंसा के । अतः गोघ्न

दिक कृपशतः बहुपत्नी वसूनां वत्स मिच्छन्तो सनसाम्यानात् ।

दुहामात्रम्यां पयो ऋत्नेयं सा वर्धनां महते सौभगाय ॥

अथर्ववेद, काण्ड ८, अनुवाक ९ सू० १०, मन्त्र ४ ॥

का अर्थ वे करते हैं वह पुरुष (अतिथि) जिस के लिये गाय मारी जाय । यह अर्थ न केवल वैदिक शिक्षा के ही प्रतिकूल है प्रत्युत साधारण बुद्धि के भी विरुद्ध है ।

यदि कोई यह मान भी ले कि प्राचीन आर्य्य गोभक्षक थे तो भी किसी की बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं कर सकती कि जब कभी किसी प्राचीन आर्य्य के गृह पर अतिथि आता था तो वह अतिथि के लिये गोबध करता था, यूरोप में गोमांस साधारण भोजन है परन्तु वहां भी प्रत्येक घर बूचरखाना नहीं बना हुआ है । भाषाविज्ञान का कोई भी विद्वान् यह नहीं मान सकता कि अतिथि के स्वागत और गोबध में कर्मा इतना गूढ़ सम्बन्ध हो सकता था कि अतिथि उसी को कहते थे जिस के लिये गाय अवश्य मारी जाय । यह अर्थ उसी दशा में स्वीकृत हो सकता है जब कि गोघ्न शब्द का कोई यथोचित अर्थ न हो । “गोघ्न” शब्द “गो” और “हन” के योग से बना है । “गो” के अनक अर्थ हैं यथा वाणी, पृथिवी, जल, स्वर्ग वा विशेष सुख, माता, इन्द्रिय, नेत्र सूर्य, चन्द्र । “हन” का अर्थ महर्षि पाणिनी “हिंसा” और “गति” बनलाते हैं । और “गति” के अर्थ हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति अतः गोघ्न के निम्नलिखित अर्थ हो सक्ते हैं:—

- (१) जिस के लिए जल की प्राप्ति की गई हो अर्थात् जिस के लिए जल का प्रबन्ध किया गया हो ।
- (२) जिस के लिए सुख की सामग्री प्राप्त की गई हो ।
- (३) जिस का वाणी से सत्कार किया गया हो ।
- (४) जिस की ओर आंखें लगी हों ।

इन अर्थों को साधारण बुद्धि भी स्वीकार कर सकती है, क्योंकि प्रायः सभी सम्य दशों में जब कभी किसी के घर अतिथि आता है तो उस के स्वागत के लिए गृहपति घर से बाहर आते हुए कुछ चलाता है (गति), उस से प्रिय वचन (वाणी) बोलना है, फिर जल वा दुग्धादि से उस का सत्कार करता है और यथा सम्भव उस के सुख के लिए अन्यान्य सामग्रियों का भी प्रस्तुत करता है, यह जानने के लिए कि प्रिय अतिथि इन सत्कारों से प्रसन्न होता है वा नहीं, गृहपति की आंखें भी उस की ओर लगी रहती हैं । यदि कोई गृहपति दरिद्री भी हो तो वह भी अपने यहां आए हुए अतिथि का सत्कार मीठे वचन और स्वच्छ जल से अवश्य

ही करता है । जब उक्त सर्भ अर्थ “ गोघ्न ” शब्द के हो सक्ते हैं तो फिर न मालूम इस शब्द के अर्थ यूरोपीय विद्वान् इस प्रकार का क्यों करते हैं जो न केवल वेद, शास्त्र, लौकिक, भारतीय जन आवेश ही के विरुद्ध हैं प्रस्तुत जिसे साधारण बुद्धि भी स्वीकार नहीं कर सकती । निम्न लोगों ने भारतवर्ष का साहित्य स्थूलदृष्टि से भी पढ़ा है वे जानते हैं कि जब किसी गृहपति के घर अतिथि आता था तो गृहपति मीठे वचनों से उस का स्वागत करता था । उस को हस्त मुखादि प्रक्षालन तथा आचमन के लिए जल देता था । और उस के भोजन के लिए दुग्ध वा मधुर पकान्न प्रस्तुत करता था । अतिथ्य सत्कार किस प्रकार करना चाहिए इस विषय में आपस्तम्ब सूत्र प्रश्न २, पटल २, खण्ड ४ सूत्र ११ तथा १४ में लिखा है “ गृहपति को चाहिए कि अन्यो को भोजन देने के पहले अतिथि को भोजन दे, यदि उस के घर में भोजन न हो तो स्थान, जल आसन और प्रिय वाणी (दे) क्योंकि अच्छे मनुष्य के घर में इन वस्तुओं का तो कभी भी अभाव नहीं होता । इस सूत्र में अतिथि के लिए जिन २ वस्तुओं के देने की आज्ञा है प्रायः वे सभी गो शब्द के वाचक हो सक्ते हैं । पुनः आपस्तम्ब सूत्र, प्रश्न २, पटल ३ खण्ड ६, सूत्र १४ में लिखा है “ जब कोई अतिथि घर पर आवे तो गृहपति उस से मधुर सम्भाषण करे और दुग्ध वा अन्य पेय पदार्थों तथा भोज्य पदार्थों से उस का सत्कार करे (यदि इन का अभाव हो तो) न्यून से न्यून जल से तो अवश्य ही सत्कार करे । ” इस में भी सत्कार की जो २ वस्तुएं बतलाई गई हैं वे सब प्रायः गो वाचक हैं । गौतम सूत्र, अध्याय ९, सूत्र ३९, ३६ तथा ३७ में लिखा है “ यदि अतिथि विद्वान् न भी हो परन्तु सदाचारी हो तो उस का भी सन्मान आसन, जल और स्थान से करो, यदि ये भी न हों तो कम से कम प्रिय वाणी से तो अवश्य करो, अतिथि का मान्य अवश्य करो और कभी भी जो भोजन अतिथि को दो उस से उत्तम स्वयम् न खावो ” इन सूत्रों में भी जो सन्मान की सामग्रियां लिखी हैं वे प्रायः “ गो ” के अर्थ बोधक हैं ।

मांस भक्षण के पक्षपाती अपने पक्ष की पुष्टि के लिए आतिथ्य सत्कार के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण शतपथ ब्राह्मण से उद्धृत करते हैं:—

“अथ यस्मादातिथ्यं नाम । अतिथिर्वाऽष्ट्व एतस्या गच्छति यत्सोमः क्रीतस्तस्मा एतद्यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं पंचत्त दह मानुषं हविर्देवानामिव मस्माऽएतदातिथ्यं करोति”

उक्त मांस भक्षण के पक्षपाती कहते हैं कि इस में **महोक्ष** शब्द जो आया है उस का अर्थ है बड़ा बैल और **महाज** शब्द जो आया है उस का अर्थ है बड़ा बकरा और उक्त वाक्य से यह परिणाम निकालते हैं कि प्राचीन समय में जब किसी के घर ब्राह्मण वा राजा अतिथि बन कर आता था तो गृहपति उन के लिए बड़ा बैल वा बड़ा बकरा पकाया करता था

जो युक्तियां हम ऊपर दे चुके हैं उन से तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य्य अतिथि पूजा के लिये हिंसा कभी नहीं करते थे परन्तु शतपथ ब्राह्मण के उक्त वचन में आए हुए **महोक्ष** तथा **महाज** शब्द के यदि बड़े बैल और बड़े बकरे के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ हों ही नहीं तब तो अवश्य ही मांस भक्षण के पक्षपातियों की बातें माननी पड़ेंगी । परन्तु ऐसी अवस्था नहीं है । **महोक्ष** दो शब्दों के योग से बना है “महा” तथा “उक्ष” । “महा” (महत्) का अर्थ है उत्तम और “उक्ष” एक ओषधि का नाम है जो कि विशेष बलवर्द्धक होता है । “उक्ष” को वाचस्पत्य-वृहदभिदान में “ऋषमौषधि” लिखा है जिस का प्रमाण यह भी है “उक्षा, भद्रो, बलीवर्द, ऋषभो, वृषभो, वृषः, अनड्वान्, सौरभे योगौः । शृङ्गीतु ऋषभो वृषः (अमर) । अर्थात् “उक्ष”, शृङ्गी वा काकडासिंगी नाम ओषधि का नाम है । अब रहा “महाज” शब्द । यह भी “महा” (महत्) और “अज” इन दो शब्दों के योग से बना है । महा के अर्थ उत्तम के हैं और “अज” का अर्थ है अन्न । यथा “बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वा वैदिकी श्रुतिः, अनसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तु मर्हथ” (महाभारत शान्तिपर्व) अर्थात् अन्न के बीजों से यज्ञ किया जाय यही वैदिकी श्रुति है, अज नाम बीज का है अतः छाग (बकरे) को मारना योग्य नहीं । पञ्चतन्त्र जैसे ग्रन्थ में भी अज का प्रयोग अन्नार्थ में आया है यथा “अजैर्यष्टव्यं तत्राजात्रीहयः” । अतः शतपथ ब्राह्मण के उक्त वचन का अर्थ यह हुआ कि जब ब्राह्मण वा राजा अतिथि बनें तो उन्हें बलकारक ओषधि रूप भोजन देना चाहिए वा उत्तमोत्तम अन्न खिलाना चाहिये ।

बृहदारण्यकोपनिषत् में एक वाक्य है जिस मांस भक्षण के पक्षपाती सभी यूरोपीय विद्वान् तथा उन के भारतीय शिष्य अपने पक्ष के समर्थन के लिये दिया करते हैं । उस वाक्य को यहां उद्धृत कर तथा जो अर्थ उस का मांस भक्षण के पक्षपाती करते हैं उसे प्रकाशित कर उस का सत्यार्थ भी हम यहां प्रकट किए देने हैं । उक्त वाक्य यह है—

“अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विजिगीतः समितिं गमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादिति मा३५ सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्रीया-तामीश्वरौ जनयित वा औक्षणेन वा ऋषभेण वा” (बृहदारण्यकोपनिषत्, अध्याय ८, ब्राह्मण ४, वाक् १८)

महाशय रमेशचन्द्रदत्त उक्त वाक्य का अर्थ यह करते हैं “यदि कोई पुरुष चाहे कि उसके घर में विद्वान् पुत्र उत्पन्न हो जो प्रसिद्ध सुवक्तृता करने वाला वेदों को जानने वाला और चिरर्जीव हो तो उस को और उस की स्त्री को बैल का मांस और घी खाना चाहिये ।

हमारी समझ में यह नहीं आता कि बैल के मांस और बच्चे की सुवक्तृता से क्या सम्बन्ध है ।

निरुक्त में “मांस” के अर्थ इस प्रकार लिखे हुए हैं “मांस” माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदनीति वा (निरुक्त अध्याय ४, पाद १, खण्ड ३) अर्थात् जो मन को भाव उस मांस कहते हैं । उक्त और ऋषभ काकड़ासिंगी नाम महौषधि के नाम हैं यह हम ऊपर प्रकाशित कर ही चुके हैं । तथा सुश्रुत के निम्नलिखित प्रमाण से सिद्ध होता है कि काकोल्यादिगण * की सब औषधियां जिन में काकड़ासिंगी (कर्कटशृङ्गा) भी है गर्भवती स्त्रियों के लिए विशेष लाभकारी हैं:—

“काकोल्यादिरयं पित्त शोणितानिल नाशनः ।

र्जावनो वृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा” ॥

राजनिघण्टु पृष्ठ ४४० में लिखा है “शृंगी, अतिविषा, कर्कट शृंगी, ऋषभञ्च” अर्थात् शृंगी औषध के अन्य नाम “अतिविषा” “कर्कटशृंगी” और “ऋषभ” हैं । राजनिघण्टु में जहां “गुडूच्यादि” गण का पाठ है अर्थात् जहां गुडूची आदि औषधियों का वर्णन है वहां “ऋषभ” औषधि का भी पाठ है वहां इस औषधि के पर्यायवाची नाम निम्नलिखित दिये हुए हैं:—

ऋषभो गोपतिर्वीरो वृषाणी धूर्धरो वृषः । कुकुब्जान् पुंगवो वोढा शृङ्गी धुर्यञ्च भूपतिः ॥ १५७ ॥

* काकोल्यादि गण की औषधियां निम्नलिखित हैं:—काकोली औरकाकोली जीव कर्षभ कसुद्र पर्णी मामपीं मेदा महामेदा छिन्नहहा कर्कट शृङ्गी तुगाक्षीरी पद्मक प्रपौषडरी कर्द्वि वृद्धिमृद्धीका जीवन्त्यो मधुकञ्चेति (सुश्रुत)

अर्थात् ऋषभौषधि के अन्यान्य नाम गोपति, धरी, वृषाणि, धुर्धर, वृष, कुकु-
च्चान्, पुंगव, वोढा, शृंगी, धुर्य और भूपति भी हैं ।

इस में आए हुए “गोपति” तथा “वृष” इन शब्दों का अर्थ साधारण संस्कृत
जानने वाला (जो आयुर्वेद के शब्दों से अनभिज्ञ है) सिवाय “बैल” के अन्य
नहीं समझ सकेगा परन्तु उसी को जब बतलाया जायगा कि यहां प्रकरण गूडूच्यादि
गण की औषधियों का है अतः उस गण के भीतर आई हुई ऋषभौषधि के ही ये
नामान्तर हैं, यहां ऋषभ का अर्थ बैल नहीं हो सकता तो उसे प्रकरणवित् बनना
ही पड़ेगा ।

अतः उक्त उपनिषद् वाक्य का यह अभिप्राय हुआ कि जिस किसी पुरुष को
पण्डित, सुप्रसिद्ध, सभा में जाने योग्य, सुन्दर प्रगल्भ भाषण करने योग्य, सब वेदों का
वक्ता तथा चिरञ्जीव पुत्र की कामना हो उसे चाहिये कि वह तथा उस की पत्नी मांस
अर्थात् मनोवाञ्छित भोजन करे और उक्ष नाम महौषधि जिसे ऋषभ भी कहते हैं
उस का प्रयोग करे ।

हम समझते हैं कि यह सिद्ध हांगया कि प्राचीन आर्य्य निरामिषभोजी थे
और गोरक्षा वा गाय का न मारना उन के धर्म का एक प्रधान अङ्ग था अतः ज्ञात
होता है कि प्राचीन आर्ष-साहित्य के जिन वाक्यों के अर्थ यूरोपीय विद्वान् मांस-
भक्षण परक करते हैं उन वाक्यों के अर्थ वे नहीं समझे क्योंकि वैदिक अर्थशैली से
वे अभिज्ञ नहीं थे ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि प्राचीन आर्य्य हिंसक नहीं थे तो
गोमेध, अश्वमेध, नरमेधादि के अर्थ क्या हैं ?

इस का समाधान भी हम प्राचीन आर्ष ग्रन्थों से ही करते हैं । शतपथ ब्राह्मण
१३, १, ६, ३ में लिखा है “ राष्ट्रं वा अश्वमेधः ” । शतपथ ब्राह्मण ४, ३,
१, २९, में लिखा है “अन्नं हि गौः ” । उसी शतपथ में लिखा है “ अग्निर्वा
अश्वः, ” “ आज्यं मेधः ” । जिन वचनों का अभिप्राय यह है कि न्यायपूर्वक राज्य
करना अश्वमेध है, धी तथा सुगन्धित वस्तुओं का अग्नि में होम करना अश्वमेध
है, विद्यादि का दान देना अश्वमेध है । अन्न, इन्द्रियां पृथिवी आदि को पवित्र
रत्नों, सूर्य के किरणों से उपयोग लेना गोमेध है । जब मनुष्य मर जाय तब उस
के शरीर का विधि पूर्वक दाह करना ही नरमेध है । अतः जहां कहीं सचमुच

गवादि पशु वा मनुष्य मार कर होम करने की बात लिखी हो उन सब को वैदिक साहित्य विरुद्ध वा प्रक्षिप्त समझना चाहिए ।

जलप्लावन ।

सृष्टि और प्रलय क अनक प्रकार के वृत्तान्त ब्राह्मण ग्रन्था तथा अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थों में पाए जाते हैं । कहीं खण्डप्रलय और कहीं २ महाप्रलय विषयक लेख आते हैं । कार्य जगत् का कारण जगत् में लीन हो जाने को ऋषिगण महा-प्रलय कहते तथा कभी २ भू-भाग पर एका एक समुद्र के चढ़ आने से वा घोर अतिवृष्टि के कारण भू-भाग के अनेक देशों और क्रोड़ों मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के अकस्मात् नष्ट हो जाने को अथवा भूगर्भकी अग्नि वा किसी अन्य अग्नि के प्रकोप से अनेक देशों और क्रोड़ों मनुष्यों तथा इतर प्राणियों के अकस्मात् नष्ट हो जाने को खण्डप्रलय कहते हैं । अथवा स्थल-भाग मात्र का नष्ट हो जाना वा जल स्थल दोनों का नष्ट हो जाना केवल अग्नि का शेष रहना इत्यादि भी अनेक प्रकार के खण्डप्रलय आर्षग्रन्थों में बतलाए गए हैं ।

प्रलय सम्बन्धी वार्त्ताएं केवल आर्यों के प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थों में ही वर्तमान हैं ऐसा नहीं है प्रत्युत इस विषय की कतिपय बातें पुराने कैल्डिया निवासी, तथा पुराने यहूदियों के ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं ।

जब तक आर्यों के प्राचीन ग्रन्थों का पता यूरोप निवासियों को नहीं लगा था तब तक वे कहते थे कि भारतवासियों के अग्निपुराण, श्रीमद्भागवत, मत्स्य-पुराण तथा महाभारत में जो जल-प्रलय की बातें लिखी हुई हैं वे ईसाइयों के बाइबल (जेनिसेस ८ तथा ९) से आई हैं अथवा कैल्डिया वासियों के ग्रन्थों से आई हैं, परन्तु जब यूरोपीय संस्कृत विद्वानों ने शतपथ ब्राह्मण को अवलोकन किया तो उन में से बहुतों की उक्त सम्मति बदल गई ।

शतपथ ब्राह्मण काण्ड १, अध्याय ८, ब्राह्मण १ में लिखा है:—

मनवे हवै प्रातः अवनेगयमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनाया हरन्त्येवं तस्या-वनेनिजानस्य मत्स्यः पाणीआपदे ॥१॥ सहास्मै वाचमुवाद विभ्रहिमा पारयिष्यामि त्वेति

कस्मान् मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजौ निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति ॥ २ ॥ सहोवाच यावद्वैशुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवत्युत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माघ्रे विभरासि स यदा तामति वर्धा अथ कर्षुं खात्वा तस्यां मा विभ रासि स यदा तामतिवर्धाऽअथ मा समुद्रमभ्यवहारसि तर्हि वाऽअतिनाष्ट्रो भवितास्मीति ॥ ३ ॥ शशद्भ झष आस सहि ज्येष्ठं वर्धतेऽयेति स मां तदौघ आगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै स औघऽउत्थिते नावमापद्यासैर्थाथं त- तस्त्वा पारयितास्मीति ॥ ४ ॥ तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार सयतिथीं तत्समां परि- दिदेशततिथिथं समां नावमुपकल्प्योपासांचक्रे स औघऽउत्थिते नावमोपदे तथं समत्स्य उपन्या पुप्लुवं तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रति मुमोच ते नै तमुत्तरं गिरिमातृदुद्राव ॥५ ॥ सहोवाच अपीपरं वै त्वा वृक्षेनावं प्रतिबर्ध्नीष्व तुत्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्चै- तंसीद्यावदुदकथं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति सहावत्तावदेवान्ववससर्प तदप्ये तदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाथेह मनुंरवैकः परि- शीशिषे ॥ ६ ॥ सांऽर्चं छाम्यंश्चचार प्रजाकामः ।

अध्यापक मैक्समूलर सम्पादित शतपथ ब्राह्मण की अंगरेजी टीका में उक्त वाक्यों का अर्थ निम्नलिखित प्रकार अङ्कित है:—

1. In the morning they brought to Manu water for washing, just as now also they (are wont to) bring (water) for washing the hands. When he was washing himself, a fish came into his hands?

2. It spake to him the word, 'Rear me, I will save thee!' 'Wherefrom wilt thou save me?' 'A flood will carry away all these creatures: from that I will save thee!' How am I to rear thee?'

3. It said, 'As long as we are small, there is great destruction for us.: fish devours fish. Thou wilt first keep me in a jar. When I outgrow that, thou wilt dig a pit and keep me in it. When I outgrow that, thou wilt take me down to the sea, for then I shall be beyond destruction.

4. It soon became a ghasha (a large fish); for that grows largest (of all fish.). Thereupon it said, 'In such and such a year that flood will come. Thou shalt then attend to me (i. e. to my advice) by preparing a ship; and when

the flood has risen thou shalt enter into the ship, and I will save thee from it.

5. After he had reared it in this way, he took it down to the sea. And in the same year which the fish had indicated to him, he attended to (the advice of the fish) by preparing a ship; and when the flood had risen, he entered into the ship. The fish then swam up to him, and to its horn he tied the rope of the ship, and by that means he passed swiftly up to yonder northern mountain.

6. It then said, 'I have saved thee. Fasten the ship to a tree; but let not the water cut thee off, whilst thou art on the mountain. As the water subsides, thou mayest gradually descend!' Accordingly he gradually descended, and hence that (slope) of the northern mountain is called 'Manu's descent.' The flood then swept away all these creatures, and Manu alone remained here.

7. Being desirous of offspring, he engaged in worshipping and austerities.....

१. जिस प्रकार आज कल भी लोग हाथ धोने के लिये जल लाते हैं (उसी प्रकार) लोग प्रातःकाल (हाथ) धोने के लिए मनु के निकट जल लाए । जब कि वह (मनु) (अवनेजन कर रहे थे) अपने को धो रहे थे एक मछली उन के हाथों में आ गई ।

२. यह (मछली) उन से (मनु से) यह शब्द बोली " मुझे" सम्बर्धित करो मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी ! " " किस से तू मेरी रक्षा करेगी ? " " एक जलप्लावन (सैलाब) इन सब जीवों को बहा ले जायगा, उस से मैं तेरी रक्षा करूंगी ! " " किस प्रकार मैं तुझे सम्बर्धित करूं ? "

३. इस ने कहा "जब तक हम लोग छोटी रहती हैं, हम लोगों का बड़ा नाश हुआ करता है, मछली मछली को निगल जाती है । तू मुझे पहले एक बड़े पात्र में रख । जब मैं उस से बढ़ जाऊं तब तू एक गढ़ा खोद और उस में मुझे रख । जब मैं उस गढ़े से भी बढ़ जाऊं तब तू मुझे समुद्र में (रखने को) ले जाना

क्योंकि तब तक मैं नाश (की सीमा) से बाहर हो जाऊंगी (नष्ट होने के अयोग्य बन जाऊंगी)

४. यह तुरत ही झप (एक बड़ी मछली) बन गई, क्योंकि यह सब मछलियों से बड़ी हुआ करती है । तब उस ने कहा “अमुक वषे में वह जलप्लावन (सैलाब) आएगा तब तू एक बड़ी नौका बना कर मेरी ओर ध्यान देना अर्थात् मेरी शिक्षा की ओर, और जब वह सैलाब उमड़ने लगे तू उस बड़ी नौका में चढ़ जाना और मैं उस (सैलाब) से तुझे बचा दूंगी ” ।

५. इस प्रकार जब वह [मनु] इसे [उस मछली को] सम्बन्धित कर चुके [तो] उसे वह समुद्र में छोड़ आए, और उस वर्ष जिस वर्ष का सूचना मछली ने उन्हें दी थी वह उस मछली के परामर्श की ओर, एक बड़ी नौका बना कर ध्यान देने लगे, और जब कि सैलाब उमड़ा वह उस बड़ी नौका पर चढ़ गए । तब वह मछली तैरती हुई उन के निकट पहुँची और नौका की रस्सी को उन्होंने ने उस मछली की सींघ में बांध दिया और इस उद्योग से वह बड़ी शीघ्रता से सन्मुख के उत्तरीय पर्वत पर पहुँच गए ।

६. इस ने [मछली ने] तब कहा “ मैंने तेरी रक्षा कर दी है, नौका को एक वृक्ष के साथ बांध, परन्तु ऐसा न हो कि जब कि तू इस पर्वत पर निवास करे जल तुझे बहा ले जाय । ज्यों २ जल घटे त्यों २ तू धीरे २ उतरना ।” तदनुसार वह [मनु] धीरे २ उतरे और इसी कारण उस उत्तरीय पर्वत के उस भाग को “ मनोरवसर्पणम् ” (मनु का उतार) कहते हैं । तब वह सैलाब इन सब प्राणियों को बहा ले गया और केवल मनु यहां रह गए ।

७. प्रजा की कामना से [मनु] अर्चा और तपश्चर्या में संलग्न हुए.....

यद्यपि यूरोपीय वह संस्कृत विद्वान् जो आर्यों के प्राचीन ग्रन्थों को कुछ गौरव की दृष्टि से देखते हैं, शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाकों को पढ़ कर आश्चर्यान्वित हो रहे हैं परन्तु हमारा विश्वास है कि उक्त वाकों के अर्थ यूरोपीय विद्वान् अभी तक समझ नहीं सके । उक्त वाकों के अर्थ हम भी अभी तक ठीक २ नहीं समझ सके परन्तु अनुमान है कि इन वाकों के अवश्य ही कोई गूढ़ अर्थ हैं क्यों कि इसी प्रकरण में “ मनु ” से उत्पन्न हुई ईडा के अर्थ लिखे हैं (१) सप्तहोत्र यज्ञ अर्थात् वह यज्ञ जिस में सात होता हों (२) प्राण (३) धावापृथिवी आदि आदि ।

अनुमान है कि वैदिक-साहित्य में वर्णित सूर्य और मेघ के प्राकृतिक रूपक न समझने के कारण जिस प्रकार पुराणों में वृत्रहासुरादि की कथाएं अङ्कित हो गई हैं उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के उक्त वाकों को न समझ लोगों ने इन से जलप्लावन की कथा प्रचलित करली है ।

जलप्लावन और महाभारत ।

महाभारत क्या है और कितना है इस का वर्णन तो महाभारत के प्रकरण में होगा यहां जलप्लावन सम्बन्धी उस कथा को हम संक्षेपतः लिखते हैं जो वर्तमान महाभारत में पाई जाती है:—

“ विवस्वत के पुत्र मनु नाम एक महर्षि थे……चीरिणी नदी के किनारे [जब कि वह तपस्या कर रहे थे] एक मीन [मछली] उन के निकट आया और बोला “ प्रभो ! मैं एक छोटा मीन हूँ मुझे बलवान् मछलियों से डर लगता है उन से कृपया मेरी रक्षा कीजिए, बलवान् मछलियां निर्बल मछलियों को निगल जाती हैं, अनन्त काल से हम लोगों के जीवन धारण का यही नियम है, इस भय की बाढ़ से मेरी रक्षा कीजिए, मैं भी आप के उपकार का प्रत्युपकार करूंगा ” । यह सुन कर मनु का हृदय दया से भर गया और उन्होंने ने उस मीन को एक स्वच्छ बर्तन में रख दिया । इस पात्र में भली भांति पोषित होने के कारण मीन बड़ा हुआ और क्रमशः इतना बढ़ गया कि वह उस पात्र में अटने न लगा । तब मनु को देख कर मीन फिर बोला “ ताकि मैं भली भांति बढ़ सकूँ मुझे दूसरी जगह ले चलिए” । तब मनु ने उसे मीन को पात्र से निकाल कर एक बड़े जलाशय में फेंक दिया। यहां कई वर्षों तक वह मीन बढ़ता रहा । यद्यपि यह जलाशय दो योजन लम्बा तथा एक योजन चौड़ा था परन्तु यह मीन इतना बड़ा हो गया कि उस के फिरने के लिए उस जलाशय में स्थान न रहा तब उस ने फिर मनु से कहा “मुझे गङ्गा में ले चलिए उस में ही मैं रहूंगा” । तब मनु उसे गङ्गा में ले गए और कुछ दिन मीन ने वह व्यतीत किया । फिर मीन मनु से बोला “दीर्घकाय हो जाने के कारण अब मैं गङ्गा में नहीं घूम सकूँ कृपा कर अब मुझे समुद्र में पहुंचाये” । मनु ने उसे गङ्गा से निकाल समुद्र में पहुंचा दिया जब मीन समुद्र में पड़ गया तब मनु से बोला “ महा प्रभो ! तू ने हर प्रकार मेरी रक्षा की है, अब मुझ से सुन कि जब समय आएगा तो तुझे क्या करना चाहिए, थोड़े ही दिनों में यह सब पार्थिव पदार्थ चर

और अचर नष्ट हो जायेंगे, संसार की शुद्धि का समय अब आन पहुंचा है । अतः मैं तुझे बताता हूँ जो कि तेरी भलाई के लिए है.....अपने लिए एक दूढ़ नौका बना और उस में एक रस्सा लगा दे, इस में सप्तर्षियों के साथ चढ़ जा और इस में उन सब बीजों को जिन का वर्णन प्राचीन काल में ब्राह्मणों के द्वारा हो चुका है यत्र पूर्वक सन्चय कर । जब नौका पर चढ़ लो तो मेरी ओर ध्यान लगावो, मैं पहुंचूंगा और मुझ में सींध होने के कारण तुम पहचान लोगे । बस इस प्रकार करना मैं तुझे नमस्कार करता हूँ और विदा होता हूँ । इन महानलों को मेरी सहायता के बिना कोई लांघ नहीं सकता, मेरे वचनों का अविश्वास न करो ” मनु ने कहा “ मैं वैसा ही करूंगा जैसा कि तुम ने बतलाया है ” । एक दूसरे से विदा होकर प्रत्येक ने अपना २ रास्ता लिया । तब परामर्शानुसार मनु बीजों को अपने साथ लेकर नौका पर आरूढ़ हुए और नौका तरङ्गमय सागर पर बहने लगी तब उन्होंने उस मीन का ध्यान किया जिस ने मनु की इच्छा जान ली और बड़ी शीघ्रता से मनु के निकट अपने शृंग से अपना परिचय देता हुआ पहुंचा । जब मनु ने उस शृंगी मीन के पर्वत की तरह जल पर तैरते हुए देखा तो उन्होंने ने अपनी नौका के रस्से को उस मीन के शृंग में बांध दिया । नौका के इस प्रकार बांध जाने पर वह मीन उस नौका को ऊर्मिमय सागर के गर्जते हुए लहरों तथा नाचने हुए तरङ्गों को चीरता हुआ बड़े वेग से ले चला । उस समय न तो भूभाग और न संसार की दिशाएं दिखाई देती थीं, सिवाय आकाश, पवन और जल के अन्य कुछ भी नहीं था । ऐसे भयङ्कर जगत् में सप्तर्षि, मनु और वह मीन दिखाई देते थे । इस प्रकार वह मीन अनेक वर्षों तक जल पर उस नौका को चलाता रहा और अन्त में उसे हिमवान् पर्वत के सब से उच्च शिखर के समीप पहुंचा दिया । तब वह मीन मुसकराते हुए ऋषियों से बोला “ नौका को अब शीघ्रता से इस चोटी में बांध दो । ” उन्होंने वैसा ही किया । और हिमवान् की वह सब से ऊंची चोटी अभी तक ‘ नौका-बन्धन ’ के नाम से विख्यात है । तब उस मीन ने उन ऋषियों से कहा “ मैं ब्रह्म प्रजापति हूँ जिस से बड़ कर प्राप्तव्य कोई अन्य नहीं है । मीन का रूप धारण कर मैंने इस महदापत्ति से तुम्हारी रक्षा की है । मनु सब प्राणियों को, देव, असुर, मनुष्य, जगत् और सब चराचर वस्तुओं को उत्पन्न करेंगे । मेरी कृपा तथा अपने उग्र तपोबल से अपने सृष्टि कर्तृत्वकर्म में पूरी अन्त-दृष्टि प्राप्त-कर लेंगे और मोह को प्राप्त न होंगे ” इस प्रकार कथन कर मीन

क्षण मात्र में लुप्त हो गया । प्राणियों को उत्पन्न करने की इच्छा से मनु ने उग्र तपस्या की और तब प्रकट रूप से सब प्राणियों को उत्पन्न करने लगे.....

जलप्लावन और मत्स्यपुराण ।

मत्स्यपुराण में लिखा है कि सूर्य के पुत्र मनु एक प्रतापवान् महाराज थे । वह अपने पुत्र को राज सौंप तपस्या करने चले गए । एक समय जब कि मनु अपने आश्रम में पितृतर्पण कर रहे थे उन के हाथ में जल के साथ एक मत्स्य आ गया । वह मत्स्य बोला हे मनु मेरी रक्षा करो । मनु ने पहिले उसे एक छोटे बर्तन में फिर एक बड़े गढ़े में, फिर कूएँ में, फिर एक झील में, फिर गङ्गा में रक्खा और फिर जब कि वह मीन बहुत बड़ा हो गया तो उसे ले जाकर समुद्र में फेंका । परन्तु जब कि मनु ने देखा कि मछली ने तो अपना आयतन बढ़ा सारे समुद्र को घेर लिया तो वह डरे और उस मत्स्य की इस प्रकार स्तुति करने लगे “ तू कोई देवता है वा वासुदेव है ? कैसे सम्भव है कि कोई अन्य इस प्रकार का बन सके ? हे विश्वपति ! तुझे नमस्कार है । ” स्तुति सुन मत्स्यरूप जनार्दन बोले “ तुम ने मेरी अच्छी स्तुति की और मुझे पाहेचाना, थोड़े ही समय में भूतल अपने पर्वत, कुञ्ज और बनों सहित सागर में डूब जायगा, यह नौका सब देवताओं के पुरुषार्थ से तय्यार हुई है ताकि प्राणियों के वृहत् समूह की रक्षा होवे, सब प्राणियों को चाहे वे पिण्डज हों वा अण्डज वा स्वेदज वा उद्भिज उन्हें इस नौका पर चढ़ा कर आपत्ति से बचाना, युग की समाप्ति पर जब भयङ्कर पवन के प्रकोप से यह नौका बहने लगे तब इसे तुम मेरी सीध के साथ बांध देना, जब प्रलय समाप्त हो जायगा तब तुम चर और अचर जगत् के प्रजापति बनाए जावोगे” मत्स्यरूप वासुदेव अर्थात् विष्णु ने जिस समय की सूचना दी थी जब वह आन पहुँचा तो प्रलयारम्भ हो गया, और वासुदेव शृंगी मत्स्य के रूप में प्रकट हुए और अनन्त नाम सर्प रस्सों की तरह मनु के निकट पहुँचे.....मनु ने उस अनन्त सर्परूप रस्से से उस नौका को मत्स्य के शृंग में बांधदिया ।

जलप्लावन और श्रीमद्भागवत ।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि सत्यव्रत नाम एक राजर्षि थे, एक समय जब कि वह कृतमाला नदी के तट पर पितृ-तर्पण कर रहे थे, उन की अञ्जलि में जल

के साथ एक मीन आ गया । उस ने सत्यव्रत से प्रार्थना की कि मेरी रक्षा करो । तदनुसार सत्यव्रत उस की पालना करने लगे । जब वह मत्स्य दीर्घकाय हो गया तो सत्यव्रत ने उसे पहचाना कि यह तो साक्षात् विष्णु हैं । तब सत्यव्रत ने मत्स्यरूप विष्णु से पूछा कि भगवन् ! आप ने यह रूप क्यों धारण किया ? तब मत्स्य ने उत्तर दिया “आज से सातवें दिन तीनों लोक प्रलय के महासागर में डूब जायेंगे, जब प्रलयारम्भ होगा तो मेरी भेजी हुई एक बड़ी नौका तेरे निकट पहुंचेगी, अपने साथ वनस्पतियों और भिन्न भिन्न प्रकार के बीजों को लेकर तथा सप्तर्षियों और अन्य सब को साथ लेकर उस बड़ी नौका पर चढ़ जाना और निर्भय होकर अन्धकारावृत महासागर पर नौका को डोलने देना, जब भयङ्कर पवन के प्रकोप से नौका डगमगाने लगे तब इसे अनन्त सर्परूप रस्से से मेरी सींघमें बांध देना क्यों कि मैं उस समय तेरे निकट पहुंच जाऊंगा” । मत्स्य ने जैसा कुछ कहा था वैसा ही हुआ और जब प्रलय समाप्त हो गया तब मत्स्यरूप विष्णु ने ह्यग्रीव नाम राक्षस को मार उस से ‘वेदों’ को छीन लिया और राजर्षि सत्यव्रत विष्णु की कृपा से वर्तमान युग के मनु बने ।

जलप्लावन और अग्नि-पुराण ।

अग्नि-पुराण में भी जलप्लावन की कथा है परन्तु अति संक्षिप्त है । श्रीमद्भागवत की जलप्लावन की कथा तथा अग्नि-पुराण की जलप्लावन की कथा इतनी अधिक मिलती जुलती हैं कि उसे फिर यहां लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

जलप्लावन और बाइबिल ।

बाइबिल के जेनेसिस ७ से ९ तक में लिखा है कि:—“.....और ईश्वर ने पृथिवी की ओर दृष्टि की और देखा कि यह पापमय है.....और ईश्वर ने नोआ (नूह) से कहा.....मैं पृथिवी पर जलप्लावन (सैलाब) लाता हूं.....और जो कुछ पृथिवी पर है वह सब मर जायगा.....तू आर्क अर्थात् नौका पर चढ़ना तू अपने साथ अपने लड़कों अपनी स्त्री और अपने लड़कों की स्त्री को [भी चढ़ाना] और उस नौका पर प्रत्येक प्रकार के जीवधारी में से उन्हें जीवित रखने के लिए (लाना).....अभी तक सात दिन शेष हैं तदनन्तर मैं पृथिवी पर वृष्टि लाऊंगा.....और प्रत्येक जीवित वस्तु को जिसे हम ने बनाया है नष्ट

करदूंगा.....और सात दिनों के पश्चात् ऐसा हुआ कि बाढ़ (सैलाब) का जल पृथिवी पर चढ़ आया.....(सैलाब की समाप्ति पर) ईश्वर ने नोआ और उस के पुत्रों को आशीर्वाद दिया और उन से कहा कि फलो और बढ़ो और पृथिवी को फिर से भली भांति बसाओ ।

जलप्लावन और प्राचीन काल्डिया वालों के डैल्यूज टैबलेट ।

काल्डिया वालों के डैल्यूज टैबलेट में लिखा है.....“ ईया ” नाम ईश्वर ने अमने मुझ दास से कहा “ मनुष्यों ने मेरे विरुद्ध विद्रोह मचा रक्खा है और मैं उन के विरुद्ध निष्पत्ति दूंगा.....आकाश से प्रलय की वृष्टि होगी.....नियत समय अब आन पहुंचा है.....मैं साथ लाया प्रत्येक प्रकार के जीवन के बीज को अं-पने परिवार, अपने चाकर तथा चाकरनियों तथा अपने अति निकटवर्ती मित्रों को और नौका में चढ़ गया ”

जलप्लावन और यूनानी—यूनानियों के पुराने ग्रन्थों में लिखा है कि प्रोमिथियस का पुत्र डिउकेलियन जब कि थेसेलीकेफ़थिया राज्य पर शासन कर रहा था उस समय जूपिटर देव के कोप से यूनान में जलप्लावन आया डिउकेलियन (प-हले से शिक्षा पाये रहने के कारण) अपनी धर्मपत्नी पाइरा के साथ एक बड़ी नौका में सवार हो गया । ९ दिनों तक जल की बाढ़ उमड़ती ही रह गई जिस में यूनान के सब प्राणी नष्ट हो गए । अन्त को डिउकेलियन की नौका पंगार्सस पर्वत पर जा लगी । इस जलप्लावन से केवल ये ही दो नरनारी बचे (देखिये केसल्स कानसाइज़ साइक्लोपीडिया पृष्ठ ३९९) क्या इन कथाओं को जगत के भिन्न २ पुस्तकों में पढ़ कर कोई शङ्का कर सकता है कि जगत की मनुष्य जातियां प्राचीन-काल में भी एक दूसरे के साथ सम्बन्धित न थीं ? परन्तु वह सम्बन्ध कैसा था यह जगदितीहास लिखने वाले का काम है कि दर्शाए अतः उस विषय की चर्चा हम यहीं छोड़ते हैं ।

प्राचीन काल में शुद्धि

ताण्ड्य महाब्राह्मण के सत्तरहवें अध्याय में “ त्रात्योः ” का वर्णन है । वहां लिखा है:—

“हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं वा वाणिज्यां षोडशो वा एतत् स्तोमं समा-
मुमर्हति”

जो पुरुष व्रात्य हैं वे हीनता को प्राप्त हैं । क्योंकि न तो वे ब्रह्मचर्य-व्रत की पालना करते न कृषि और वाणिज्य करते हैं उन के सुधार के लिए सोलह स्तोमों की आवश्यकता है ।

“गरगिरो वा एते ये ब्रह्माद्यञ्जन्यमन्नमदन्त्य दुरुक्तवाक्यं
दुरुक्तमाहुरदण्ड्यं दण्डेन घनन्तश्चरन्त्यदीक्षिता दीक्षितवाचं
वदन्ति षोडशो वा एतेषा ऽ स्तोमः पाप्मानन्निर्हन्तुमर्हति ”

गरल (विष) के खाने वाले, ब्राह्मणों के अन्न को जो बलात् खा जाते हैं, शोभायुक्त वाक्यों के स्थान में जो दुष्टवाक्यों का प्रयोग करते हैं जो अदण्ड्य अर्थात् निरपराध पुरुष हैं उन को जो दण्ड से (डाकू की तरह) पीटते फिरते हैं जो स्वयं हैं तो अदीक्षित परन्तु अपने को दीक्षित बताते हैं (ऐसे बहुरूपिया विपरीत आचरण वाले व्रात्य) यदि शुद्ध होना चाहें तो षोडश स्तोम का सेवन करें वह उन के दोषों को दूर कर सकता है ।

ताण्ड्य ब्राह्मण के उक्त सत्तरहवें अध्याय में ही आगे चल कर उस विधि का वर्णन है जो शुद्ध होने वाले व्रात्यों को धारण करनी पड़ती थी । अतः सिद्ध होता है कि प्राचीन समय के आर्य उन २ पुरुषों को भी सुधारने की पूरी चेष्टा करते थे जो आर्यविगर्हित-पथ अवलम्बन कर भ्रष्ट हो जाया करते थे ।

द्वितीयोभागः सम्पूर्णः ॥



❁ तृतीय भाग ❁

मनुस्मृति के समय का इतिहास

प्रथम परिच्छेद

मनुस्मृति का निर्माण

मनुस्मृति कब बनी—यवन, काम्बोज और शक—मनुस्मृति के श्लोक महाभारत में—मनुस्मृति के श्लोक बालमीकिरामायण में—मनुस्मृति के परस्पर विरुद्ध श्लोक—असल श्लोकों की जाच की कसौटी—पुराकार्लान ऐतिहासिक घटनाओं के निरूपण में भ्रम का कारण—ब्रह्मा, विराट्, मनु, मरीचि, भृगु, स्वायम्भुवमनु—मनुस्मृति की उत्पत्तिविषयक दो अनुमान और हमारी अन्तिम सम्मति—प्रायः तीन सौ श्लोक मनुस्मृति से निकल गए हैं और प्रायः ४०० श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

श्लोकबद्ध मनुस्मृति जिस में आज कल प्रायः २६८४ श्लोक* मिलते हैं हमें किन् २ ऐतिहासिक बातों की शोक्षा देती है इस विषय पर विचार करने के पूर्व आवश्यक है कि हम यह निर्णय करलें कि यह मनुस्मृति कब बनी ।

श्लोकबद्ध मनुस्मृति कब बनी—यूरोपीय ऐतिहासिक आनरेबल एल्-फिंस्टन साहब अपने ग्रन्थ हिस्ट्री आफ इंडिया (पञ्चमावृत्ति) के पृष्ठ ११-१२ में लिखते हैं:—

“The first complete picture of the state of society is afforded by the code of laws which bears the name of Manu and which was probably drawn up in the 9th century before Christ”.

अर्थात् सामाजिक दशा का प्रथम पूर्णचित्र उस धर्मशास्त्र से ज्ञात होता है

* देखिए सन् १८८७ ई० की मुम्बई “निर्णयसागर” प्रेस की छपी हुई मनुस्मृति जिस पर कुल्लुकभट्ट की टीका है ।

जिस पर मनु का नाम है और जो कदाचित् ईसा के जन्म से पूर्व नवीं शताब्दी में निर्मित हुआ था (अर्थात् अब से प्रायः २८०० अष्टादस सौ वर्ष पूर्व) ।

इसी विषय में ऐतिहासिक डाक्टर हटर साहब अपने ग्रन्थ “दि इण्डियन एम्पायर” (द्वितीयावृत्ति) के फ़र्स्ट्वाल्यूम (प्रथम खण्ड) के पृष्ठ ११३ में लिखते हैं:—

“ It is a compilation of the customary law current probably about the 5th century B. C.....the present code must have been compiled between 100 and 500 A. D ”

अर्थात् व्यावहारिक नियमों का यह (मनुस्मृति) एक संग्रह है जो (नियम) कि ईसा के जन्म से पूर्व प्रायः पांचवीं शताब्दी में प्रचरित थे.....परन्तु वर्तमान (श्लोकबद्ध) धर्मशास्त्र तो १०० एक सौ से ५०० पांच सौ ईसवी के बीच ही संगृहीत हुआ होगा ।

इसी विषय में सरडबल्लिउजॉस साहब, हफ़्टेस इंस्टिट्यूट्स आफ़ हिन्दूला की भूमिका पृष्ठ १० में लिखते हैं:—

“The laws of Manu very probably were considerably older than those of Solon or even of Lycurgus, although the promulgation of them, before they were reduced to writing, might have been coeval with the first monarchies established in Egypt and India.”

अर्थात् मनु के रामनियम, अधिक सम्भव है कि सोलन अथवा लाइकरगस * के राजनियमों से भी बहुत पुराने हों, यद्यपि लेखबद्ध होने के पूर्व मनु के राजनियम (उक्त काल से भी अधिक प्राचीन समय से अर्थात्) उस समय से भी प्रचरित हों जब कि मिश्र † तथा भारत में प्रथम २ राज्य स्थापित हुए थे ।

* सोलन और लाइकरगस यूनान के दो राज व्यवस्थापक थे जिन में से सोलन ईसा के जन्म से प्रायः ६०० बः सौ वर्ष पूर्व विद्यमान था और लाइकरगस ईसा के जन्म से प्रायः ८०० नौ सौ वर्ष पूर्व था ।

† ‘शियाजोनी आफ़ दि हिन्दूज़’ नाम ग्रन्थ के पृष्ठ ४५ में लिखा है कि:—“The oldest king found on the Egyptian tables of Matho (viz the head of the Tinite Thebaine

इसी विषय में प्रोफेसर जीबुहलर साहब अपनी पुस्तक लाज़्आफ़मनु की भूमिका पृष्ठ ११४ तथा ११७ में लिखते हैं:—

“As the Yavanas are named together with the Kambojas of Kabulis exactly in the same manner as in the edicts of Asoka, it is highly probable that Greek subjects of Alexander's successors, and especially the Bactrain Greeks are meant.....I think it so far to rely more on the mention of the Yavanas, Kambojas, and Sakas and to fix the remoter limit of the work about the beginning of the 2nd century A. D. or somewhat earlier. This estimate of the age of the Bhrigu Samhita, according to which it certainly existed in the 2nd century A. D. and seems to have been composed between that date and the 2nd century. B. C., agrees very closely with the views of Professor Cowell and Mr. Talboys Wheeler.”

अर्थात् क्योंकि यवनों का नाम काम्बोज * वा काबुलियों के साथ ठीक ठीक उसी प्रकार आया है जिस प्रकार कि (ये नाम) अशोक के शिलालेख में आए हैं अतः अधिक सम्भव है कि इस से (यवन शब्द से) अलक्षेन्द्र के उत्तराधिकारियों की ग्रीक प्रजा और विशेषकर बैक्ट्रियन ग्रीक लक्षित हों...में समझता हूँ कि यह अधिकतर (रक्षित) ठीक होगा कि यवन, काम्बोज और शक (शब्दों) के वर्णन पर अधिकतर निर्भर किया जाय और इस ग्रन्थ का पिछला समय प्रायः द्वितीय ईसवी शताब्दी का आरम्भ अथवा कुछ पूर्व निश्चित किया जाय। भृगुसंहिता (श्लोकबद्ध मनुस्मृति) के समय की यह (आनुमानिक) गणना (जिस के अनुसार

dynasty) who reigned 5867 years B. C. and 2000 year before Saufi the founder of the Gizeh Pyramid” अर्थात् मेंथो की मिथियों की सूची से ज्ञात होता है कि उन का सब से प्राचीन राजा अर्थात् तिनित थी वेन वंश का चादि पुरुष ईसा के जन्म से ५८६७ वर्ष पूर्व राज करता था अर्थात् “गिज़ेह” की समाधि के संस्थापक ‘सौफी’ के समय से २००० दो सहस्र वर्ष पूर्व।

* नोट:—प्रोफेसर जुहलर साहब का यह कथन कि काम्बोज काबुलियों को कहते थे किसी प्रमाण से पोषित दीख नहीं पड़ता। मिस्टर जे एफ़ ह्यूइट साहब के “उत्तरीयभारत के प्राचीन इतिहास” विषयक लेख जो रायल एशियाटिक सोसायटी के १८८८ तथा १८८९ के जर्नल में छपे हैं और जिन्हें बड़ी प्रशंसा के साथ ऐतिहासिक मिस्टर रागोज़िन ने अपनी

द्वितीय ईसवी शताब्दी में यह अवश्य ही विद्यमान थी और जिस के अनुसार यह उक्त समय तथा ईसा के जन्म से पूर्व द्वितीय शताब्दी के बीच निर्मित हुई ज्ञात होती है) प्रोफेसर काउएल तथा मिस्टर टालबोयाज़ह्वीलर के मन्तव्यों के साथ बहुत अधिक मिलती है ।

श्लोकबद्ध मनुस्मृति के निर्माणकाल के विषय में हमने जो उक्त चार योरोपीय ऐतिहासिकों की सम्मति उद्धृत की है उस से ज्ञात होगा कि य एक दूसरे का खण्डन कर रहे हैं । जब कि डाक्टर हंटर इसे १०० तथा ५०० ईसवी के बीच बनी हुई बतलाते हैं, सरडबलिउनों साहब इसे ईसा के जन्म से कम से कम ९०० नौ सौ वर्ष पूर्व का बना हुआ मानते हैं और इस के नियमों का प्रचार ईसा के जन्म से प्रायः ५८६७ वर्ष पूर्व भी मानते हैं ।

आनरेब्लएलफिस्टन साहब ने मनुस्मृति के निर्माणकाल का जो अनुमान प्रस्तुत किया है उस के लिये उन्होंने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया । ज्ञात होता है कि उन्होंने ने वेदों का संग्रहकाल जो ईसाके जन्मसे प्रायः १४०० वर्ष पूर्व माना है इसी कारण उन्हें मनुस्मृति का काल उक्त १४०० वर्ष के पीछे मानना पड़ा है । क्योंकि उक्त कालों का अनुमान उक्त ऐतिहासिक ने किसी पुष्ट प्रमाण पर निर्भर नहीं दिख लाया इस कारण उन की सम्मति उन की निज सम्मतिमात्र समझी जायगी । वह अन्यो के लिए भी ऐतिहासिक घटना की तरह माननीय नहीं हो सकती ।

डाक्टर हंटर साहब ने मनुस्मृति के निर्माण का काल जो १०० एक सौ तथा ५००, पांच सौ ईसवी के बीच बतलाया है उन्होंने भी अपने कथनों की पुष्टि में सिवाय इस के और कुछ नहीं लिखा कि इस विषय में अमुक योरोपीय विद्वान की यह सम्मति है और अमुक विद्वान की यह, और जिन २ विद्वानों का सम्मति आप

पुस्तकपैदिक इण्डिया पुष्ट २८८ में उद्धृत किया है उन से तो पता लगता है कि 'काम्बोज' ब्रह्म-पुत्र तथा बेरावती नदियों के किनारे आसाम देश के निकट रहते थे, यथा:—Their (Kolarian's) languages are allied to those used on the Brahmaputra and the Irrawady by the Kambojans and the Assamese " अर्थात् कोलेरियों की भाषा उस भाषा से मिलती है जिसे ब्रह्मपुत्र तथा बेरावती के किनारे बसने वाले काम्बोज और आसामी बोलते हैं (ध्यान रहे कि यूरोपीय ऐतिहासिक कोलेरियों को भारत में आर्यों से भी पूर्व आया हुआ मानते हैं, परन्तु जहां तक हमें ज्ञात है उन के इस कथन की पुष्टि आर्यवर्ष के किसी भी प्राचीन ग्रन्थसे नहीं होती) ।

ने लिखी है वे भी मनुस्मृति को भिन्न २ समयों में बना हुआ बतलाते हैं अतः डाक्टर हंटर साहब का भी मनुस्मृति के निर्माणकालविषय का लेख मान्य दृष्टि से नहीं देखा जा सकता ।

हां, सरडबल्लिउ जॉस साहब मनुस्मृति की प्राचीनता के कुछ पोषक ज्ञात होंत हैं और वह अनुमान करते हैं कि कोई भी राज्यशासन राजनियमों के बिना नहीं चल सकता और मनुस्मृति से प्राना आर्यों का कोई राजनियम दिखलाई नहीं देता और क्योंकि आर्यों ने अति प्राचीनकाल में राज्यस्थापन किया था, अतः सम्भव है कि मनु के नियम ईसा के जन्म से प्रायः ९८६७ वर्ष पूर्व प्रचरित हों, अस्तु । यद्यपि सरडबल्लिउजॉस की बातें आर्यकर्णों को अन्यों के कथनों की अपेक्षा मधुर ज्ञात होंगी तथापि प्रमाणों के सन्मुख प्रस्तुत नहीं रहने से इतिहास का प्रेमी ऐसे कथनों पर भी श्रद्धा नहीं कर सकता (सम्भव है कि सरडबल्लिउजॉस ने किमा अन्य पुस्तक में इस विषय में कुछ विशेष लिखा हो परन्तु हमें कोई वैसी पुस्तक नहीं मिली इस कारण अपनी यह सम्मति लिखनी पड़ी) ।

अब शेष रह गई प्रोफेसर जी बुहलर साहब की सम्मति की समालोचना। योरोपीय ऐतिहासिक इन्हें अच्छा संस्कृतज्ञ समझते हैं और इन्होंने मनुस्मृति पर अंग्रेजी टीका भी लिखी है और मनुस्मृति के निर्माणकालविषय में कतिपय प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं अतः इन के कथनों पर विशेष सावधानता से विचार करना चाहिए । प्रोफेसरजी बुहलर साहब जो मनुस्मृति का निर्माण काल "ईसा के जन्म से दो शताब्दी पूर्व" और "ईसा के पश्चात् सन् ईपूर्व दूसरी शताब्दी" के बीच (२०० बी, सी से २०० ए, डी के बीच) अनुमान कात हैं और उस में वह जो हेतु देते हैं उस का सारांश यह है कि मनुस्मृति अश्वमेध दश के श्लोक ४० चवालीस "पौण्ड्रकाश्वाड्द्रविडाः काश्वजा यवनाः शकाः । पारदापह्लावाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः" में जो "काश्वजा यवनाः शकाः" पाठ आया है वह सिद्ध करता है कि जिस समय भारतवासियों का सम्बन्ध अलक्षेन्द्र (अलकजंडर वा सिकन्दर) के उत्तराधिकारियों की यूनानी (यवन) प्रजा और विशेष करै बैक्ट्रिया राज्य की यूनानी प्रजा के साथ हुआ तब यह मनुस्मृति बनी ।

अलक्षेन्द्र के सेनापति मैल्यूकस का राज्य बैक्ट्रिया में भी था जहां कुछ यूनानी बसते थे । मैल्यूकस ने जब से महाराज चन्द्रगुप्त से सन्धि की तब से

बैक्ट्रिया पर चन्द्रगुप्तपुनः उन के पुत्र विन्दुसार और पुनः विन्दुसार के पुत्र अशोक का प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया और बैक्ट्रिया के यूनानी (यवनों) का बारम्बार गमनागमन भारत में होने लगा और क्योंकि महाराज अशोक का राज्य ईसा के जन्म से प्रायः २६० वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था इसी कारण ज्ञात होता है कि प्राफेसर जी बुहलर साहब यवनों के साथ भारतवासियों का विशेष सम्बन्ध ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व से मानते हैं और इसी आधार पर यवन शब्द को मनुस्मृति में देख कर अनुमान करते हैं कि इस सम्बन्ध के बाद मनुस्मृति बनी होगी जिस का समय "ईसा के जन्म से दो सौ वर्ष पूर्व" से ले कर "ईसा के बाद सन् ईसवी दो सौ" तक के बीच होगा ।

मनुस्मृति में आए हुए "यवन" शब्द का अर्थ विशेष कर बैक्ट्रिया की यूनानी प्रजा है इस की पुष्टि में महाराज अशोक के पञ्चम शिलालेख को प्राफेसर बुहलर साहब प्रस्तुत करत आर लिखत हैं कि क्योंकि मनुस्मृति में यवनों का नाम काम्बोज वा काबुलियों के साथ ठीक २ उन्हीं प्रकार आया है जिस प्रकार कि (ये नाम) अशोक के शिलालेख में आए हैं अतः अधिक सम्भव है कि इस से (यवन शब्द से) अलक्षेन्द्र के उत्तराधिकारियों की ग्रीक (यूनानी) प्रजा और विशेष कर बैक्ट्रियन ग्रीक लक्षित हों । *

* नोट यवन, काम्बोज, और शक शब्द विदेशी भाषा के नहीं प्रयुक्त शुद्ध संस्कृत के हैं । देखिए वाचस्पत्य काथ पृष्ठ ४७७६ वहां "यवन" शब्द की व्युत्पत्ति "यु" धातु से बतलाई है और यह भी लिखा है कि यह शब्द "वेग" और "गोधूम" अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, हां इस का अर्थ देश विशेष वा वहां के निवासी वा वहां का राजा भी लिखा है । अतः मनु के आश्रय दश श्लोक ४३ तथा ४४ का अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि यवनादि कई जातियों की उत्पत्ति क्षत्रियों से ही हुई थी परन्तु ज्ञानी ब्राह्मणों का सत्संग छूटने से ये वृषलक्ष वा भ्रष्टता को प्राप्त हो गए ।

"काम्बोज" शब्द भी शुद्ध संस्कृत का है । वाचस्पत्य काथ पृष्ठ १९०६ में काम्बोज का अर्थ लिखा है "कम्बोजोऽक्षत्रो यस्य" अर्थात् काम्बोज है देश जिन वा ये काम्बोज कहलाते हैं और "सोमबर्के", "पुरयामवृत्ते", "श्वेतखदिरे", "गुणधायी" इन अर्थों में भी काम्बोज शब्द का प्रयुक्त होना लिखा है ।

"शक" शब्द भी शुद्ध संस्कृत का है । वाचस्पत्य काथ पृष्ठ १०७२ में इस शब्द का अर्थ लिखा है "जाति भेदे स च ब्राह्मणक्षत्रियः" एक प्रकार की जाति के लोग जो कि ब्राह्मण-क्षत्रिय थे ।

प्रोफेसर बुहलर साहब का केवल इतना कथन ठीक है कि यवन शब्द ग्रीक वा यूनानी प्रजा का बोधक है (परन्तु स्मरण रहे कि यवन शब्द का अपभ्रंश यूनानी शब्द है अर्थात् यवन शब्द से यूनानी शब्द की उत्पत्ति हुई है न कि यूनानी शब्द से यवन शब्द की । अर्थात् जो लोग पहले यवन कहलाते थे इन्हीं में से कुछ लोग पीछे से जिस देश में जा बसे होंगे उस का नाम यवनीय Ionia पड़ा होगा और पुनः वही जाति यवनानी वा यूनानी कहलाने लगी होगी और देश का नाम भी यूनान पड़ गया होगा) परन्तु उन का यह अनुमान ठीक नहीं कि भारत-वासी और यवनों का विशेष सम्बन्ध ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वा तीन सौ वर्ष पूर्व से ही आरम्भ हुआ ।

ग्रन्थ महाभारत म जहाँ सम्राट् युधिष्ठिर क राजसूय-यज्ञ का वर्णन है तथा जहाँ कौरव पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है उन प्रकरणों को देखिए तो ज्ञात होगा कि कितने विदेशी महाराज उक्त समयों पर भारत में आए थे । वहाँ स्पष्ट लिखा है कि विडालाक्ष नाम यवन राजा पधारे थे । क्या यह घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं कि सम्राट् युधिष्ठिर निमन्त्रण वा संदेशा भेजे और यवनराज उन के यज्ञ वा युद्ध में सम्मिलित हों ?

इन प्रकरणों के अतिरिक्त “यवन” जाति का नाम महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ३३, श्लोक २१ में भी आया है और साथ ही “काम्बोज” और “शक” जातियों के भी नाम आए हैं यथा:—

शका यवनकाम्बोजास्नास्ताः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥

पुनः महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ६९, श्लोक १३ में भी “यवन” जाति का नाम आया है और साथ ही “शक” जाति का नाम भी पुनः । श्लोक १४ में काम्बोज जाति का नाम भी आया है यथा:—

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शवरवर्बराः ।

शकास्तुषाराः कङ्काश्च पल्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥

पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।

ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥

पुनः महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ३५ श्लोक १८ में भी यवन शब्द का पाठ है यथा:—

किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात् ॥

महाभारत के उक्त श्लोकों में यवन, काम्बोज और शक जातियों के नाम देख कर भी यदि कोई कहे कि मनुस्मृति की तरह महाभारत भी ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व बना तो उस के कथनों को कोई भी इतिहास का प्रेमी कैसे स्वीकार कर सकता है ?

योरोपीय ऐतिहासिक आनरेब्ल एल्फिंस्टन साहब महाभारत के युद्ध के विषय में अपने ग्रन्थ हिस्ट्री आफ इंडिया पञ्चमावृत्ति के पृष्ठ २२७ में लिखते हैं:-

“The date of the war has already been discussed. It was probably in the fourteenth century before Christ”

अर्थात् उस (महाभारत) युद्ध की तिथि पर विचार हो चुका । सम्भव है कि यह ईसा के जन्म से पूर्व चौदहवीं शताब्दी में हुआ हो ।

एवं अन्यान्य योरोपीय ऐतिहासिक भी महाभारत युद्ध को ईसा के जन्म से २०० वर्ष पूर्व से भी विशेष पूर्व का मानते हैं । अतः सम्राट् युधिष्ठिर के समकालीन यवनराजा विडालाक्ष का सम्बन्ध एवं यवनों का घनिष्ट सम्बन्ध भारत से उन योरोपीय ऐतिहासिकों को भी ईसा के जन्म से २०० वर्ष पूर्व से भी बहुत पूर्व का मानना चाहिये था ।

इटैली के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ गौरीशिव Gorresio रामायण के अपने अनुबाद की भूमिका में लिखते हैं:—

The name of Yavanas may have been anciently used by the Indians to denote the nations situated to the west of India; more recently, that is after the time of Alexander, it was applied principally to the Greeks.

ऐसा हो सकता है कि भारतवासियों ने “यवन” नाम का प्रयोग प्राचीन समय में उन सब मनुष्यजातियों के लिए किया हो जो भारत से पश्चिम की ओर बसते हैं और पिछले दिनों अर्थात् अलक्षेन्द्र के समय के पीछे इस शब्द का विशेष प्रयोग यूनानियों के लिए करते हों ।

एवं काम्बोज और शक जातियों का भी सम्बन्ध भारत से अति प्राचीनकाल से चला आता है ।

आगे चल कर पञ्चमभाग में जब हम महाभारत का विषय लिखेंगे तो बतलाएंगे कि महाभारत युद्ध के समय निरूपण में योरोपीय ऐतिहासिक किस प्रकार भूल करते हैं और यह भी सिद्ध करेंगे कि यह युद्ध अब से प्रायः पांच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था ।

मनुस्मृति के श्लोक महाभारत में—श्लोक बद्ध मनुस्मृति को जो लोग बहुत प्राचीन मानते हैं उन की ओर से निम्नलिखित प्रकार तर्क किया जा सकता है:—

मनुस्मृति में कहीं भी महाभारत वा महर्षि व्यास का नाम नहीं आया है और महाभारत में राजर्षि मनु का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ बारम्बार आया है, यथा:—

१—“मनुनाऽभिहितं शास्त्रं यच्चापि कुरुनन्दन !”

(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ४७ श्लोक ३९)

२—“तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्”

(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३६, श्लोक ९)

३—“एष दायविधिः पार्थ ! पूर्वमुक्तः स्वयम्भुवा”

(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ४७ श्लोक ९८)

४—“सर्वकर्मस्वर्हिंसां हि धम्मात्मा मनुरब्रवीत्”

(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म) इत्यादि इत्यादि ।

अतः सिद्ध होता है कि महाभारत के पूर्व मनुस्मृति विद्यमान थी जिस महाभारतरचयिता ने राजर्षि मनु के कथना को प्रमाणरूप से महाभारत में लिखा है ।

परन्तु प्रतिवादी तर्क कर सकता है कि महाभारत के उक्त श्लोकों से यह तो निस्सन्देह सिद्ध होता है कि राजर्षि मनु महाभारत से पहले विद्यमान थे परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि श्लोक बद्ध मनुस्मृति भी महाभारत के पूर्व विद्यमान थी, सम्भव है कि आपस्तम्बादि सूत्रग्रन्थों में जिस मानवधर्मसूत्र का नाम आया है उस धर्म सूत्र के रचयिता राजर्षि मनु का नाम महाभारत में आया हो ।

इस का उत्तर यह है कि मनुस्मृति अध्याय ९ का निम्नलिखित ३२१ वां श्लोकः—

अद्रभ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १६ में ज्यों का त्यों आता है जहां कि इस श्लोक की संख्या २४ है और इस चौबीसवें श्लोक के पूर्व जो तेईसवां श्लोक है उस में लिखा है “ मनुना चैव राजेद्र ! गीतोऽश्लोकौ महात्मना ” अर्थात् हे राजेद्र ! मनु नाम महात्मा ने इन श्लोकों का कहा है । जब कि मनुस्मृति के श्लोक को महाभारत में उद्धृत करता हुआ पुरुष लिखता है कि यह श्लोक मनु का है तब क्यों न माना जाय कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत से पहले विद्यमान थी?

मनुस्मृति अध्याय ९ के उक्त ३२१ वें श्लोक के अतिरिक्त मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक भी ज्यों के त्यों महाभारत में आते हैंः—

१—यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।

अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥

(मनु ११।७।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १६९ में आता है जहां इस की संख्या ५ है (पांचवां श्लोक है)

२—योऽनादिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।

तयोरपि क्लृप्तम्बाभ्यामाहरेदऽविचारयन् ॥

(मनु ११।१४।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक भी ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १६५ में आता है जहां इस श्लोक की संख्या ९ है ।

३—संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।

याजनाऽध्यापनाद्यौनान्नतु यानासनाऽश्नात् ॥

(मनु ११।१८०।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक भी ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय १६५ में आता है जहां इस श्लोक की संख्या ३७ है ।

४—नाभिनन्दत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।

कालमेव प्रतीक्षेन निर्देशं भृतको यथा ॥

(मनु ६।४९।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २४९ में आया है जहां यह १५ वां श्लोक है ।

५—ऊर्ध्वं प्राणा हुत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥

(मनु २।१२०।)

द्रष्टव्यः—यह श्लोक ज्यों का त्यों महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय १०४ में आया है जहां यह ६४ वां श्लोक है । मुम्बई वाले महाशय गणपतिकृष्णा जी के छपाए महाभारत में तो “ प्रत्युत्थान ” ही पाठ है परन्तु कलकत्ते के महाशय प्रतापचन्द्र राय जी के छपाए महाभारत में “ अम्युत्थान ” पाठ है ।

मनुस्मृति के उक्त श्लोक जो ज्यों के त्यों महाभारत में आए हैं इन अतिरिक्त मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक किञ्चित् परिवर्तनों के साथ महाभारत में आए हैं:—

१—यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥

(मनु० अ० २, श्लोक १५७)

१—यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३६ श्लोक ४७)

द्रष्टव्यः—जो अर्थ मनुस्मृति के श्लोक १५७ का है वही अर्थ महाभारत में आये हुए श्लोक ४७ का है ।

२—सर्वरत्नानि राजा तु यथाहं प्रतिपादयेत् ।

ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥

(मनु अ० ११, श्लोक ४)

२—सर्वरत्नानि राजा हि यथाहं प्रतिपादयेत् ।

ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १६५, श्लोक ४)

३—यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥
(मनु. अ० ११, श्लोक १२)

३—यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद्विचं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत् ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १६५, श्लोक ७)

४—नरके हि पतन्त्येते जुहन्तः स च यस्य तत् ।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः ॥
(मनु० अ० ११, श्लोक ३७)

४—नरके निपतन्त्येते जुहानाः स च यस्य तत् ।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय, १६५, श्लोक २२)

५—पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च कोष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥
(मनु० अ० ८, श्लोक ३७२)

५—पुमांसमुन्नयेत्प्राज्ञः शयने तप्त आयसे ।
अभ्याददीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत् ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १६५, श्लोक ६३)

६—पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥
(मनु अ० २, श्लोक २३१)

६—पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयोऽग्निः साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १०८, श्लोक ७)

७—पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
(मनु० अ० ९, श्लोक ३)

७—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
 पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
 (महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० ४६, श्लोक १४)

८—पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवैरस्तथा ।
 पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
 (मनु० अ० ३, श्लोक ९९)

८—पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथदेवैः ।
 पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
 (महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० ४६, श्लोक ३)

अनुमान है कि महाभारत के भिन्न २ स्थलों में कम से कम पचास श्लोक ऐसे होंगे जो मनुस्मृति से ज्यों के त्यों वा किञ्चित् परिवर्तनों के साथ उद्धृत किए गए हों । *

इतने प्रमाणों के प्रस्तुत रहते हुए कौन कह सकता है कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत से पूर्व विद्यमान न थी ?

मनुस्मृति के श्लोक वाल्मीकिरामायण में:—

और महाभारत ही क्यों वाल्मीकि रामायण किष्किन्वाकाण्ड सर्ग १८ को देखिये वहां भी मनु के श्लोकों का वर्णन आता है । जहां, श्री रामचन्द्रजी अत्याचारी बाली को घायल कर उस के आक्षेपों के उत्तर में अन्याय कथनों के साथ २ यह भी कहते हैं कि तूने अपने छोटे भाई सुग्रीव की स्त्री को बलात् हरण कर और उसे अपनी स्त्री बना अनुज भार्याभिर्मांस का दोषा बन चुका जिस के लिए (धर्म शास्त्र में) बध दण्ड की आज्ञा है इस पृथिवी के स्वामी महाराज भरत हैं (अतः तू भी उन

* मनुस्मृति में पाठभेद होता आया है । मनुस्मृति की टीका करने वाले मेधातिथि के समय में ६०० पांच सौ के लग भग पाठभेद मिलते थे । दूसरे टीकाकार कुल्लुकभट्ट के समय प्रायः ६६० छसौ पचास पाठभेद थे और तीसरे टीकाकार राघवानन्द के समय भी ३०० तीनसौ के लग भग पाठभेद मिलते थे और चौथे टीकाकार नन्दन के समय भी १०० एक सौ के लग भग पाठभेद थे । अतः सम्भव है कि महाभारत में मनु के कोई २ श्लोक जो किञ्चित् परिवर्तनों के साथ आते हैं परन्तु जिस परिवर्तन वा पाठभेद से अर्थ में कुछ भेद नहीं होता, वे श्लोक महाभारत में जिस समय आए हों उस समय मनुस्मृति में भी उसी प्रकार के हों ।

की प्रजा है) मैं उन की आज्ञापालन करता हुआ विचरता हूँ फिर मैं तुझे यथोचित दण्ड कैसे न देता ? जैसा कि:—

“ श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।

गृहीतौ धर्मकुशलस्तथा तच्चरितं मया ॥ ३० ॥

राजभिर्भृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१ ॥

शासनाद्रापि मोक्षाद्रा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते ।

राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥ ३२ ॥”

(वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग १८, श्लोक ३०, ३१, ३२)

मनु के कहे हुए इन दो श्लोकों से ज्ञात होता है (सुना जाता है) (जो श्लोक कि चरित्रप्रतिपादन में तत्पर हैं तथा जिन्हें धार्मिक पुरुषों ने धारण किया है और जिन के अनुसार ही वह कर्म (तुम्हें दण्ड देने का) मैंने किया है कि “ पाप किए हुए मनुष्य जब राजा से उचित दण्ड पा लेते हैं तब वे भी निर्मल हो कर सुकृत सन्तों की तरह स्वर्ग वा सुख विशेष को प्राप्त होते हैं, दण्ड पाने से वा (राजा के द्वारा) छोड़ दिए जाने से चोर अपने पाप से छूट जाता है परन्तु यदि राजा पाप के लिए चोर को दण्ड नहीं देता तो वह चोर के (पाप के फल) दुःख को प्राप्त होता है ” (तात्पर्य यह है कि यदि मैं तुझे दण्ड न देता तो न तू पाप-मुक्त होता और न मैं पापी को न दण्ड देने के अपराध से बचता)

रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८ के उक्त श्लोक ३० तीस में मनु का नाम आया है और श्लोक ३१ तथा ३२ मनु के बतलाए गए हैं, अब परीक्षा करनी चाहिए कि रामायण का उक्त लेख कहां तक ठीक है, श्लोक ३१ तथा ३२ मनुस्मृति में कहीं मिलते हैं अथवा नहीं। उक्त दोनों ही श्लोक किञ्चित् पाठभेद से (परन्तु जिस से अर्थ में कुछ भी भेद नहीं आया) मनुस्मृति के अध्याय ८ आठ में मिलते हैं जिन की संख्या (कुल्लूकभट्ट की टीका वाली मनुस्मृति में) ३१८ तथा ३१६ है। यथा:—

१—राजभिर्भृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

(रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८ श्लोक ३१)

१—राजनिर्धूतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

[मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३१८]

२—शासनाद्वापि मोक्षान्नास्तेनः पापात्प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥

(रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८ श्लोक ३२)

३—शासनाद्वा विमोक्षान्नास्तेनः स्तेयाद् विमुच्यन्ते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

(मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३१६)

अतः सिद्ध हुआ कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति वाल्मीकिरामायण के पूर्व विद्यमान थी । यदि कोई कहे कि यह क्यों न माना जाय कि वाल्मीकिरामायण से ही उक्त दोनों श्लोक मनुस्मृति में आए हैं तो इस का उत्तर यह है कि मनुस्मृति में कहीं भी श्रीरामचन्द्र की वा महर्षि वाल्मीकि वा रामायण की वार्ता नहीं आई है और रामायण में स्पष्टतः मनु के श्लोकों (मनुना गीतौ श्लोकौ) की प्रशंसा विद्यमान है । अतः सिद्ध होता है कि मनुस्मृति रामायण के काल से भी पहले की है ।

उक्त प्रकार हमने संक्षेपतः यह दिखला दिया कि योरोपीय विद्वान् मनुस्मृति को थोड़े दिनों की बनी हुई सिद्ध करने के लिए किस तरह तर्क करते हैं तथा मनुस्मृति के प्राचीन होने के पक्ष में कौन २ से प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि इस विषय में

हमारी सम्मति ।

क्या है । यदि कोई वर्तमान मनुस्मृति को आद्योपान्त पढ़ जाय तो उसे ज्ञात होगा कि इस मनुस्मृति में परस्पर विरुद्ध श्लोक अनेक भरे पड़े हैं यथा:—

मांस मदिरा विषक ।

नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।

न च प्राणिबधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ मनु ५ । ४८ ॥

अर्थात् प्राणियों की हिंसा के बिना मांस नहीं उत्पन्न होता और प्राणियों के बध से सुख नहीं मिलता अतः मांस ग्रहण योग्य नहीं है ।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ मनु ५ । ५६ ॥

मांस खाने, मदिरा पीने तथा मैथुन में दोष नहीं है क्यों कि इन में लोगों की प्रवृत्ति है परन्तु यदि इन्हें छोड़ें तो महापुण्य होता है ।

ऊपर के श्लोक में दिखलाया है कि मदिरापान में भी दोष नहीं है परन्तु मनुस्मृति का निम्नलिखित श्लोक इसे महापाप बतलाता और मद्यप के लिये कठिन प्रायश्चित्त नियत करता है:—

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादशिवर्णां सुरां पिबेत् ।

तया सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ मनु ११ । ९० ॥

जिस द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य ने मोहवश मदिरा पी लिया हो उसे चाहिए कि आग के समान गर्म की हुई मदिरा को पीवे ताकि उस से उस का शरीर जले और वह मद्यपान के पाप से छूटे ।

प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा विषयक:—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ मनु २ । १५७ ।

जैसे कि काष्ठ का हाथी और चर्म का मृग होता है वैसे ही बिना पढ़ा ब्राह्मणकुलोत्पन्न है ये तीनों नाम मात्र को धारण करते हैं ।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनु २ । १६८ ॥

जो द्विजकुलोत्पन्न वेदों को बिना पढ़े अन्यकार्यों में श्रम करता है वह जीता हुआ ही पुत्रादि सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है ।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात्तथैवच ॥ मनु १० । ६५ ॥

(अर्थात् अत्युत्तम गुण कर्म स्वभाव धारण करने से) शूद्रकुलोत्पन्न पुरुष, ब्रा-

क्षण हो, जाता है, (वैसे ही निकृष्ट गुण कर्म स्वभाव धारण करने से) ब्राह्मण-कुलोत्पन्न, शूद्रता को प्राप्त हो जाता है, (एवं ब्राह्मण वा शूद्र के गुण कर्म स्वभाव वाले होने से) क्षत्रिय और वैश्यकुलोत्पन्न, ब्राह्मण वा शूद्र हो जाते हैं । (जब कि एक शूद्रकुलोत्पन्न ब्राह्मण तक बन जाता था तो दूसरा शूद्रकुलोत्पन्न क्षत्रिय वा वैश्य भी बन जाता ही होगा एवं यदि एक वैश्यकुलोत्पन्न ब्राह्मण बन सकता था तो दूसरा वैश्यकुलोत्पन्न ब्राह्मणपद से नीचे क्षात्रपद को प्राप्त कर सकता ही होगा एवं कोई क्षात्रकुलोत्पन्न जब कि शूद्र तक बन जाता था तो अन्य क्षात्रकुलोत्पन्न के लिए शूद्रपद से एक पद ऊपर वैश्य बनना कठिन न होगा) ।

उक्त तीनों श्लोकों के विपरीत मनुस्मृति के निम्नलिखित दो श्लोक हैं ।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो देवतं महत् ।

प्रणीतश्चाऽप्रणीतश्च यथाऽग्निर्देवं महत् ॥ मनु ९। ३१७ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परां देवतं हि तत् ॥ मनु ९। ३१९ ॥

चाहे अविद्वान् हो वा विद्वान् ब्राह्मण महती देवता है जिस प्रकार कि अग्नि प्रणीत हो वा अप्रणीत वह महती देवता है । यद्यपि ब्राह्मण इस प्रकार सब नीच कर्मों में लग रहते हैं तो भी वे सब प्रकार पूजनीय ही हैं क्यों कि उन में बड़ा भारी देवत्व है ।

एवं परस्परविरुद्ध श्लोक कई उद्धृत किए जा सका है और प्रश्न हो सकता है कि जिस मनुस्मृति में उत्तमोत्तम ज्ञान की बातें भरी पड़ी हैं, जिस में तर्क और प्रमाणों की आवश्यकता बतलाई गई है उस के बनाने वाले क्या ऐसे भूर्व थे कि उन्होंने अपनी पुस्तक के एक स्थल में जिस बात को कहा उसी को दूसरे स्थल में खण्डन कर दिया ? ऐसा काम तो पागल का होता है, जिस का मस्तिष्क ठीक नहीं अथवा उस पुरुष का जिस की विद्या और स्मरणशक्ति बहुत ही अल्प होती है और जो अपनी उत्तरदायिता को कुछ भी नहीं समझता, अस्तु । अब विचारना यह चाहिए कि मनुस्मृति में जो परस्परविरुद्ध कई श्लोक मिलते हैं उन में से किस प्रकार के श्लोक असल ग्रन्थ के हैं और किस प्रकार के श्लोक अन्यो के प्रक्षेप किए हुए हैं ।

असल श्लोकों की जांच की कसौटी ।

मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक ८ में लिखा हुआ है ।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥

अर्थात् विद्वान् को चाहिए कि इस सब को (इस धर्मशास्त्र को) ज्ञान के नेत्रों से तथा वेद के प्रमाण से जांचे और अपने धर्म वा कर्तव्य में संलग्न हो जाय ।

इस प्रमाण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुस्मृति के वास्तविक श्लोकों में जो कुछ लिखा गया है वह वेदानुकूल एवं ज्ञान से परिमार्जित कर लिखा गया है और उक्त श्लोक कहता है कि जिस की इच्छा हो वह जांच ले कि यह ग्रन्थ वेदानुकूल एवं ज्ञानमय है वा नहीं ।

पुनः मनुस्मृति अध्याय १२ श्लोक १०९ में लिखा है:—

प्रत्यक्षं चाऽनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

अर्थात् जो कोई धर्म (वा धर्मशास्त्र) की यथायथा जानना चाहे उसे चाहिए कि प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण तथा विविधप्रकार के आगम शास्त्र (शब्दप्रमाण) इन तीनों को भला भाँति जान ले ।

इस श्लोक से तात्पर्य यह निकलता है कि इस ग्रन्थ (धर्मशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान वा शब्दप्रमाण के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा गया है ।

पुनः मनुस्मृति अध्याय १२ के श्लोक १०६ में लिखा है:—

अथ धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।

यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मा वेद नेतरः ॥

अर्थात् जो कोई आर्षग्रन्थों तथा धर्मोपदेशों को वेद शास्त्र से अविरुद्ध तर्कों के द्वारा (अर्थात् कुतर्कों द्वारा नहीं) विचारता है वही धर्म का जानने वाला पुरुष होता है अन्य नहीं ।

उक्त श्लोक मानों लोगों को विस्पष्ट बतला रहा है कि इस धर्मशास्त्र को भी

तर्क की कसौटी पर चढ़ाओ और देखो कि विचार के पश्चात् यह कैसा ठहरता है ।

अतः सिद्ध यही होता है कि मनुस्मृति के वास्तविक श्लोकों में जो कुछ लिखा गया है वह तर्क से जांच कर, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों की तुलाओं पर तोल कर लिखा गया है और इसी कारण लोग बराबर समझते आए हैं कि मनुस्मृति वेदविरुद्ध नहीं है ।

अतः इस मनुस्मृति में जितनी बातें तर्कविरुद्ध वा प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द-प्रमाणों के विरुद्ध हैं (अर्थात् वेदानुकूल नहीं हैं) वह सब की सब असल ग्रन्थ की नहीं प्रत्युत अन्यान्य अल्पज्ञों की हैं । बस इसी कसौटी पर मनुस्मृति के श्लोकों को चढ़ाइये और जो ठीक ठहरें उन्हें आर्ष और जो बे ठीक हों उन्हें अनार्ष समझिये ।

परन्तु मनुस्मृति के सब श्लोकों की जांच वह पुरुष कर सकता है जो मनुस्मृति पर भाष्य लिखे । यह काम हमारा नहीं अतः हम अपने प्रकरण की ओर आते हैं ।

पुराकालीन ऐतिहासिक घटनाओं के निरूपण में भ्रम का कारण—

यदि हम भी मनुस्मृति पर सम्मति प्रकाशित करने वाले डाक्टर बुहलर आदि कतिपय यूरोपीय विद्वानों की भांति तर्क करें तो हमें कहना पड़ेगा कि यह मनुस्मृति तब बनी जब कि ब्राह्मण लोग सब प्रकार के दुराचारों में फंसे हुए थे । क्योंकि मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ३१९ में लिखा है कि:—

“एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्या परमं दैवतं हि तत् ॥

अर्थात् यद्यपि ब्राह्मण इस प्रकार सब नीचकर्मों में लगे रहते हैं तो भी वे सब प्रकार पूजनीय ही हैं क्योंकि उन में बड़ा भारी देवत्व है, परन्तु जब कोई हमारे सन्मुख मनु अध्याय २, के निम्नलिखित श्लोक २८:—

“स्वाध्यायेन ब्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥

(जिस का अर्थ है सकल विद्या पढ़ने पढ़ाने, (ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि) नियम पालने, होम करने (अर्थात् अग्निहोत्र करने वा सत्य के ग्रहण और असत्य के

त्याग तथा सत्यविद्याओं के दान देने), (वेदस्थ कर्मोपासना ज्ञान) इन तीन प्रकार की विद्याओं के ग्रहण, इज्या अर्थात् पक्षेष्ट्यादि करने, सुसन्तानोत्पत्ति करने, (ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव तथा अतिथि नाम) पञ्चमहायज्ञों और (अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि) यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् (वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप) ब्राह्मण का शरीर किया जाता है । कोई प्रस्तुत करेगा और हम से पूछेगा कि मनुस्मृति के अनुसार तो कोई पुरुष ब्राह्मण बन ही नहीं सकता जब तक कि उक्त प्रकार तप न करे, आप कैसे कहते हैं कि मनुस्मृति उस समय बनी जब कि ब्राह्मण लोग सब कुकर्मों में लिप्त थे ? तां सिवाय मौनसाधन करने के हम से कुछ उत्तर नहीं दिया जा सकेगा, और जब कि प्रश्नकर्ता यह कहने लगेगा कि मनुस्मृति अध्याय २ के उक्त श्लोक २८ में क्योंकि यह लिखा है कि बड़े तप से मनुष्य ब्राह्मण बनता है अतः मनुस्मृति उस समय बनी जब कि बड़े तपस्वी ही सर्वापारि पूज्य माने जाते थे तब भी हम उस के कथनों का खण्डन नहीं कर सकेंगे ।

तात्पर्य यह है कि कतिपय यूरोपीय ऐतिहासिकों तथा उन के कतिपय भारतीय शिष्यों की यह शैली है कि वह जब संस्कृत-ग्रन्थों में किन्हीं एक वा दो आधुनिक बातों को भी पा लेते हैं तो प्रायः उसी आधार पर उस ग्रन्थ का निर्माणकाल निश्चित करने लगते हैं । ग्रन्थ का काल निश्चित करने के समय जिस प्रकार वह आधुनिक बातों की ओर पूरा २ ध्यान रखते हैं उसी प्रकार उन्हें प्राचीन बातों की ओर भी पूरा २ ध्यान रखना चाहिए यदि वह आधुनिक बातों के साथ २ प्राचीन बातों का कुछ विवेचन भी करते हैं तो उन का प्राचीनकालविवेक अनुमान उन के आधुनिक काल से अधिक दूर जाने नहीं पाता कारण इस का यह है कि अनेक यूरोपीय ऐतिहासिक (जिन का नाम हम इस अध्याय के आरम्भ में ले चुके हैं वे भी) बाइबल प्रतिपादित सृष्टि समय पर विश्वास करने वाले हैं जो कि ईसाइयों के मतानुसार ईसा के जन्म से केवल कतिपय सहस्र वर्ष पूर्व था । यदि किसी आर्ष-ग्रन्थ की कोई बात ईसाइयों के अनुमित सृष्टि काल से पूर्व की कही जाती है तो बाइबल के विश्वासी ऐतिहासिक उसे बाइबल के विरुद्ध समझते हुए असम्भव मानने लगते हैं यही कारण है कि यूरोपीय ऐतिहासिक आर्ष ग्रन्थों के निर्माणकाल के निरूपण में अभी तक कृतकार्य नहीं हुए । मन्वन्तरों आर चतुर्गुणियों तथा ब्राह्म-दिन की बातें जिन्हें संकल्पद्वारा प्रत्येक भारतीय कर्मकाण्डी कण्ठस्थ रखता है

उन्हें महान् असम्भव प्रतीत होती हैं परन्तु हर्ष की बात है कि भूगर्भविद्या के आविष्कार सृष्टि की प्राचीनता को धीरे २ पोषण कर रहे हैं और अनेक यूरोपीय विद्वान् उस पर अब श्रद्धा करने लगे हैं । अस्तु ।

गत शताब्दी के संस्कृत विद्या के सब से बड़े विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने जब तक आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों का लक्षण कर यह नहीं बतलाया था कि अनेक आर्षग्रन्थों में भी बहुत सी अनुचित बातें वाममार्गियों के समय से मिलती हुई चली आती हैं तब तक लोगों को संस्कृत के सत्यासत्य ग्रन्थों की ठीक कसौटी प्राप्त नहीं हुई थी । आर्ष ग्रन्थों में स्वार्थपरता मद्यमांससेवनादि कुत्सितकर्मों के विधायक जितने वचन हैं वे सब के सब वाममार्गियों के मिलाए हुए हैं क्योंकि ऐसे कुत्सित वाक्य उन्हीं आर्षग्रन्थों की महोत्तम शिक्षाओं से विरुद्ध दिखाई देते हैं । एवं मनु अध्याय ९ श्लोक ९६:—

न मांभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरंषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ मनु ९ । ९६ ॥

को देख कर यह निश्चित नहीं करना चाहिए कि मनुस्मृति उस समय बनी जब कि वाममार्गियों की शिक्षा फैल चुकी थी । परन्तु ऐतिहासिक को कोई इस परिणाम के निकालन से नहीं रोक सकता कि मनुस्मृति उस समय भी विद्यमान थी जब कि वाममार्ग का प्रचार हो रहा था, अस्तु ।

मनुस्मृति की उत्पत्ति ।

(ब्रह्मा, विराट्, मनु, मरीचि, भृगु, स्वायम्भुव मनु)

प्राचीन संस्कृतग्रन्थों के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वर्तमान सृष्टि के आरम्भकाल में ब्रह्मा नाम एक महर्षि हुए थे, उनके पुत्र का नाम विराट् था और विराट् के पुत्र मनु हुए थे । मनु के समय में कुछ राजनैतिक चर्चा चली थी । मनु के पुत्र मरीचि भृगुवादि दश हुए जिन में से मरीचि को कुछ राजप्रबन्ध सौंपा गया था परन्तु जब इन के वंशज " स्वायम्भुवमनु " राज करने लगे तब राज प्रबन्ध को ओर लोगों का ध्यान पूर्वापेक्षा अधिकतर आकर्षित हुआ । क्योंकि कोई भी राजप्रबन्ध मौखिक वा लिखित राजव्यवस्था के बिना नहीं हो सकता अतः अनुमान किया जाता है कि जब से राजनैतिक चर्चा आरम्भ हुई तभी से राजव्यवस्था भी बननी

आरम्भ हुई । छान्दोग्य ब्राह्मण में जो यह लिखा है कि “ मनुर्वै यत्किञ्चिद्-
बदत् तद्भेषजं भेषजतायाः ” जो कुछ मनु ने कहा है वह ओषधियों की भी
ओषधि है वह अधिक सम्भव है विराट् के पुत्र मनु के विषय में ही हो, क्योंकि
केवल “ मनु ” नाम से विशेष ज्ञानी सब से प्रथम वही प्रख्यात हुए थे । आप-
स्तम्बादि धर्मसूत्रों में मानवधर्मसूत्र के वचन उद्धृत हैं इस से सिद्ध होता है कि
मनु के नाम से कोई धर्मसूत्र भी प्रवृत्त था । परन्तु हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण
इस समय नहीं है जिस से हम सिद्ध कर सकें कि मानवधर्मसूत्र ही महर्षि मनु
का अपना कथन है । यदि मानवधर्मसूत्र कहीं मिलता तो इस विषय की मीमांसा
हो जाती परन्तु शोक कि वह अमूल्य रत्न भी लुट गया और इस समय उस का
पता कहीं नहीं चलता । हमारा अनुमान है कि जिस धर्मशास्त्र को मनु ने बनाया
होगा उस के “आधार पर महाराज स्वायम्भुव मनु ” के समय राजप्रबन्ध की
विशेष वृद्धि हो जान के कारण अवश्य ही कुछ नये नियम बने होंगे । एवं आर्यों
का राज्य ज्यों २ विस्तृत होता गया होगा और ज्यों २ उन के सन्मुख अनेक
नूतन प्रश्न उपस्थित होते गए होंगे त्यों २ आर्य लोगों ने मानवधर्म शास्त्र के
आधार पर उन प्रश्नों की मीमांसा की होगी और अधिक २ नूतन नियम भी
बनाए होंगे, वर्तमान मनुस्मृति के देखने से ज्ञात होती है कि महर्षि भृगु तथा स्वा-
यम्भुव मनु का नाम मानवधर्मशास्त्र के सम्बन्ध में बारम्बार आता है । जिस का
कारण यही है कि महर्षि भृगु मानवधर्म-शास्त्र के प्रथम प्रचारक तथा स्वायम्भुव
मनु मानवधर्म शास्त्र के नियमों का भला भांत कार्य्य परिणत करने वाले प्रथम बड़े
राजा हुए हैं । सम्भव है कि मानवधर्मशास्त्र के सम्बन्ध में इन लोगों ने इतना श्रम
किया हो कि उक्त शास्त्र के साथ साथ इन लोगों का नाम सम्बन्धित रखना इन
से पीछे की प्रजा ने आवश्यक समझ लिया हो ।

(१) एक अनुमान—किसी २ का एक अनुमान तो यह है कि मानव-
धर्मशास्त्र के निर्माण के एक दीर्घकाल के पश्चात् जब कि किसी पुरुष ने मानवधर्मशास्त्र
को श्लोकबद्ध मनुस्मृति के आकार में परिणत किया तब उस ने ही महर्षि भृगु तथा
महाराज स्वायम्भुव मनु के मानवधर्मशास्त्र सम्बन्धी कथनों को भी साथ ही साथ रख
दिया जिस कारण मनुस्मृति में कहीं तो मनु के नाम से लिखा है कि—

“ यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ मनु २ । ७ ॥

अर्थात् जो कुछ जिस किसी के लिए धर्म मनु ने कहा है वह सर्व वेद में (मूलरूप से वर्तमान है क्योंकि वेद सर्व ज्ञानमय है । कहीं भृगु के नाम से लिखा है कि—

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ।

अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ मनु १२ । २ ॥

अर्थात् उस धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु ने महर्षियों से कहा कि इन सब कर्म-योग के निर्णय को सुनिए, और कहीं स्वायम्भुव मनु के नाम से लिखा है कि—

अलावुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ।

एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ मनु ६।५४ ॥

अर्थात् स्वायम्भुव मनु ने कहा है कि यतियों के भिक्षापात्र तूंबी, लकड़ी, मट्टी तथा बाँस के होते हैं ।

एवं इस मनुस्मृति में महर्षि मनु तथा उन के धर्मशास्त्र के आधार पर कहे हुए महर्षि भृगु तथा महाराज स्वायम्भुव मनु के कथन भी मिश्रित हैं । परन्तु इस अनुमान पर कोई भी पुरुष तब कुछ श्रद्धा कर सकता है जब कि मनुस्मृति में मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु के नाम से आए हुए कई श्लोक जो भ्रष्ट हैं प्रक्षिप्त मान लिए जायं ।

(२) द्वितीय अनुमान—दूसरों का अनुमान यह है कि जिन २ श्लोकों के साथ मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु लिखा है वह सब के सब प्रक्षिप्त हैं । जब मानवधर्मशास्त्र श्लोकबद्ध बन चुका तो लोग पीछे से “मनु” वा “भृगु” वा स्वायम्भुव मनु के नाम से जिन २ विषयों को अपने मन के अनुकूल चाहा मिश्रित कर दिया क्योंकि उन्होंने यह समझा होगा कि जिन श्लोकों के साथ मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु का नाम होगा वह तो अवश्य ही माननीय समझे जायेंगे । अतः मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु के नाम से आए हुए श्लोक तथा वह सब श्लोक जो मनुस्मृति में ही प्रतिपादित सर्वहितसाधक सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा वेदाशयविरुद्ध हैं मनुस्मृति में से निकाल दिए जायं तो शेष मनु के शुद्ध उपदेश समझे जायेंगे । अस्तु ।

हमारी सम्मति—वर्तमान मनुस्मृति के निर्माणकाल के विषय में यह है कि यह एक समय में नहीं बनी । प्रथम २ मानवधर्मशास्त्र श्लोकबद्ध

शुद्ध मनुस्मृति के रूप में कब परिणत हुआ यह अब ठीक २ निश्चित नहीं हो सकता । मनुस्मृति के सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं जो उपनिषद् वाक्यों की भांति विशद और उच्चभावां के वर्णन करने वाले हैं । उदाहरण के लिये निम्नलिखित दो श्लोकों पर ही विचार कीजिए—

(१) प्रशाशितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।

रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ मनु १२ । १२२ ॥

अर्थात् जो सब को शिक्षा देने हारा सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वप्रकाशस्वरूप समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है उस को परम पुरुष जानना चाहिये ।

(यह श्लोक “अणोरणीयान्……” “यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं……” “दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या……” आदि उपनिषद् के श्लोकों से कितना मिलता है !)

(२) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ मनु १२ । १२३ ॥

अर्थात् इस को कोई तो (स्वप्रकाशस्वरूप होने से) अग्नि कोई (विज्ञान स्वरूप होने से) मनु, कोई (सब का पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से) इन्द्र, कोई (सब का जीवनमूल होने से) प्राण, और कोई इसे (निरन्तर व्यापक होने से) ब्रह्म कहते हैं ।

(यह श्लोक यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय के प्रथममन्त्र—“तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः” तथा ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ के ४६ वें मन्त्र ‘ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः’ के साथ कितना मिलता है ।

क्या कभी सम्भव था कि ईश्वर तथा वेद के नाम से स्वार्थी पुरुषों के द्वारा अनेक अनर्थ जब कि बुद्धदेव के समय (ईसा के जन्म से प्रायः ५५० साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व) प्रवृत्त हो रहे थे तथा बुद्धदेव के समय से शताब्दियों पूर्व जब कि पशुर्हिसामय यज्ञ बारम्बार हुआ करते थे ऐसे ज्ञानमय श्लोकों की रचना की ओर रुचि हुई हो ?

यदि कोई ऐसा कहे भी कि उत्तम वा निकृष्ट पुस्तक सभी समयों में बन सकते हैं तो भी मनुस्मृति में जगह २ जो उपनिषदों की सी ज्ञानमय लहरें चल रही हैं वह

हमें बाध्य करती हैं कि हम उन्हें उस प्राचीन समय की बतलाएं जब कि भारत में ईषाद्विषरहित उपनिषदों में वर्णित शुद्ध सात्विकभाव का प्रवाह बह रहा था । परन्तु हमारा यह कथन हमारे हृदय का भाषमात्र है, अन्यो को भी इस भाव के धारण करने के लिए हम बाधित नहीं कर सकते ।

इस तृतीय भाग के आरम्भ में बहुत से श्लोक मनुस्मृति के जो महाभारत में तथा रामायण में उद्धृत दिखाए गए हैं उन के विषय में जब तक कोई यह न सिद्ध करदे कि वे श्लोक महाभारत तथा रामायण से मनुस्मृति में गए तब तक यही मानना पड़ेगा कि श्लोकबद्ध मनुस्मृति महाभारत वा बालमीकिरामायण की रचना के पूर्व भी विद्यमान थी ।

इस मनुस्मृति में केवल महर्षि मनु के समय की वार्ता हो अथवा महाराज स्वायम्भुव मनु के समय तक की वार्ता हो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि मनुस्मृति में आर्य्यावर्त की जो सीमा लिखी है:—

“आसमुद्रात्तु वै पूर्वोदासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।

तयोरेवान्तरं गिर्योराय्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ मनु० २।२२

वह सिद्ध कर रही है कि जब पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक (अर्थात् वर्तमान अर्बसागर से बंगाल की खाड़ी तक) के बीच के देश में तथा विन्ध्यगिरि के आस पास के भी बहुत से भागों में जब कि आर्य्य बस चुके थे तब यह श्लोक रचा जा सका, क्योंकि स्वायम्भुव मनु के बहुत दिन पीछे महाराज इक्ष्वाकु आर्य्यावर्त को बसाने लगे थे अतः आर्य्यावर्त की सीमासूचक उक्त श्लोक निस्सन्देह महाराज इक्ष्वाकु के समय वा उन के समय से भी पाँछे बन सका होगा । इस के अतिरिक्त मनुस्मृति के श्लोक:—

“शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनं च ॥ मनु १० । ४३ ॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।

पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाःखशा ॥ मनु १० । ४४ ॥

(जिन का अर्थ है कि क्रियाओं के लोप होने से और ब्राह्मणों के न मिलने से ये क्षत्रिय जातियाँ धीरे २ वृषलत्व को प्राप्त हो गईं अर्थात् पतित हो गईं, “उन क्षत्रिय जातियों के नाम हैं” पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद,

पल्लव, चीन, किरात, दरद और स्वश) सिद्ध कर रहे हैं कि आर्य्यावर्त के धर्म-परायण ब्राह्मणों का प्रचार जब किसी कारण रुक गया और उक्त चीनादि जातियां पूर्ण धर्मशिक्षा प्राप्त न करने लगीं तब पतित हो गईं । अर्थात् उक्त दोनों श्लोक उस समय के पश्चात् बने जब कि आर्य्यावर्त भली भांति बस चुका और इस के ब्राह्मण कुछ काल तक भली भांति धर्मप्रचार कर किसी कारण कुछ काल के लिए इधर उधर जाने से रुक गए । क्योंकि उक्त दशाष्ट महर्षि मनु वा उन के पुत्र महर्षि भृगु वा मरीचि वा उन के वंशज स्वायम्भुव मनु के समयों की नहीं हो सक्तीं, अतः निश्चय है कि उक्त श्लोक जो आशय प्रकट करते हैं वह उक्त महानुभावों के समयों के बहुत पीछे के हैं । इसी प्रकार के अन्यान्य भी कई श्लोक ऐसे हैं जिन के भाव तो अति उत्तम हैं परन्तु वे मनु वा भृगु वा स्वायम्भुवमनु के समयों के नहीं हो सकते । वाममार्ग की शिक्षा वाले श्लोक यथा:—

“न मांसभक्षणं दांपो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ मनु० ५।५६ ॥

तथा मनुस्मृति तृतीयाध्याय के वह सब श्लोक जो भिन्न २ पशुओं के मांसों से पितरों के लिए पिण्डप्रदान की शिक्षा देते हैं तथा वह सब श्लोक जो स्वार्थपरता तथा अन्यान्य क्षुद्राशयों की शिक्षा देते हैं जो मनुस्मृति के गम्भीर आशययुक्त सर्वहितकारी सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल हैं निस्सन्देह बहुत पीछे से मनुस्मृति के भाग बने हैं ।

इन सब कथनों को श्रवण कर कदाचित् कोई ऐसा प्रश्न करे कि यह क्यों न माना जाय कि मनुस्मृति उक्त सब अवस्थाओं के व्यतीत हो जाने पर पीछे से नवीनकाल में बनी ? तो उस का उत्तर यह है कि यदि नवीनकाल में ही मनुस्मृति बनी रहती तो इस के प्रमाण महाभारत तथा बाल्मीकि रामायण में नहीं मिलते । परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है कि सारी की सारी वर्तमान मनुस्मृति प्राचीनकाल में विद्यमान थी क्योंकि इस में जो क्षेपकरूप आधुनिक वार्ताएं हैं वह प्राचीन काल की नहीं मानी जा सकती ।

मनुस्मृति से निकले हुए तथा उस में प्रक्षेप किए हुए श्लोकों की संख्या—

इस के अतिरिक्त निरुक्त अध्याय ३, पा० १ में लिखा है:—

“ अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः

मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

परन्तु यह श्लोक वा इस आशय का कोई अन्य श्लोक अब मनुस्मृति में नहीं मिलता । इसी प्रकार शङ्करादिग्विजय, मिताक्षरा, निर्णयसिन्धु, स्मृतिरत्नाकर, पराशर-माधव, स्मृतिचन्द्रिका, विवादभङ्गार्णव, प्रायश्चित्तमयूख आदि अनेक ग्रन्थों में मनु के नाम से पचासों वचन उद्धृत हैं परन्तु उन का पता वर्तमान मनुस्मृति में नहीं लगता इस से सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में पहले बहुत से श्लोक ऐसे भी थे जिन्हें वा जिन के आशयों को अन्यान्य ग्रन्थकारों ने उद्धृत किया था परन्तु किसी कारण वे श्लोक निकल गए । ऐसा भी सम्भव है कि क्षेपक भरने वालों ने ही मनुस्मृति से श्लोकों को निकाला हो और उन के स्थानों में अपने श्लोक रख दिए हों जिस में गणना में भेद न होने पावे । परन्तु पाप एक न एक दिन प्रकट होता ही है । तदनुसार उन की अनुचित कार्यवाही दिनों दिन अधिक २ प्रकट होती जाती है । मनु के वचन जो अन्यान्य ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु अब वे मनुस्मृति में नहीं हैं उन की संख्या प्रायः ३०० तीन सौ तक अद्यावधि जानी गई है तथा जो श्लोक मनुस्मृति में क्षेपकरूप से वाममार्ग के प्रचारकाल के कुछ समय पूर्व वा पीछे से मिलाए गए हैं उन की संख्या प्रायः ४०० चार सौ तक है ।

हमारे ऊपर के लेख को अवलोकन कर तथा अधीर हो कर कोई ऐसा भी कह सकता है कि जब कि मनुस्मृति इस प्रकार जोड़ तोड़ और काट छांट के भीतर पड़ चुकी है तो उस पर श्रद्धा करना भी व्यर्थ ही है । परन्तु ऐसे कथन करने वाले का हम सम्मति देंगे कि वह एक बार आद्योपान्त मनुस्मृति को पढ़ जावे पुनः मनुस्मृति के बहुमूल्य रत्न जो कूड़े करकट के साथ २ भी दमक रहे हैं वे आप ही उन के मन को आकर्षित करलेंगे । अब इन बातों को छोड़ कि इस मनुस्मृति में अमुक २ श्लोक मनु वा भृगु वा स्वायम्भुव मनु की प्राचीन शिक्षाऽनुसार कहे जा सक्ते हैं तथा अमुक २ श्लोक श्रीमान् महाराज इक्ष्वाकु के समय के पीछे के किसी धार्मिक विद्वान् वा विद्वानों के कहे हुए तथा अमुक २ श्लोक वाममार्ग के प्रचार के कुछ समय पूर्व वा पीछे के किन्हीं साधारण पंडु लिखे तथा स्वार्थप्रिय लोगों के हैं, हम २६८४ श्लोक पूर्ण वर्तमान मनुस्मृति से कतिपय लाभकारी विषयों को संक्षेपतः अङ्कित करते हैं ॥

द्वितीयपरिच्छेद ।

वर्णाश्रमधर्म

आर्य्य और दस्यु—द्विजाति और शूद्र—नात्य—अनुलोमज, प्रतिलोमज, वर्णसङ्कर चारवर्ण—ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य—शूद्र—क्या शूद्र ही आर्य्यावर्त के आदि निवासी हैं ? शूद्र वा गुलाम—चारों वर्णों के सामान्यधर्म—आश्रमों की व्यवस्था—ब्रह्मचर्याश्रम—गुरु और शिष्य—अनध्याय—गुरु ही वर्ण व्यवस्थापक था—गृहस्थाश्रम—एक पुरुष की एक पत्नी—स्वयम्बरविवाह—कन्याविक्रय का निषेध—पञ्चमहायज्ञ—खाद्याऽवाद्य—साधारण स्वच्छता सम्बन्धी नियम—मान्य के नियम—स्त्रियों की स्थिति—वानप्रस्थ—संन्यास—सब आश्रामों का सामान्यधर्म ।

आर्य्य और दस्यु—मनुस्मृति अध्याय दश के निम्नलिखित पैंतालीसवें श्लोक से ज्ञात होता है कि संसार की मनुष्य जाति के मुख्य दो भेद थे । एक भेद के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे और दूसरे भेद के अन्तर्गत वह सब मनुष्य थे जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्रों से उत्पन्न हो कर भी (चाहें वे समवर्ण के स्त्री पुरुषों से उत्पन्न हुए हों वा विषमवर्ण के स्त्री पुरुषों से उत्पन्न हुए हों) भ्रष्टाचार के कारण दुष्ट वा दस्यु कहलाते थे । यथा:—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।

म्लेच्छवाचश्चार्यावाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ (मनु १०।४९।)

अर्थात् इम संसार में ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से उत्पन्न हुई परन्तु (भ्रष्टाचार के कारण) उन से बहिष्कृत हुईं जो जातिपां हैं चाहे वे म्लेच्छ-भाषा बोलती हों वा आर्य्यभाषा बोलती हों वे सब की सब दस्यु नाम से पुकाराई गई हैं*

* प्रासंगिक होना है कि दस्युओं के भीतर केवल वही दुराचारी लोग सम्मिलित नहीं थे जो अतिदुष्ट होने से “आर्य्यावाचः” उस समय की आर्य्यभाषा अर्थात् संस्कृत के शब्दों को विस्फुट उच्चारण नहीं कर सकने के कारण म्लेच्छ भाषा बोलते हों प्रत्युत दस्युओं के भीतर उन दुराचारियों की भी गणना थी जो आर्य्यभाषा भली भाँति बोल भी सके थे । महर्षि पाणिनी अपने धातुपाठ में लिखते हैं “म्लेच्छ शब्दके शब्दे” अर्थात् म्लेच्छ धातु का प्रयोग अविस्फुट भाषण अर्थ में होता है जिस से पता लगता है कि जो लोग अतिदुष्ट रहने के कारण संस्कृत शब्दों का ठीक २ उच्चारण नहीं कर सके और संस्कृत शब्दों को बिगाड़ २ कर बोलने लगे उन्हीं की भाषा म्लेच्छ (अविस्फुट) कहलाने लगी । क्योंकि आर्य्यावर्त तथा उस के आसपास के स्थानों से भिन्न देशों में संस्कृत का प्रचार होता नहीं रह सका जैसा कि आर्य्यावर्त में तथा वस के आस पास रहा इस कारण अन्यत्र देशों में म्लेच्छ-भाषा

इस लोक से यह भी प्रकट होता है कि संसार के मनुष्य मात्र एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं क्योंकि दस्युओं की उत्पत्ति भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से ही हुई है, दोनों कांठि के मनुष्यों में भेद केवल सदाचार और दुराचार का ही है ।

जब कि उक्त श्लोकानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों से उत्पन्न हुए मनुष्य भी दुराचार के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र नहीं रह सके तो निश्चय है कि सदाचार के धारण करने पर दस्यु नामाङ्कित मनुष्य वा उन की सन्तान भी नीच नहीं बनी रह सकती ।

क्या वर्तमान आर्य, मनुस्मृति की उक्त शिक्षा पर ध्यान देंगे और अपने पुरुषाओं से बिलुड़े हुए दस्युओं की सन्तानों के बाच भी सदाचार का प्रचार कर पुनः उन्हें श्रेष्ठ बनाने की चंष्टा करेंगे ?

द्विजाति और शूद्र—मनुस्मृति अध्याय दश के निम्नलिखित चतुर्थ श्लोक से ज्ञात होता है कि वर्ण केवल चार ही होते हैं:—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ मनु १०।४ ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण “द्विजाति” हैं और चौथा शूद्र “एक जाति” है (इन के अतिरिक्त) पांचवां कोई वर्ण नहीं है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति अर्थात् दो जन्म वाले इस कारण कहलाते हैं कि उन्होंने ने शरीर सम्बन्धी एक जन्म तो अपने पिता माता से धारण किया था और दूसरा ज्ञानसम्बन्धी जन्म उन्होंने ने गुरुनामक पिता और सावित्री नामक माता से ग्रहण किया और शूद्र एकजाति अर्थात् एक जन्म वाला इस कारण कहलाता है कि वह

अधिकतर कैल गड और उस के भी अनेक भेद होगये । क्योंकि जिस स्थल में त्रिव वस्तु की अधिकता होनी है वह स्थल प्रायः उसी नाम से पुकारा जाता है यथा जिस ग्राम में अधिक वणिक हों और ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र कम हों तो उस ग्राम को प्रायः वणिकों का ग्राम कहते हैं उसी प्रकार संस्कृतभाष्यों के देश आर्यवर्त तथा उसके आस पास के स्थानों से निम्न २ देशों में म्लेच्छ भाषा (सूखी की भाषा) बोलने वालों की अधिकता के कारण उन देशों का नाम भी म्लेच्छ देश पड़ गया और इसी कारण मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक २३ में लिखा है “म्लेच्छदेशस्ततः परः” अर्थात् आर्यभाषियों के देश से म्लेच्छ देश परे है । क्योंकि दस्युओं के भीतर आर्यभाषी कम और म्लेच्छभाषा अधिक थे इस कारण सम्भव है कि कालांतर में दस्युओं का नाम म्लेच्छ भी पड़ गया हो ।

शरीरसम्बन्धी केवल एक जन्म अपने पिता माता से ग्रहण कर सका और गुरु की शरण में उपस्थित हो ज्ञानसम्बन्धी दूसरा जन्म धारण न कर सका । परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्रकुल में उत्पन्न हुआ वह सदा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र ही बना रहेगा क्योंकि मनुस्मृति अध्याय दश श्लोक ६५ में यह लिखा है:—

शूद्रो ब्राह्मणतामिति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातपवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ मनु । १०।६५

जिस का तात्पर्य यह है कि शूद्रकुल में उत्पन्न हो के ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के समान गुण कर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य हो जाय वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उस के गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हो तो वह शूद्र हो जाय वैसे ही क्षत्रिय वा वैश्यकुल में उत्पन्न हो कर ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण वा शूद्र भी हो जाता है ।

इस श्लोक से यह भी भाव टपकता है कि शूद्रों की उन्नति में प्राचीन समय किसी प्रकार का रुकावट नहीं डाली जाता था । यदि रुकावट डाली जाती तो ब्राह्मण बनने के लिए जो पूर्णज्ञान और तपश्चरण की अवश्यकता है उसे शूद्रकुमार किस प्रकार धारण कर सकता !

इस श्लोक के भाव के विरुद्ध जो श्लोक मनुस्मृति में आते हैं वे प्राक्षप्त हैं क्योंकि मनुस्मृति का उद्देश्य क्या है, इस विषय को वर्णन करते हुए मनुस्मृति में लिखा है:—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मं निविशेत वै । मनु० २ । ८ ।

अर्थात् विद्वान् को चाहिए कि इस सब को [इस धर्मशास्त्र को] ज्ञान के नेत्रों से तथा वेद के प्रमाणों से जांच और अपने धर्म वा कर्तव्य में संलग्न हो जाय ।

और क्योंकि यह परम प्रसिद्ध बात है कि वेद के मन्त्र—

“यमेथां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्याश्शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय” में शूद्रों के लिए भी वैदिक ज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता

बतलाई है अतः मनुस्मृति का श्लोक “शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमन्वन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च” वदानुकूल होने से प्रामाणिक और इस से विरुद्धभाव वाले श्लोक अप्रामाणिक हैं । चारों वर्णों का धर्म वर्णन करते समय शूद्रों के विषय में पुनः लिखा जायगा उसे भी अवलोकन कर लेना चाहिए ।

ब्राह्मण- मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक २० बांस में ब्राह्मणों की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—

द्विजातयः मवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।

तान् सावित्रीपरिभ्रष्टा न ब्राह्म्यानिनि विनिर्दिशेत् ॥ (मनु १०।२०।)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने २ वर्ण की स्त्री में जिन ऐसे सन्तानों को उत्पन्न करते हैं जो ब्रह्मचर्यादि व्रतों का धारण नहीं करते उन गायत्री मन्त्रादि उपदेश रहित सन्तानों को ब्राह्मण कहते हैं । इम स सिद्ध होता है कि द्विजों से उत्पन्न हुए पुत्र शिक्षा रहित होने के कारण ब्राह्मण कहलाते थे । शूद्रकुमार भी जब शिक्षारहित होते थे तो शूद्र ही रह जाते थे अतः ब्राह्मण और शूद्रों में सिवाय द्विज पिता माता और शूद्र पिता माता से जन्म धारण करने के और कोई भेद न था । दोनों प्रायः समान ही माने जाते थे । हां, यदि ब्राह्मण यज्ञोपवीत धारण तथा वेदारम्भसंस्कार नियत अवधि * तक न करने के अपराध के लिए प्रायश्चित्त कर लेते थे और वे उक्त संस्कारों के योग्य समझे जाते थे तो उन का यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भसंस्कार पुनः होता था । परन्तु जो प्रायश्चित्त कर उक्त संस्कार नहीं कराते थे वे पतित कर दिये जाते थे यथा:—

* नोट:—मनु अध्याय २, श्लोक ३८ में लिखा है:—

आशोडषाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते ।

आष्टाविंशत् सत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विंशः ॥ मनु० अ० २, श्लोक ३८ ॥

अर्थात् (अधिक से अधिक) सोलह वर्ष की आयु तक ब्राह्मणकुमार २२, वर्ष की आयु तक क्षत्रियकुमार, तथा २४ वर्ष की आयु तक वैश्यकुमार के सावित्री धारण अर्थात् वेदारम्भ संस्कार का समय बना रहता है । (मनु० अ० २, श्लोक ३७ के अनुसार तो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य कुमारों के यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भसंस्कार का उत्तम समय पांच वर्ष से आठ वर्ष तक की आयु तक बतलाया गया है परन्तु उक्त वर्षों में वा उन के कुछ काल उपरांत तक यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ न हो सकने की दशा में इन संस्कारों का समय अधिक से अधिक १६, २२ तथा २४ वर्ष की आयु तक नियत किया गया है ।

अनः ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमभंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता ब्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ मनु० २।३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।

ब्राह्मणान्यौनांश्च सम्बन्धान्नाचरद्ब्राह्मणः सह ॥ मनु० २।४० ॥

इस के पश्चात् (अर्थात् क्रमशः १६, २२ तथा २४ वर्षों के पश्चात्) तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकुमार) यथा समय संस्कृत न होने के कारण सावित्री के उपदेश के अयोग्य अर्थात् वेदारम्भसंस्कार के योग्य नहीं रहते, ब्रात्य हो जाते हैं और आर्य इन्हें घृणित मानते हैं । इन पवित्रता रहित (प्रायश्चित्त से न शुद्ध हुए) ब्रात्यों के साथ आपत्काल में भी ब्राह्मणादि वर्ण के लोग विद्यासम्बन्ध वा विवाह-सम्बन्ध न करें ।

जिस प्रकार द्विजकुलोत्पन्न कुमार वेदारम्भसंस्कार रहित होने के कारण ब्रात्य हो जाते थे उसी प्रकार वेदारम्भसंस्कार रहित द्विजकन्याएं भी ब्रात्या हो जाती थीं। इन की जो सन्तति होती थी उन के भद्र मनु० अध्याय १०, श्लोक २१, २२ तथा २३ में इस प्रकार वर्णित हैं:—

ब्रात्यात्तु जायते विपात् पापात्मा भूर्जकण्ठकः ।

आवान्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ मनु० १०।२१ ॥

झल्लो मल्लश्च राजन्याद् ब्रात्यान्निच्छिविरेव च ।

नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ मनु० १०।२२ ॥

वैश्यात्तु जायते ब्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च ।

कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ मनु० १०।२३ ॥

अर्थात् ब्राह्मणकुलोत्पन्न ब्रात्य से जो घृणित सन्तति होती है उस की संज्ञा भूर्ज-कण्ठक, आवान्त्य, वाटधान, पुष्पध, शैख है । क्षत्रियकुलोत्पन्न ब्रात्यों की सन्तति की संज्ञा झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस, द्रविड है । वैश्यकुलोत्पन्न ब्रात्यों की सन्तति सुधन्वाचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र, सात्वत है ।

निश्चय है कि उक्त सन्तति की उक्त संज्ञाएं तभी तक बनी रहती होंगी जब तक कि वे अपने मूर्ख पिता माता की भांति ही मूर्ख बने रहते होंगे । परन्तु जब कि वे ब्रह्मचर्यादि व्रतों तथा अन्यान्य तपों को धारण कर विद्वान् और पवित्र हो कर एवं श्रेष्ठवर्ण की पदवी योग्य बन कर उच्चकुलों के साथ विवाहादि सम्बन्ध कर-

लेते होंगे तो उन में किसी प्रकार की भी नीचता नहीं मानी जाती होगी । इस विषय में मनु०, अध्याय दश, श्लोक ४१ तथा ४२ में इस प्रकार का लेख है:—

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिण्०

शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेष्वध्वंसजः स्मृताः ॥ मनु० १०।४१॥

तपांवीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।

उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ मनु० १०।४२ ॥

(द्विजातियों के) समवर्ण के पुरुष स्त्री से (अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी, क्षत्रिय क्षत्रियाणी, वैश्य वैश्या सं उत्पन्न हुई तीन प्रकार की सन्तान तथा (द्विजों के) विषमवर्णों के नर नारी से अनुलोमज तीन प्रकार की सन्तान (अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिया से १. ब्राह्मण वैश्या से १, क्षत्रिय वैश्या से १) जो कि द्विजधर्म वा द्विज-संस्कारों वाली हांती हैं तथा अपध्वंसज अर्थात् नीच वर्ण वाले पुरुष और उच्चवर्ण वाली स्त्री के विवाह से उत्पन्न हुई प्रतिलोमज सन्तति अर्थात् शूद्र से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या में, वैश्य से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया में, क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तति और अन्यान्य वह सन्तति भी जो विगर्हित नर नारियों के घृणित विवाह से उत्पन्न हुई हों जो कि शूद्रधर्म वा शूद्रसंस्कारों वाली होती हैं वह सब की सब तप और बीज के प्रभाव से प्रत्येक युग में अर्थात् सभी समय इस संसार में मनुष्यों के बीच जन्म धारण करने के कारण अर्थात् मनुष्य होने के कारण उच्चता और नीचता को प्राप्त होती हैं ।

उक्त श्लोकों में वर्णित अनुलोमज और प्रतिलोमजों के विषय में तो हम आगे लिखेंगे । यहां इन श्लोकों के उद्धृत करने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों की सन्तान जो प्रायः शूद्र संस्कार वाली शूद्रवत् मानी जाती थी उन्हें भी तप करने का अधिकार प्राप्त था (ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः) अर्थात् ब्रह्मचर्यादि व्रत धारण कर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो अपन को तपस्वी एवं धर्मात्मा वा ब्रह्मणादि बनाने का अधिकार उन्हें प्राप्त था (देखिए विशेष तप के प्रभाव को राजर्षि मनु अध्याय ११, श्लोक २३६ में कितना महान् बतलाते हैं) । अतः कदाचित् ही कोई ब्राह्मणकुमार जिस की बुद्धि जन्म से ही विशेष कुण्ठित होती होगी वह अपने को उन्नत करने की चेष्टा न करता हो तो न करता हो, परन्तु अन्यान्य प्रायः सभी ब्राह्मणकुमार जिन सत्त्वों को वे प्राप्त कर सकते होंगे उन की प्राप्ति के लिए अवश्य ही चेष्टा करते होंगे ।

यद्यपि मनुस्मृति के देखने से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण नाम नीच नर नारी भी

भारत में विद्यमान थे परन्तु मनुस्मृति अध्याय ७ के श्लोक १५१ तथा १५२ के कारण ज्ञात होता है कि प्राचीनभारत में ब्राह्मणों की संख्य अत्यन्त ही न्यून होती होगी ।

मध्यदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्ता विगतक्लमः ।

चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा मनु ७ । १५१ ॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समु नम् ।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ मनु ७ । १५२ ॥

अर्थात् (राजा को चाहिये कि) मध्यदिन वा मध्यरात्रि के समय जब कि वह शरीर और मन के क्लेशों से रहित हो धर्म, अर्थ और काम के विषय में स्वयं अकेले वा अपने मन्त्रियों के साथ चिन्तन करे । यदि धर्म, अर्थ, कामसम्बन्धों किन्हीं कार्यों में इन का परस्पर विरोध भान होंवे तो उस विरोध का परिहार कर उन से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों को सिद्ध करे (और ऐसे ही शान्तिमय विचार के समय अपने मन्त्रियों के साथ वा स्वयं अकेले ही) (अपने राज्य की) कन्याओं को कन्यादानयोग्य बनाने तथा कुमारों की (सुशिक्षादि द्वारा) रक्षण करने के विषय में भी (चिन्तन किया करे) ।

जब कि प्राचीन समय के आर्यराजा का यह कर्तव्य था कि वह अपने देश के सभी कुमारों तथा कन्याओं को योग्य बताने की यथाशक्ति चेष्टा करे तो कैसे सम्भव हो सकता है कि देश का कोई भी कुमार वा कन्या अपठित रहे सक्ती हो । हां, केवल वही कुमार वा कन्या अपठित रहती होगी जो जन्म से ही कुण्ठित बुद्धि वाली हो । जिस आत्मा को उस के पूर्व पापों के कारण परमात्मा ने ही अतिमन्द बुद्धि दी हो उस की शिक्षा के लिए राजा वा कोई अन्य मनुष्य ही क्या कर सकता है? अतः ज्ञात होता है कि प्रायः वही कन्या वा कुमार ब्राह्मण होते होंगे जिन की बुद्धि अत्यन्त ही मन्द होती होंगी । यद्यपि ऐसी कन्याएं वा कुमार बहुत ही कम होते होंगे तथापि कुछ न कुछ होते ही होंगे अतः उन थोड़ों के लिए भी ब्राह्मण सम्बन्धी नियम बनाने ही पड़े ।

अनुलोमज, पनिलोमज, वर्षामङ्कर—संसार का कोई भी समय ऐसा न था जब कि इस में विद्या और अविद्या दोनों विद्यमान न हों । बड़े २ अन्वकार के समय भी जब कि अविद्या की काली घटा गर्ज रही थी, विद्या की विद्युत् कभी न कभी चमक ही जाती थी । एवं जिन दिनों विद्या और सदाचार का

बड़ा प्रचार था, जिधर देखिए उधर ही ज्ञानियों की गोष्ठी दीख पड़ती थी, उन दिनों भी किसी न किसी कोने में कोई न कोई अश्रेष्ठ पुरुष दिखाई देता ही था, जिस समय भारत में वर्णाश्रमधर्म का पालन राजा और प्रजा दोनों मिल कर बड़ी तत्परता के साथ करते थे उस समय भी असम्भव नहीं कि वर्णाश्रमधर्म विरुद्ध कोई २ अश्रेष्ठ कर्म कभी २ किसी २ से हो जाते हों । मनुस्मृति का एक वाक्य है:—

“बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपिकर्षति”

अर्थात् बलवती इन्द्रियां विद्वानों को भी खींचती हैं । सम्भव नहीं कि सभी विद्वान् उस आकर्षण से आकर्षित हो जाय परन्तु कभी २ कोई २ आकर्षित हो जाय तो आश्चर्य भी नहीं है । विवाहविषय में यद्यपि यह विस्पष्ट आज्ञा थी कि सम गुण कर्म स्वभाव वाले अर्थात् समवर्ण के पुरुष स्त्री का विवाह हो और प्रायः ऐसा ही होता भी था तथापि कोई २ (चाहे लाख में एक ही क्यों न हो) ऐसे नर नारियों का भी सम्बन्ध हो जाता था जो विषमवर्ण के होते थे, और क्योंकि ऐसे नर नारियों के योग से भी सन्तति उत्पन्न होती ही थी अतः समाज को नियमबद्ध रखने के लिए आवश्यक था कि व्यवस्थापक उन के विषय में भी कुछ न कुछ विशेष नियम बनाव ।

सन्तान का जन्म और उस का पोषण पालन तभी सम्भव हो सक्ता है जब कि पिता माता जीवित रहें । मनु अध्याय ८ श्लोक ३७१ तथा ३७२ से ज्ञात होता है कि व्यभिचारिणी स्त्री तथा व्यभिचारी पुरुष को राजा मरवा डालता था* अतः जायकर्म से सन्तानोत्पत्ति प्रायः असम्भव थी । अतः विषमवर्ण के नर नारी का जो सम्बन्ध होता था वह विवाहसम्बन्ध (चाहे गान्धर्वविवाह ही हो) के सिवाय

* नोट:—भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्रीज्ञातिगुणदर्पिता ।

तां श्वभिः खादयेद्भ्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ मनु ८ । ३७१ ॥

पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तत्र श्वायसे ।

श्वभ्यादध्युक्ष्य काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ मनु ८ । ३७२ ॥

अर्थात् यदि स्त्री अपने जाति और गुण के श्रांभमान से अपने पति को छोड़ अन्य से व्यभिचार करे तो उस स्त्री को राजा बहुत से मनुष्यों के सम्मुख कुर्त्तों से कटवाकर मरवा डाले, और जो व्यभिचारी पुरुष हो उस को श्वाग से उत्तम लोहे के पलंग पर सुलाकर जला देवे, उस जलते हुए पर काष्ठ डाल दिया जाय ताकि पापी भली भाँति जल जावे ।

अन्य कोई सम्बन्ध न था । ऐसे विवाहों में भी उच्चवर्ण के पुरुष और नीचवर्ण की स्त्री का सम्बन्ध नीचवर्ण के पुरुष और उच्चवर्ण की स्त्री के सम्बन्ध से अच्छा समझा जाता था । ऐसे विवाहों के विषय में ही मनुस्मृति, अध्याय ३ तीन श्लोक १२ तथा १३ में लिखा है :—

सवर्णाग्ने द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ मनु ३ । १२ ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाऽग्रजन्मनः ॥ मनु ३ । १३ ॥

अर्थात् विवाहविषय में प्रथम तो प्रशस्त बात यह है कि द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने २ वर्ण की कन्या से विवाह करें परन्तु इन द्विजों में से जो कोई इच्छापूर्वक (विशेष स्वतन्त्रता से) विवाह करना चाहते हों तो उन के लिए ये (कन्याएं) क्रमशः श्रेष्ठ हैं, शूद्र के लिए शूद्रा, वैश्य के लिए वैश्या वा शूद्रा, क्षत्रिय के लिए क्षत्रियाणी वा वैश्या वा, शूद्रा, ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या वा शूद्रा ।

इन श्लोकों से यह पता लगता है कि सवर्णविवाह जो प्रजावृद्धि और धर्मवृद्धि के विचार से किया जाता था वह सर्वोत्तम था । और अपने से एक निचले वर्ण की कन्या के साथ विवाह यथा वैश्य का शूद्रा के साथ अथवा क्षत्रिय का वैश्या के साथ अथवा ब्राह्मण का क्षत्रिया के साथ सवर्णविवाह से निचले कोटि का माना जाता था और अपने से दो कोटि निचली कन्या के साथ विवाह यथा क्षत्रिय का शूद्रा के साथ अथवा ब्राह्मण का वैश्या के साथ, “ एक कोटि निचली वर्ण की कन्या के साथ जो विवाह होता था ” उस से निचली कोटि का समझा जाता था और ब्राह्मण का जो विवाह शूद्रा से होता था वह उक्त सब विवाहों से निचली कोटि का माना जाता था । परन्तु वह विवाह अधम समझे जाते थे जो विवाह कि एक शूद्र और एक ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या से, अथवा एक वैश्य और एक ब्राह्मणी वा क्षत्रिया से अथवा एक क्षत्रिय और एक ब्राह्मणी से होता था ।

जिस में विवाह समगुण कर्म स्वभाव वा समवर्ण वाले पुरुष स्त्रियों का हुआ करे जिस में गृहस्थाश्रम, नर नारी दोनों के एक प्रकार की वृत्ति वाले होने से सुख-धाम बना रहे, समवर्ण के विवाहों को अत्युत्तम समझा जाता था । विषमवर्ण के

विवाहों से जो सन्तति उत्पन्न होती थीं उन की संज्ञा पृथक् २ बांधी जाती थी । यथा जो सन्तति उच्चवर्ण के पुरुष से नीचवर्ण की स्त्री में उत्पन्न होती थी (जो कि केवल छः प्रकार की हो सकती थी) उन सब को अनुलोमज वा अपसद कहते थे इन अपसदों में से ब्राह्मण से क्षत्रिया में जो सन्तति उत्पन्न होती थी उस की अनुलोमज वा अपसद के अतिरिक्त कोई अन्य विशेष संज्ञा नहीं होती थी एवं जो क्षत्रिय से वैश्या में अथवा वैश्य से शूद्रा में अर्थात् एक वर्ण नीची कन्या में एक वर्ण ऊंचे पुरुष से जो सन्तति होती थीं उन सब की भी अनुलोमज वा अपसद के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष संज्ञा नहीं होती थी परन्तु जो सन्तति ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न होती थी उस की संज्ञा अपसद वा अनुलोमज के अतिरिक्त अम्बष्ट भी पड़ती थी एवं ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुई सन्तान की संज्ञा निषाद वा पारशव, क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न हुई सन्तान की संज्ञा उग्र पड़ती थी, और जो सन्तति नीचवर्ण के पुरुष तथा उच्चवर्ण की स्त्री से उत्पन्न होती थी उन्हें (क्षत्रिय से ब्राह्मणी में) सूत, (वैश्य से क्षत्रियाणी में) मागध, (वैश्य से ब्राह्मणी में) वैदेह (शूद्र से वैश्या में) आयांगव, (शूद्र से क्षत्रिया में) क्षत्ता, तथा (शूद्र से ब्राह्मणी में) चाण्डाल कहते थे । इन छहों का एक नाम प्रतिलोमज वा अपध्वंसज भी था ।

उक्त प्रकार के नर नारियों के विवाहों के अतिरिक्त कभी कभी कोई २ ऐसे कामी नर नारियों का भी विवाह हो जाता था जो एक ही गोत्र के हों । ऐसे घृणित विवाह से जो सन्तति उत्पन्न होती थी उसे वर्णसङ्कर कहते थे । वर्णसङ्कर अन्यान्य भी कई प्रकार के होते थे ।

परन्तु चाहे कैसे भी नीच नर नारी से सन्तति उत्पन्न हुई हो उस के लिए भी उन्नति का मार्ग खुला रहता था और नीच पिता माता की सन्तान भी अपनी उन्नति कर उत्तमोत्तम पदवियों को प्राप्त करती थी जिस की साक्षी मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक दे रहे हैं ।

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता निजधर्मिणः ।

शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ मनु ॥ १० । ४१ ॥

तपोबीजप्रभावेस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।

उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ मनु १० । ४२ ॥

(द्विजातियों के) समवर्ण के पुरुष स्त्री से (अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी, क्षत्रिय, क्षत्रिया, वैश्य वैश्या) उत्पन्न हुई तीन प्रकार की सन्तान तथा (द्विजों) के विषमवर्णों के नर नारी से अनुलोमज तीन प्रकार की सन्तान (अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिया से १, ब्राह्मण वैश्या से १, क्षत्रिय वैश्या से १) जो कि द्विजधर्म वा द्विजसंस्कारों वाली होती हैं तथा अपध्वंसज अर्थात् नीचवर्ण वाले पुरुष और उच्चवर्ण वाली स्त्री के विवाह से उत्पन्न हुई प्रतिलोमज सन्तति (अर्थात् शूद्र से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया वा वैश्या में, वैश्य से ब्राह्मणी वा क्षत्रिया में, क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तति) और अन्यान्य वह सन्तति भी जो विगर्हित नर नारियों के घृणित विवाह से उत्पन्न हुई हों जो कि शूद्रधर्म वा शूद्रसंस्कारों वाली होती हैं वह सब की सब तप और बीज के प्रभाव से प्रत्येक युग में अर्थात् सभी समय इस संसार में मनुष्यों के बीच उत्पन्न होने के कारण (मनुष्यशरीर धारण करने के कारण) नीचता और उच्चता को प्राप्त होती हैं ।

और क्योंकि आर्य राजा मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक १९२ में लिखे वचन “कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्” के अनुसार अपने देश में उत्पन्न हुई कन्याओं को सुशिक्षणादि द्वारा कन्यादानयोग्य बनाने तथा सुशिक्षणादि द्वारा कुमारों की रक्षा करने में तत्पर रहता था अतः चारों वर्णों की कन्याएं और कुमारों के अतिरिक्त वह साधारण वर्णसङ्करों और अतिनीच वर्णसङ्करों तथा व्रात्यों एवं उस के राज्य में बसने वाले दस्युओं की कन्याओं और कुमारों को भी यथा सम्भव योग्य बनाने की चेष्टा किया करता था और इस प्रकार नीचकुलों की भी बहुत सी कन्याएं और कुमार ब्रह्मचर्यद्वारा तपश्चरण कर उत्तमोत्तम बनजाते थे और समाज का विकृतभाग शुद्ध होता जाता था केवल वही निर्बुद्धि वा दुष्टाचारी जो अपने को उच्च बनाने में अयोग्य थे शूद्रों से भी नीच कोटि की दशा को भोगा करते थे और उन्हें उन नियमों का अनुसरण करना पड़ता था जो उन के लिये निर्धारित किए जाते थे ताकि बृहत्समाज मण्डल की उत्तरोत्तर उन्नति में बाधा न पड़े ।

चारवर्ण्य—मनुस्मृति के प्रमाणों से हम पूर्व ही अङ्कित कर चुके हैं कि वर्ण केवल चार भागों में विभक्त था जिन भागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। चारों वर्णों के लोग एक दूसरे के साथ ऐसे संगठित थे जैसे कि शरीर के भिन्न भिन्न अङ्ग एक दूसरे के साथ सम्बन्धित रहते हैं। अतः प्रत्येक वर्ण के लोग अपना कल्याण अन्य वर्णों के कल्याणों के साथ ही सम्मिलित स-

मझते थे और इसी कारण प्रत्येक स्त्री पुरुष अपनी २ योग्यतानुसार समाजोन्नति में प्रवृत्त हो जाता था चारों वर्णों के कुमार समाज के कुमार समझते जाते थे और जिन २ की बुद्धि विद्याध्ययन करने योग्य होती थी उन सब को साधारण शिक्षा से लेकर उच्च से उच्च शिक्षा तक विना मूल्य ही गुरुकुलों के द्वारा मिलती थी किसी भी कुमार को अपने भरण पोषण की चिन्ता न थी क्योंकि गृहस्थ मात्र ब्रह्मचारी कुमारों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना अपना धर्म समझते थे, और इन सब कुमारों के शिक्षण और रक्षण तथा सब कन्याओं को सुशिक्षादि द्वारा कन्यादान योग्य बनाने के प्रबन्धों की ओर ध्यान रखना राजा के मुख्य कर्तव्यों में से एक कर्तव्य था जैसा कि मनुस्मृति के लेख—“कन्यानां सम्पदानं च कुमारानां च रक्षणम्” के द्वारा हम दिखा आये हैं । कोई भी कुमार चाहे वह शूद्र का पुत्र ही क्यों न हो अपनी बुद्धिबल, तपोबल और शिक्षाबल से जिस पद योग्य बन जाता था वही पद उसे मिल जाता था जैसा कि “शूद्रो ब्राह्मणतामेति” नाम श्लोक द्वारा हम पूर्व ही दर्शा चुके हैं । जिस में सब के साथ निष्पक्ष न्याय हो इस लिए यदि ब्राह्मण कुमार वा क्षत्रियकुमार वा वैश्यकुमार बुद्धिहीनतादि कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं कर सक्ते थे तो उन कुमारों को शूद्रपदवी ही मिलती थी जैसा कि “ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्” आदि प्रमाण द्वारा हम पूर्व प्रदर्शित कर चुके हैं । तात्पर्य यह है कि सब के लिए उन्नति का मार्ग खुला हुआ था योग्यता प्राप्त कर जो कोई चाहे ब्राह्मण वा क्षत्रिय वा वैश्य बन सकता था । जो कोई अपनी बुद्धिहीनतादि कारणों से उक्त पदों के योग्य अपने को बना नहीं सकता था उसे शूद्र कहलाना पड़ता था परन्तु उस के लिए भी आवश्यक था कि वह किसी भी दशा में दुराचारी न हो । दुराचारी बनने पर वह शूद्रकोटि से भी पतित कर दिया जाता था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों तथा अनुलोमजों और प्रतिलोमजों के परस्पर सम्बन्धों से जो सन्तति उत्पन्न होती थी और जो वर्णसङ्करादि नामों से पुकारी जाती थीं उन के लिए भी उन्नति का मार्ग बन्द न था जैसा कि हम “शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः” तथा “तपो बीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे । उत्कर्ष चापकर्ष च मनुष्येष्विह जन्मतः” इन प्रमाणों द्वारा प्रकट कर चुके हैं ।

अब हम संक्षेपतः यह लिखना चाहते हैं कि किन २ प्रकार के गुण कर्म स्वभावों के धारण करने से किस २ वर्ण की योग्यता प्राप्त होती थी ।

ब्राह्मण—बनने के लिए किन किन साधनों में प्रवृत्त होना पड़ता था यह मनुस्मृति के लिखित श्लोक से ज्ञात होता है—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्यनेज्यया सुतैः ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनु ॥ मनु० २।२८ ॥

(स्वाध्यायेन) सकल विद्याओं के पढ़ने पढ़ाने से, (व्रतैः) ब्रह्मचर्य सत्य-
भाषणादि व्रतों के पालन करने से, (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य के ग्रहण,
असत्य के त्याग और सत्यविद्याओं के दान देने से “हू=दानादनयोः”, (त्रैविद्येन)
वेदस्थ कर्मोपासना और ज्ञान, इन तीन प्रकार की विद्याओं के ग्रहण से, (इज्यया)
पक्षेष्ट्यादि करने से, (सुतैः) सुमन्तानोत्पात्त से, (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ,
वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पञ्चमहायज्ञों के करने से, (यज्ञैः) अग्निष्टो-
मादि, तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से (ब्राह्मीयं क्रियते तनुः) इस
शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का
शरीर किया जाता है ।

उक्त प्रमाण स्पष्ट सिद्ध कर रहा है कि ब्रह्मचर्यव्रत धारणपूर्वक जो कोई उग्र
तपश्चरण कर एवं पूर्णधार्मिक और विद्वान् बन गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था और
गृहस्थ रहता हुआ भी विद्यादानादि कर्म जो ऊपर गिना आए हैं करता था वही
ब्राह्मण माना जाता था अन्य नहीं ।

ऐसे ब्राह्मणों के विषय में निम्नलिखित बातें भी मनुस्मृति में अङ्कित हैं:—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत त्रिषादिव ।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेद्वमानस्य सर्वदा ॥ अ० २ । १६२ ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।

सुखं चरति लोकेस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ अ० २ । १६३ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाऽभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ अ० २ । १६६ ॥

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।

सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ अ० ४ । १२ ॥

वेदोदित स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।

तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ अ० ४ । १४ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।

अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ अ० ४ । १६ ॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।

यथा तथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ अ० ४ । १७ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुदान्तः शुक्लांऽम्बरः शुचिः ।

स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ अ० ४ । ३५ ॥

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।

यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ अ० ४ । ३६ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्मण्यग्रजन्मनः ॥ अ० १० । ७५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ।

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ अ० ४ । १८६ ॥

प्रतिग्रहाद् याजनाद्वा तथैवाऽध्यापनादपि ।

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ अ० १० । १०९ ॥

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽर्जावन्यतस्ततः ।

प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ अ० १० । ११२ ॥

न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद्वाजनि धर्मवित् ।

स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान् मानवानऽपकारिणः ॥ अ० ११ । ३२ ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।

अहिंसा गुरुसेवा च निश्रेयस्करं परम् ॥ अ० १२ । ८३ ॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।

तद्द्वयं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ अ० १२ । ८५ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ अ० १२ । १०९ ॥

इन सब का भावार्थ यह है—ब्राह्मण (ब्रह्म अर्थात् वेद और ब्रह्म अर्थात् परमात्मा इन का जानने वाला) को चाहिए कि वह सम्मान को विष समझता हुआ उस से सदा डरता रहे और अपमान को अमृत समझता हुआ उस की सदा कामना करता रहे (अर्थात् वही ब्राह्मण समग्रवेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है, (अर्थात् ब्राह्मण सम्मान के लाभ से वा अपमान के भय से कभी भी स्वधर्म से पतित नहीं होता) क्योंकि जो कोई अपमानित किए जाने पर भी दुःख

नहीं मानता वह सुखपूर्वक शयन करता है सुखपूर्वक जागता है और लोगों के बीच सुखपूर्वक विचरता है तथा जो अपमान करने वाला है वह नाश को प्राप्त हो जाता है । (विशेष) तप की इच्छा करने वाले ब्राह्मण को चाहिए कि वह सदा वेदाभ्यास में लगा रहे क्योंकि ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास ही सर्वोपरि तप बतलाया गया है । यदि सुख चाहता है तो स्वस्थचित्त बना हुआ संतोष धारण करे क्योंकि सुख का मूल संतोष और दुःख का मूल असन्तोष ही है । अपने वैदिक (नित्य-नैमित्तिक) कर्मों को आलस्य रहित हो कर सदा सेवन करता रहे क्योंकि यथाशक्ति उन कर्मों के करने से वह परमगति अर्थात् मोक्ष (भी) प्राप्त कर सकता है । (भोग की) कामना से इन्द्रियों के विषयों में न फंसे (अर्थात् केवल शरीररक्षणार्थादि विशेष आवश्यकताओं के लिए विषयों से उपयोग ले) प्रत्युत विषयों में आसक्त न होने के लिए उन की भावना को भी मन से हटा देवे । स्वाध्याय के विरोधी जो जो अर्थ हों उन सब को परित्याग कर दे और येन केन प्रकारेण (वेदों के) पढ़ाने में लगा रहे क्योंकि यही उस की कृतकृत्यता है । शीश के बाल नख और दाढ़ी मुंडवाये हुए (मन और इन्द्रियों को) दमन किए हुए श्वेतवस्त्र धारण किए हुए (अन्तःकरण और शरीर से) पवित्र (ब्राह्मण को चाहिए कि) स्वाध्याय में तथा आत्मा (अपने तथा दूसरों के आत्मा के) के हित चिन्तन में लगा रहे * बांस की छड़ी, जलसहित कमण्डलु, यज्ञोपवीत तथा वेद (ग्रन्थ) धारण करे और कानों में सुन्दर सोने के दां कुण्डल (पहने रहे) । पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं । परन्तु दान लेने की योग्यता रखता हुआ भी दानग्रहण से पृथक् रहे, क्योंकि दान लेने से उस का ब्रह्मतेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है (अर्थात् उस का आत्मा दाता के सन्मुख संकुचित हो जाता है) ।

दान लेना, यज्ञ कराना तथा पढ़ाना इन में से दान लेना अन्य दो की अपेक्षा घृणित है क्योंकि यह शरीर छोड़ने पर भी बाधक होता है † जो ब्राह्मण अपनी

* नोट—(शीश के बाल मुंडवाए रहना, श्वेत वस्त्र धारण करना आदि जो ब्राह्मण चिन्ह हैं उन के न रहने से किसी का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो सकता । क्योंकि ब्राह्मण प्रायः उक्त वेष में रहते थे इस कारण उन का ब्राह्मण चिन्ह भी यहां लिख दिया गया है)

† तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण यदि जीविका के अभाव से अर्थात् दरिद्रता के कारण अपने तथा बुद्धिम्बियों के भरणपोषण के लिए कुछ उपायार्जन करना ही चाहे तो दान लेकर अथवा

वृत्ति द्वारा जीविका प्राप्त न कर सके वह इधर उधर से शिल और उच्छसम्बन्धी अर्शों को एकत्रित करे, दान लेने की अपेक्षा शिल अच्छा है और शिल से भी अच्छा उच्छ है * । जो कोई अपकारी पुरुष ब्राह्मण की कुछ हानि करदे तो धर्मात्मा ब्राह्मण को चाहिए कि उस हानि की सूचना राजा को न दे प्रत्युत (अहिंसादि वृत्तों के साधन से जो उसने द्रोहनिग्रह की शक्ति प्राप्त करली है उस) अपने बल से ही उन अपकारक पुरुषों को शिक्षा दे (अर्थात् ऐसा करे जिस से उन की अपकारक वृत्ति ही नष्ट हो जावे) । वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुसेवा ये (सब के सब) परम निश्चयस्कर हैं (परन्तु) इन सब में आत्मज्ञान सर्वोपरि है, वही सब विद्याओं में अग्र्य अर्थात् मुख्य है क्योंकि इसी के द्वारा अमृत अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है । जिन्होंने धर्म का आचरण कर वेदार्थबोधक वेद के अङ्ग उपाङ्ग आदि द्वारा वेद को भली भाँति पढ़ लिया है वे ही शिष्ट ब्राह्मण कहलाने योग्य हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा वेद के गूढ़ रहस्य प्रकट हो सके हैं † ।

यज्ञ कराकर और उस में दक्षिणा प्राप्त कर अथवा अपने पढ़ाव हुए स्नातक ब्राह्मणारियों से “गुरुदक्षिणा” लेकर अपना निर्वाह करे परन्तु निश्चय जाने कि उक्त तीनों में से दान लेना बहुत ही बुरा है जो कि उस के आत्मा को इस लोक में दीन बनाता है और परलोक में एक प्रकार का उपकार वा चहसान होने के कारण एक प्रकार के श्लेष के रूप में कल्याण का यथा सम्भव बाधक बनता है ।

* नोट:—जब कृषक खेत से पक्के हुए अर्शों को काटता है तो कुछ अन्न खेत में भी गिर जाता है । किसान के इन छोटे हुए अर्शों को दरिद्री लोग चुन लेते हैं । इस चुनने को “शिल” कहते हैं और किसी के एक वार चुन लेने के पश्चात् जब कोई उसी खेत में पुनः अन्न चुनने जाता है तो उस चुनने को “उच्छ” (अर्थात् चुने हुए पर चुनना) कहते हैं । जीविका रहित ब्राह्मणों के लिए मनुस्मृति में यह भी लिखा है:—

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।

राजा हि धर्मं चर्त्तुं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ मनु० अ० ११ । २३ ॥

अर्थात् इस (जीविका रहित ब्राह्मण) की जीविका नियत कर (राजा को चाहिए कि) इस की भली भाँति रक्षा करे क्योंकि इस रक्षा के कारण ही राजा (उस ब्राह्मण के किए हुए) धर्म का सदा भाग प्राप्त करता है ।

† नोट:—ब्राह्मणपदधीधारी धार्मिक विद्वानों की प्राचीन काल में इतनी प्रतिष्ठा थी कि राजा भी उन की पूजा करते थे यथा:—

आवृत्तानां गुरुकुलादिप्राणां पूजको भवेत् ।

नृपायामक्षयो ह्येव निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते । (मनु० अ० ७ । ८२)

परमात्मा कृपा करें कि बहुत से आत्मा ज्ञान और तप के प्रभाव से शिष्ट ब्राह्मणपद को प्राप्त कर वेदों के गूढ़ रहस्य मनुष्यों को समझावें ताकि संसार से अविद्या दूर होवे और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपना भाई समझे और सब, सब के उपकार में प्रवृत्त हो जावें ।

क्षत्रिय—मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ८९ में क्षत्रिय के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं:—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ मनु० १ । १८ ॥

अर्थात् प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयों में न फंसना ये संक्षेपतः क्षत्रिय के कर्म हैं ।

“राजधर्म” प्रकरण में इस विषय में विशेष लिखा जायगा ।

वैश्य—मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ९० में वैश्य के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं:—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ मनु०।१। ९० ॥

पशुओं का पालन पोषण करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, वाणिज्य करना सूद लेना तथा खेती करना ये वैश्य के कर्म हैं । पुन वैश्यों के विषय में मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक ३२९, ३३०, ३३१, ३३२ तथा ३३३ में लिखा है:-

मणिमुक्ताप्रवालानां लौहानां तान्तवस्य च ।

गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलः ॥ अ०९।३२९॥

बीजानामृषिष्विष्व स्यात् क्षेत्रदोषगुणस्य च ।

मानयोगं च जानीयात् तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ अ०९।३३०॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।

लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ अ०९।३३१॥

अर्थात् (राजा को चाहिए कि) गुरुकुल से (स्नातक बन कर) आए हुए ब्राह्मणों की पूजा किया करे (जो कि) राजाघरों को यह ब्रह्मनिधि ही नाश को प्राप्त नहीं होती ।

भृत्यानां च भृतिं विद्याद् भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
 द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ अ०९।३३२॥
 धर्मेण च द्रव्यवृद्धानातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
 दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ अ०९।३३३॥

अर्थात् वैश्य को चाहिए कि वह मणि, मोती, मूंगा, लोहा (धातुओं) कपड़ा सुगन्धित द्रव्यों, रसों (मीठे नमकीन आदि छः प्रकार के स्वाद वाले पदार्थों) इन सबों के सस्ते मंहगे होने के कारणों को जाने सब प्रकार के बीजों के बोने की रीति, खेत के दोष और गुण तथा सब प्रकार के मापों और तौलों को भी भली भाँति जानें, विक्रय वस्तुओं की उत्तमता वा निष्कृष्टता देशों के गुण और अवगुण (अर्थात् किस देश में वस्तु विशेष के विक्रय से लाभ और किस देश में विक्रय होने से हानि होगी) पण्यों के लाभालाभ अर्थात् विशेष वस्तुओं के विक्रय से कितना लाभ वा कितनी हानि होगी, पशुओं की वृद्धि की (विधि) जाने भृति अर्थात् किस पद के नीकरों को क्या वेतन मिलना चाहिए (अथवा किस जगह श्रम जीवी कितना दैनिक वा मासिक लेकर कार्य्य कर सक्ते हैं) इस बात को, (भिन्न २ देशों के) मनुष्यों की भिन्न २ भाषाओं को, विक्रय की वस्तु को कैसे स्थान में किस प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए इस बात को तथा क्रय विक्रय (बेचने और मोल लेने) के नियमों को जाने । (वैश्य को चाहिए कि) धर्म से द्रव्य बढ़ाने के लिए उत्तमोत्तम यत्नों में लगा रहे (अधर्म से कभी भी धन न कमावे) और बड़े यत्नों से सब प्राणियों को अन्न देता रहे ।

आहा ! धन वृद्धि, पुरुषार्थ, स्वार्थत्याग और परोपकार की कैसी उत्तमोत्तम ये शिक्षाएँ हैं । धन वृद्धि के लिए पूर्ण यत्न करने की तो शिक्षा है परन्तु अधर्म से धन कमाने का सर्वथा निषेध है ! और जो धन वृद्धि को प्राप्त हो उस के द्वारा वैश्य (सर्व भूतानां) प्राणिमात्र को अन्न देवे ऐसी शिक्षा है मानो प्राचीन काल के वैश्य केवल अपने ही लिए द्रव्योपार्जन नहीं करते थे प्रस्थुत प्राणिमात्र के भोजन के लिए । ऐसे परोपकारी पुरुषों के रहते हुए कोई भी प्राणी भूख की ज्वाला से काहे को दग्ध होता होगा ? ये वैश्य, देशमात्र के कैसे प्यारे पुरुष समझे जाते होंगे ! वैश्य धर्म के ह्रास से आज संसार कितना पीड़ित हो रहा है, शोक !

शुद्धः—अतिप्राचीन काल में जो लोग आचार्य्य की शिक्षाओं को धारण कर श्रेष्ठ बनजाते थे वे आर्य्य कहलाते थे और जो शिक्षाओं को धारण नहीं कर सक्ते

ये वे शूद्र बने रहते थे । परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी अविद्वानों की सन्तति मन्दबुद्धि ही हो अथवा सभी विद्वानों की सन्तान उत्तम बुद्धि वाली ही हो अतः अविद्वानों वा शूद्रों की वह सन्तान जो अच्छी बुद्धिवाली हुई और विद्याध्ययन कर सकी वह आर्य्य बनती गई और उन की जो सन्तति विद्याध्ययन न कर सकी वह अविद्वानों वा शूद्रों की कोटि में ही रहती गई । एवं विद्वानों की वह सन्तानें जो विद्याध्ययन कर सकीं वह आर्य्य और जो विद्योपार्जन न कर सकीं शूद्र कहलाती गई । मानो एक ही जाति के विद्वान् लोग आर्य्य और अविद्वान् लोग शूद्र कहलाने लगे । इस अनुमान की पुष्टि में ब्राह्मणग्रन्थादि से कवषेण्लूषादिविषयक कई ऐतिहासिक प्रमाण हम प्रस्तुत कर चुके हैं । उक्त अनुमान की पुष्टि मनुस्मृति के श्लोक-भी करते हैं । मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १७२ में लिखा है “ शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न ज्ञायते ” अर्थात् (द्विजों के कुमार भी) तब तक शूद्र के ही बराबर हैं जब तक वे वेद पढ़ने से द्विज नहीं बनते, और सच मुच जो द्विज-कुमार वेदारम्भसंस्कार करा कर वेदाध्ययन नहीं करता था वह व्रात्य कहलाने लगता था (देखिये म० अ० १० श्लोक २०) और वह द्विजकोटि से गिर कर शूद्र बन जाता था । अतः शूद्रवर्ण क भीतर शूद्रनामधारी केवल वही पुरुष नहीं थ जा शूद्र-पिता से उत्पन्न तथा शूद्रसमान मन्दबुद्धि वाले होते थे, प्रत्युत शूद्रों के भीतर उन द्विज सन्तानों की भी गणना थी जो स्वाभाविक मन्दबुद्धि होने के कारण विद्यारहित रह जाते थे । “ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ” आदि मनुस्मृति के अनेक प्रमाणों द्वारा हम यह सिद्ध कर आए हैं कि ज्ञान और तप के अभाव से ब्राह्मणकुमार शूद्र और ज्ञान और तप के प्रताप से शूद्रकुमार ब्राह्मण बन जाता था एवं द्विजाति और शूद्र बिल्कुल मिले जुले भाई भाई की तरह निवास किया करते थे ।

क्या शूद्र ही आर्यावर्त के आदि निवासी हैं ?

कई यूरोपीय ऐतिहासिकों का मत है कि “द्विज (आर्य्य) मध्य एशिया से आए थे और शूद्र इस देश (आर्यावर्त) के एबार्जिनीज अर्थात् आदिनिवासी थे, मनुस्मृति में जो शूद्रों पर अत्याचार करने की आज्ञाएं हैं उस का कारण यही है कि आर्य्य शूद्रों को दबाए रखना चाहते थे” ।

उक्त ऐतिहासिकों का यह कथन किसी भी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं

होता । भारत के अति प्राचीन इतिहास के विषय में किसी भी ऐतिहासिक को भारतीय अतिप्राचीन ग्रन्थों का ही सहारा लेना पड़ेगा । किसी भी अतिप्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में यह नहीं लिखा है कि आर्य जब आर्यावर्त में आए तो उन्हें इस देश के वास्तविक निवासियों का सामना करना पड़ा जिन्हें वे शूद्र नाम से पुकारने लगे । आर्यों के इस देश में आने का जो वृत्तान्त अति प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में लिखा है उस से पता लगता है कि आर्य लोग त्रिविष्टप देश (जिस की इच्छा हो वह उसे मध्य एशिया भी कह ले) से इस देश में आए और इस का नाम आर्यावर्त रक्खा, उन के आने के पूर्व यहां यदि कोई अन्य मनुष्यजाति निवास करती होती तो उस का कुछ न कुछ वर्णन अति प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में अवश्य होता । शूद्र और आर्य यदि भिन्न २ जाति के मनुष्य होते और आर्य शूद्रों को सदा पददलित रखना चाहते तो आर्य शूद्र कन्या से कभी भी विवाह करने का नाम न लेते और न अपने अधिद्वान् सन्तानों को शूद्रों की कोटि में डालते और न कभी शूद्रकुमारों को आर्यों की पदवी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से विभूषित कर उन्हें सब प्रकार अपने तुल्य बनाने को उद्यत होते । परन्तु जैसा कि मनुस्मृति के प्रमाणों से हम सिद्ध कर आए हैं आर्य लोग उक्त प्रकार शूद्रकुमारों के साथ बर्ताव करते थे अतः यह कहना कि आर्य, इस देश के वास्तविक निवासी शूद्रों को सदा पददलित रखना चाहते थे सर्वथा अप्रामाणिक है । अपने कथनों की पुष्टि में यूरोपीय ऐतिहासिक कहते हैं कि शूद्र और आर्यों की आकृति में भेद है अतः वे भिन्न २ हैं । यह कथन तो ऐसा है कि जिस की परीक्षा प्रत्येक पुरुष अपने नेत्रों से स्वयं कर सकता है । अनेक लोग जो आज कल शूद्रों के भीतर गिने जाते हैं बड़े २ सुन्दर आकृति वाले हैं और कई पुरुष जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न कहलाते हैं कई शूद्र कहलाने वालों से भी कम सुन्दर हैं । कई शूद्र कहलाने वाले गौरवर्ण के और कई ब्राह्मण कहलाने वाले कृष्ण वर्ण के विद्यमान हैं । और आकृति वा रंग आदि में तो खान पान के व्यवहार और निवास की रीतियों के कारण भी प्रायः भेद हो जाया करता है अतः आकृति वा रंग के द्वारा शूद्र और आर्यों की पहचान नहीं हो सकती । और न इस प्रकार की जांच प्राचीन आर्यों के पास थी क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र ऊपर की आकृति वा रंग के कारण कोई नहीं कहलाता था प्रत्युत आभिक गुण कर्म स्वभावों के कारण उक्त नाम मिलते थे । चाण्डालों को तो यूरोपीय ऐतिहासिक आर्यों की सन्तान बताते हैं परन्तु यदि कोई चाण्डालों और आर्यों, तथा शूद्रों और

आर्यों के रंग रूप मिलावे तो उसे ज्ञात हो जायगा कि शूद्रों के रंग रूप आर्यों से अधिक मिलते हैं और चाण्डालों के कम । दक्षिण भारत में जो द्रविड़ वा डैवेडियन बसते हैं उन्हें यूरोपीय ऐतिहासिक भारत में आर्यों से भी पहले आया हुआ बतलाते हैं और क्योंकि उन के साथ बसने वाले ब्राह्मण उन्हें अतिनीच शूद्र कहते हैं इसी कारण यूरोपीय ऐतिहासिक शूद्रों को भारत के आदि निवासी और आर्यों को पीछे से आया हुआ बताते हैं । क्योंकि नीच डैवेडियनों की भाषा बहुत ही भ्रष्ट है इस कारण यूरोपीय ऐतिहासिक उस भाषा को भी आर्यों की भाषा से भिन्न मानते हैं । परन्तु उक्त डैवेडियनों के विषय में यूरोपियों का जो कुछ कथन है वह अनुमान पर ही निर्भर है जो कि हमें ठीक २ प्रमाण-मूलक ज्ञात नहीं होता । मनुस्मृति की साक्षी:—

“ शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनन च ॥ मनु १० । ४३ ॥

पौण्ड्रकाश्चौद्द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।

पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ मनु १० । ४४ ॥

वर्तमान रहते हम कैसे मान लें कि द्रविड आर्यों की सन्तति नहीं है । उन की भाषा इतनी भ्रष्ट क्यों है इस का कारण तो यह है कि वे उत्तर भारत से दूर दक्षिण में निकल गए और चिरकाल तक उन का सम्बन्ध उत्तर भारत के आर्यों से छूट गया और वह जो कुछ ज्ञान अपने साथ लाए थे वह उपदेष्टा ब्राह्मणों के अभाव से अप्रचार के कारण क्रमशः इतने ह्रास को प्राप्त हो गया कि वे पतित बन गए और उन की भाषा भी बिगड़ते २ इस दुर्दशा को प्राप्त हो गई । जो ब्राह्मण उन के साथ बसते हैं और जिन में सम्यता का अंश विद्यमान है वे उस द्रविड देश में उत्तर भारत से पीछे के आए हुए ज्ञात होते हैं और क्योंकि इन ब्राह्मणों के यहां आने पर इन का सम्बन्ध अन्यान्य आर्यों के साथ बना रहा इस कारण ये ब्राह्मण अपनी सम्यता को बनाए रहे । परन्तु फिर प्रश्न उपस्थित होगा कि मनुस्मृति में शूद्रों को दबाए रखने के विषय में श्लोक क्यों पाए जाते हैं ? इस का उत्तर क्रमशः दिया जाता है ।

शूद्र वा गुलाम—कई यूरोपीय ऐतिहासिक मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक ४१४ का प्रमाण देते और कहते हैं कि शूद्र निकृष्ट स्लेव वा गुलाम थे, वह

पशुओं की तरह अपने स्वामी की सम्पत्ति समझे जाते थे । उक्त श्लोक इस प्रकार है:—

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद् विमुच्यते ।

निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ अ० ८ । ४१४ ॥

अर्थात् यदि स्वामी शूद्र को छोड़ भी दे तो वह दास्य से छूट नहीं सकता क्योंकि दासत्व उस का स्वभाव है, उस स्वभाव से उसे कौन दूर कर सकता है ?

यह श्लोक किस प्रकार का है इस की जांच के लिए चाहिए कि इस श्लोक के पूर्व आए हुए कतिपय श्लोकों और इस श्लोक के पश्चात् आए हुए कतिपय श्लोकों पर विचार किया जाय ।

मनुस्मृति के अध्याय ८ श्लोक ४०९ तक कई प्रकार के राजनियमों का वर्णन हो कर ४१० वें श्लोक में लिखा है कि राजा वैश्यों से व्यापार, सूद पर रुपये का लेन देन, कृषिकर्म तथा पशुओं की रक्षा करावे और जो शूद्र (अर्थात् अविद्वान्) हों उन से द्विजों की सेवा करावे । पुनः श्लोक ४१८ में लिखा है कि राजा को चाहिए कि वैश्य और शूद्रों से उन २ के काम बड़ी तत्परता से करावे नहीं तो सम्भव है कि अपने अपने कर्मों के परित्याग से वे संसार को क्षुभित करें । पुनः श्लोक ४१९ वें में लिखा है कि राजा अमुक अमुक कामों पर भी विशेष ध्यान दिया करे ।

इस प्रकार श्लोक ४१० वें के साथ श्लोक ४१८ वें तथा ४१९ वें की पूरी २ संगति बैठती है । परन्तु ४१० वें श्लोक के साथ ४११ वें श्लोक से लेकर ४१७ वें श्लोक तक जितने श्लोक हैं उन की कुछ भी संगति नहीं बैठती क्योंकि ४११ वें से ४१७ वें तक के श्लोकों में जो कुछ लिखा है उस का आशय है कि “ब्राह्मण, दरिद्री क्षत्रिय और वैश्यों को नौकर रखे परन्तु उन उन से उन उन के ही काम करावे, इन की इच्छा के विरुद्ध इन से दासकर्म, न करावे, ब्राह्मण की सेवा के लिए ही (अर्थात् क्षत्रिय वैश्य की सेवा के लिए नहीं) शूद्रों का स्वयम्भू ने पैदा किया है, दासत्व से शूद्र कभी नहीं छूट सकता, दास सात प्रकार के होते हैं । दास का धन उस के स्वामी का ही है, शूद्र का धन निर्भयता से ब्राह्मण ले ले (क्योंकि क्षत्रिय और वैश्य भी ले लें ?) क्योंकि शूद्र का धन अपना नहीं प्रत्युत उस के स्वामी का है” । एक तो इन श्लोकों के भाव मनुस्मृति के निर्णीत सिद्धान्तों

के विरुद्ध हैं द्वितीय जहां प्रकरण राजा के कर्तव्यों का चल रहा है वहां इन श्लोकों का आना सर्वथा अनुचित है । कहां तो ब्राह्मण के लिए लिखा है कि वह धन सञ्चय से पृथक् रहे और कहां इन श्लोकों में ब्राह्मण को ऐसा सम्पत्तिमय बतलाया कि वह दरिद्री क्षत्रिय और वैश्यों से भी काम लेकर उन का भरण पोषण किया करे ! कहां तो ब्राह्मणों के गुण ऐसे वर्णित हैं कि वह सब को ज्ञानप्रदान करते हुए सब के अविद्या के बन्धन काट सब को स्वच्छन्द और स्वतन्त्र बनाने का यत्न करते रहें, दूसरों से दान लेना भी घृणित समझें और कहां इन श्लोकों में यह वर्णित कि वे शूद्र को कभी स्वतन्त्र न हाने दें क्योंकि स्वयम्भू ने उसे ब्राह्मण की सेवा के लिए ही बनाया है और ब्राह्मणस्वामी निर्भयता के साथ अपने शूद्र नौकर की सम्पत्ति छीन लें । मालूम होता है कि किसी कम पढ़े स्वार्थी ब्राह्मण नामधारी ने (वास्तविक ब्राह्मण नहीं ने) इन श्लोकों को मनुस्मृति में मिलाया है । यदि उक्त प्रक्षिप्त श्लोकों की बातें ठीक होती तो मनुस्मृति में यह कभी नहीं लिखा होता कि शूद्र स्वतन्त्र है यथा “शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्षितः” (मनु० २ । २४) शूद्र की इच्छा जहां चाहे वहां रहे और जहां उसे जीविका प्राप्त हो वहां प्राप्त करे । पुनः (मनु० ११ । ३४) में लिखा है “क्षत्रियो बाहुवर्ष्येण तरेदापद-मात्मनः । धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः” । अर्थात् (अपने ऊपर आई हुई) आपत्ति को क्षत्रिय अपने बाहुबल से, वैश्य और शूद्र धन से और ब्राह्मण जप होम से दूर करें । यदि प्रक्षिप्त श्लोकानुसार ब्राह्मण, शूद्र के धन को छीन लेते होते तो उस बेचार के पास धन ही काहे को होता और विपत्ति में वह अपनी रक्षा ही किस प्रकार कर सकता ? और ब्राह्मण के पास शूद्र का यदि धन आया होता तो उस के लिए भी लिखा होता कि वह धन से भी अपनी रक्षा करे । इन प्रमाणों के अलावे मनु अध्याय ९ श्लोक १५७ दायभाग प्रकरण में स्पष्ट लिखा है किः—

शूद्रस्य तु सर्वैव नान्या भार्या विधीयते ।

तस्यां जाताः समांशाःस्युर्यादि पुत्रशतं भवेत् ॥

शूद्र को चाहिए कि अपने वर्ण की (अर्थात् अपने गुण कर्म स्वभाव से मिलती हुई) कन्या से ही विवाह करे, उस शूद्रा भार्या से यदि उस शूद्र के सौ पुत्र भी उत्पन्न हों तो (पिता की सम्पत्ति से) वे समान २ भाग पावें । जहां यह राजनियम होवे कि शूद्रपिता की सम्पत्ति उस के पुत्रों में बराबर २ बांटा जाय, हम नहीं समझते कि उस सम्पत्ति को बलात् कोई अन्य किस प्रकार छीन ले सका होगा

केवल प्रक्षिप्त श्लोकों में ही दास शब्द घृणित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है नहीं तो मनुस्मृति के अन्यान्य स्थलों में दास प्रेममात्र सेवक वा नौकर के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। यूरोपादि देशों में जहां गुलामों (स्लेवों) के क्रय विक्रय की रीति प्रचरित थी वहां गुलामों को उन के मालिक अपने पशुओं की तरह जिस प्रकार चाहते थे रख सकते थे। परन्तु मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक दासों को मान्ययुक्त और प्रेमपात्र सिद्ध कर रहे हैं:—

मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।

दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ मनु० ४ । १८० ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।

तस्मादेतैरभिक्षिप्तः सहेताऽसंज्वरः सदा ॥ मनु० ४ । १८५ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।

तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यऽनिन्दितः ॥ मनु० १० । १२८ ॥

(गृहस्थ को चाहिए कि) माता, पिता, बहिन, भ्राता, पुत्र, स्त्री, पुत्री तथा दास वर्ग से झगड़ा न करे। दास अपनी छाया के समान हैं और कन्या परम कृपा योग्य है अतः ये लोग यदि कुछ बुरा भी कहें तो उसे सदा सह लेवे। सारांश यह है कि मनुस्मृति से यह सिद्ध नहीं हो सक्ता कि शूद्र गुलाम वा स्लेव थे अथवा इन पर किसी प्रकार का अत्याचार होता था अथवा मनुस्मृति जिन समयों का वर्णन करती है उन में गुलाम रखने की प्रथा प्रचरित थी ॥

चारों वर्णों के समान धर्म—मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक ६३ में चारों वर्णों के समान धर्म इस प्रकार वर्णित हैं:—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ मनु १०।६३ ॥

अर्थात् अहिंसा (किसी से द्वेष वा किसी प्राणी का बध न करना) सत्य, (सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना), अस्तेय (छल कपट से रहित रहना तथा दूसरे की सम्पत्ति अन्याय वा चोरी से न लेना) शौच (जलादि से शरीर को शुद्ध रखना तथा ईर्ष्या द्वेषादि के त्याग से मन को पवित्र रखना) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियों को शुभ कर्मों में लगाने के लिए उन्हें दुर्व्यसनों की ओर न जाने देना) ये सब चारों वर्णों के संक्षिप्त धर्म हैं जिन्हें मनु ने कहा है ।

आश्रमों की व्यवस्था ।

मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि मनुष्य को चाहिए कि अपना जीवन चार भागों में विभक्त करे । अपनी आयु के प्रथमभाग में ब्रह्मचर्यपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन करे* तदनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यासी बने परन्तु जिस ने विशेष आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया हो और जिस का हृदय मनुष्यों की दशा सुधारने के लिए तड़फड़ाता हो वह ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के अनन्तर ही संन्यासी बन सकता है अथवा कोई गृहस्थाश्रम की समाप्ति पर भी संन्यास धारण कर सकता है । अस्तु । परन्तु जब तक ब्रह्मचर्याश्रम में तप करता हुआ मन और इन्द्रियों को दमन करता हुआ मनुष्य यथोचित विद्या ग्रहण नहीं करता एवं वीर्यवान्, दृढाङ्ग, बलशाली और धार्मिक विद्वान् नहीं बनता तब तक वह अन्य तीनों आश्रमों में से किसी भी आश्रम के कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकता । अतः परमानश्यक है कि पिता माता अपने बालकों में ज्यों ही वे सुधि सम्भालें त्यों ही ब्रह्मचर्याश्रम की प्रीति संस्थापित करने लें ताकि गुरुकुल में प्रवेश करते समय उन का हृदय उत्साह और ऊँची २ आशाओं से परिपूर्ण रहे ।

ब्रह्मचर्याश्रम—मनुस्मृति के प्रमाण से हम पूर्व आङ्कित कर आए हैं कि जो द्विजकुमार विद्याध्ययन नहीं करता था वह द्विजकोटि से गिर कर व्रात्य अर्थात्

* नोट—मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक १ तथा २ में लिखा है:—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरो वैदिकं व्रतम् ।

तद्वैदिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥

वेदान्धीन्य वेदो वा वेदं वाग्नि यथाक्रमम् ।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥

अर्थात् गुरु के समीप वास करता हुआ ३६ कर्त्तव्य वर्ष वा उस से आधा १८ अष्टारह वर्ष वा चौथाई ९ नौ वर्ष अथवा जब तक पूरी विद्या ग्रहण न कर लेवे तब तक (सब) वेदों को वा दो वेदों को वा (कम से कम) एक वेद भी पढ़ कर और ब्रह्मचर्यव्रत से कभी भी पतित न हो कर (अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत की भली भाँति पालना कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे । उक्त श्लोकों से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम का समय (यदि आठ वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचारी बने हो) और कर्त्तव्य वर्ष पढ़ते रहे हैं) चत्वारिंशत् वर्ष तक का भी होता था । यदि कोई ब्रह्मचारी बारह वर्ष की उम्र में गुरुकुल में आया हो और ३६ वर्ष तक पढ़ता हो तो उस का ब्रह्मचर्य ४८ वर्षों का हो जाता होगा) ।

शूद्रतुल्य बन जाता था । एवं जो शूद्रकुमार ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या और तप का सेवन करता था वह वैश्य और क्षत्रिय ही नहीं प्रत्युत ब्राह्मणपद को भी प्राप्त कर सकता था । इस से ज्ञात होता है कि उस समय समाज का बल इतना बढ़ा हुआ था कि कोई भी पढ़ने योग्य बालक ब्रह्मचारी बने बिना रह नहीं सकता था । समाज के दबाव के साथ ही साथ राजा का भी इस विषय में बढ़ा भारी दबाव था क्योंकि राज्य के कुमारों और कुमारियों को विद्यादि द्वारा योग्य बनाना उस के मुख्य कर्तव्यों में से एक कर्तव्य था, यहां तक कि जिन बालकों के पिता माता मर जाते थे और जिन का कोई संरक्षक नहीं होता था, उन्हें भी गुरुकुल में पढ़ना ही पड़ता था और जब तक वह बालक विद्या पूर्ण कर स्नातक न बन जाते थे तब तक उन बालकों के दायभाग (थोड़ा वा बहुत जो कुछ हो) की रक्षा का भार राजा पर रहता था जैसा कि मनुस्मृति अध्याय ८ के निम्नलिखित श्लोक २७ से विस्पष्ट ज्ञात होता है:—

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजाऽनुपालयेत् ।

यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चतीतशैशवः ॥ म० ॥८॥२७॥

अर्थात् बालक के दायभाग के द्रव्य की अनुपालना (द्रव्य की रक्षा और वृद्धि) राजा तब तक करता रहे जब तक वह बालक समावर्तन संस्कार न करले (अर्थात् गुरुकुल में अपनी विद्या पूर्ण कर गुरु की आज्ञा से घर न लौटे) एवं जिस की शैशवावस्था समाप्त न हो जाय ।

ब्रह्मचर्यव्रतारम्भ—मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक ३६, ३७, ३८, तथा ४० से ज्ञात होता है कि बालकों के यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ संस्कार साधारणतः आठवें से लेकर बारहवें वर्ष तक हो जाते थे । कोई २ बालक जो तीक्ष्णबुद्धि के होते थे उन के उक्त संस्कार पांचवें वा छठे वर्ष में भी होते थे । और किसी २ अल्प-बुद्धिवालों के उक्त संस्कार चौबीसवें वर्ष तक भी हो जाते थे । यह इस लिए कि इतनी आयु तक भी यदि किसी की बुद्धि किसी प्रकार विद्या ग्रहण करने योग्य बन जाय तो वह विद्या के प्रकाश से वंचित न रहे । इतना ही नहीं प्रत्युत जो २४ वर्ष के उपरान्त भी प्रायश्चित्त कर यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ कराना चाहते थे उन के भी यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ संस्कार हो जाते थे । यह सब इस लिए कि कोई भी सच्चा विद्याभिलाषी विद्या के सुखद परिणामों से रहित न होने पावे परन्तु उक्त विद्याविहीन अधिक उमर वालों के लिए भी आवश्यक था कि वह अक्षतवीर्य हों ।

गुरु और शिष्य—जो गुरु ब्रह्मचारी के आत्मा को इस संसार में ही उत्तमोत्तम सुखों की प्राप्ति योग्य नहीं बनाता प्रत्युत जो आत्मज्ञान प्रदान कर उस का परलोक भी सुधार देता है उस ऐहिक और पारलौकिक सुखों के कारण गुरु की जितनी शुश्रूषा की जाय थोड़ी है । मनुस्मृति अध्याय २ में गुरुशिष्यधर्म-विषय में कई उत्तमोत्तम श्लोक हैं जिन में से कतिपय हम यहां उद्धृत करते हैं:—

य आट्टणोत्पन्नितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।

स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥ अ०२।१४४॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ अ०२।१४०॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।

योऽध्यापयति वृत्तर्यमुपाध्यायः स उच्यते ॥ अ०२।१४१॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ अ०२।१९१॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।

नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्रीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ अ०२।१९२॥

हीनान्नवस्त्रशेषः स्यात् सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चर्मं चैव संविशत् ॥ अ०२।१९४॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।

प्रत्युद्गम्य त्वाब्रजतः पश्चाद्द्वारंस्तु धावतः ॥ अ०२।१९६॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।

प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ अ०२।१९७॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ अ०२।१९८॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्यात् गतिभाषितचेष्टितम् ॥ अ०२।१९९॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते ।

कर्णौ तत्र पिघातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ अ०२।२००॥

यथा खननं खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ अ०२।२१८॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।

आसमावर्तनात्कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥ अ० २।१०८॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया ।

निवेद्य गुरवेऽश्रीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ अ० २।११॥

वर्जयन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ अ० २।१७७॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्षणोरुपानच्छत्रधारणम् ।

कामं क्राधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ अ० २।१७८॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।

स्त्रीणां च प्रक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ अ० २।१७९॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।

कामाद्धि स्कन्दयन्नेतां हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ अ० २।१८०॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।

नैनं ग्रामेऽभिनिम्नोचत् मूर्धो नाऽभ्युदियात्क्वचित् ॥ अ० २।२१२॥

अर्थात् आ (गुरु शिष्य के) दोनों कर्णों को सत्य विद्यामय वेदों का शिक्षा से भरता है वह माता पिता के तुल्य है उस से कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए । जो द्विज शिष्य का उपनयन करा कर कल्प और रहस्य सहित वेद (अर्थात् वेद मन्त्रों के साधारण अर्थ तथा उन में जो गूढ़ आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान हैं उन्हें भी) पढ़ता है उस आचार्य कहते हैं, और जो वेद के किसी भाग का वा वेदाङ्गों को वृत्त्यर्थ पढ़ावे उस उपाध्याय कहते हैं । चाहे गुरु प्रेरणा करें वा न करें परन्तु (ब्रह्मचारी को चाहिए कि) वह यज्ञ पूर्वक अपने अध्ययन में तथा गुरु की शुश्रूषा में लगा रहे । शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय, तथा मन को नियम में (वश में) रखता हुआ, विनातभाव से गुरु की चेष्टा का ध्यान रखता हुआ (गुरुके समीप) निवास करे । गुरु के समीप रहता हुआ सदा गुरु के भोजन से घटिया भोजन करे, उन के वस्त्र से घटिया वस्त्र पहने उन के वेष से घटिया वेष रखे, गुरु के सोकर उठने से पहले सोकर उठे और उन के शयन करने के पीछे शयन करे । यदि (गुरु) बैठे हों तो (शिष्य) खड़ा होकर, (गुरु) खड़े हों तो (शिष्य) समीप आकर, (गुरु) अपना ओर आते हों तो (शिष्य) उन की ओर जाकर, (गुरु) चलते हों तो (शिष्य) उन के पीछे चलता हुआ (यथावश्यक) सम्भाषणादि करे । गुरु का मुख अपनी

ओर न हो तो उन के सम्मुख होकर, (गुरु दूर हों तो उन के निकट जाकर, (गुरु) यदि लेटे हों वा खड़े हों तो उन्हें प्रणाम कर के उन से सम्भाषणादि करे । गुरु के निकट शिष्य की शय्या वा आसन (गुरु की शय्या वा आसन से) सदा नीचा होना चाहिए, गुरु के सम्मुख शिष्य को मन मानी रीति से नहीं (प्रत्युत सावधानता से) बैठना चाहिए । परोक्ष में भी गुरु का केवल (श्रीमान् आदि प्रतिष्ठायुक्त शब्दों के विना) नाम न लेवे और न गुरु की गति, भाषण वा चेष्टा का अनुकरण करे । जहां गुरु का अत्रगुण कथन होता हो वा निन्दा होती हो वहां अपने कानों को बन्द कर लेवे अथवा वहां से हट जावे (अर्थात् गुरु का दोष वा निन्दा कभी न सुने) जिस प्रकार मनुष्य खंती (वा कुदाल) से खांदना हुआ (धरातल से नीचे की ओर रहने वाले) जलक पटुंच जाता है उसी प्रकार भली भांति सेवा करने वाला (ब्रह्मचारी) गुरु के भीतर जो विद्या है उस प्राप्त कर लेता है । अग्निहोत्र, भिक्षा, नीचे (पृथिवी पर) शयन, तथा गुरु की सेवादि (हित की क्रियाएं) वह द्विज अर्थात् जिस का यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है तब तक (अवश्य) क्रिया करे जब तक उस का समावर्तन संस्कार न हो जावे । निष्कण्टभाव से भिक्षाल्न लाकर और उसे गुरु को निवेदन कर अर्थात् गुरु के सम्मुख रखकर और गुरु की उस में से जितनी लेने की इच्छा हो उतनी देकर शिष्य पवित्रता से पहले आचमन करे, और तब भोजन करे । मधु, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों की हिंसा, अङ्गों का मर्दन (विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श) आंखों में अब्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लालच, नाच, गान और बाजा बजाना, द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का विशेष दर्शन वा स्पर्शन तथा दूसरे की हानि (आदि कुरुमों को ब्रह्मचारी) सदा छोड़ देवे सर्वत्र एकाकी सोवे वीर्य्य स्वलित कभी न करे, जो कामना से वीर्य्यस्खालित कर दे तो (जाने कि) अपने ब्रह्मचर्य्य व्रत का नाश करा दिया । चाहे मुण्डित (शीश के सब बाल मुंडवाए हुए) अथवा जटिल (शीश के सब बाल रक्खे हुए) अथवा शिखा जटा (शिखा, चोटी को छोड़ शीश के शेष बाल मुंडवाए हुए) हो (परन्तु) ग्राम में कभी भी इसे सूर्यास्त न हो और न ग्राम में इसे कभी सूर्योदय हो (अर्थात् आवश्यकतावश गुरुकुल से ग्राम में गया हुआ ब्रह्मचारी रात्रि समय ग्राम में कभी भी न ठहरे) ।

अनध्याय—सूत्रग्रन्थों के प्रकरण में जो २ अनध्याय के समय वा स्थान परिगणित कर आए हैं प्रायः वही सब समय और स्थान मनुस्मृति में भी स्वाध्याय

के लिए वर्जित लिखे हैं अतः विस्तारभय से मनुस्मृति के तद्विषयक सब श्लोकों को उद्धृत न कर केवल एक श्लोक उद्धृत किए देते हैं जो कि अनध्याय प्रकरण का सार ज्ञात होता है:—

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ मनु ४ । १२७ ॥

पढ़ने की जगह अपवित्र हो तब तथा जब कि स्वयं (पढ़ने वाला शरीर वा मन से) अपवित्र हो तब इन दोनों ही अवस्थाओं में पढ़ना मना है (उक्त अवस्थाओं में) यत्न पूर्वक अनध्याय मनावे ।

गुरु ही वर्ण व्यवस्थापक था—मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १४८ में जातिनिर्णयविषयक यह शिक्षा है:—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपाठगः ।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥ मनु० २ । १४८ ॥

अर्थात् सम्पूर्ण वेद का ज्ञाता (ब्रह्मवेत्ता) आचार्य सावित्री के विधिवत् उपदेश से (अर्थात् सावित्री के मर्मविषयक उपदेश से जो वैदिकविज्ञान की पूर्णशिक्षा बिना नहीं हो सक्ता) इस (शिष्य) को जाति उत्पन्न करता है वही जाति सत्य और अजर अमर है तात्पर्य यह है कि अपने पिता माता के घर से गुरुकुल में आया हुआ ब्रह्मचारी यद्यपि अपने पिता माता के वर्णानुसार नाम धारण किए हुए आता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ब्रह्मचारी पिता माता के ही वर्ण का बन जावे । वास्तव में वर्णनिर्णय तो तब होता है जब कि सावित्री के मर्मोपदेश द्वारा गुरु ब्रह्मचारी के आत्मा को ज्ञानमय बना कर उसे उस की योग्यतानुसार किसी वर्ण की पदवी प्रदान करता है । अतः ज्ञात होता है कि वर्णव्यवस्था का पुनरुद्धार तब तक ठीक २ नहीं हो सक्ता जब तक ब्रह्मचर्याश्रम की रीति ठीक २ प्रचरित न हो जावे ।

गृहस्थाश्रम ।

संसार के उपकार के लिए, पितृ-ऋण से छूटने के लिए, विधिवत् ब्रह्मचर्यव्रत की पालना कर सुसन्तानोत्पत्ति की इच्छा से जिस आश्रम में नर नारी साथ रहते थे उसे गृहस्थाश्रम कहते थे ।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता—गृहस्थाश्रम की महिमा मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णित है:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ मनु० ६ । ८७ ॥

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ मनु० ६ । ९० ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ मनु० ३ । ७७ ॥

यस्मान्नयोप्याश्रमिणो दानेनाऽग्नेन चान्वडम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ मनु० ३ । ७८ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।

सुखं चेद्देच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्वलेन्द्रियैः ॥ मनु० ३ । ७९ ॥

अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और याति ये चारों आश्रम वाले गृहस्थ से ही उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार सब नदी और नद सागर में ही जाकर ठहरते हैं (अर्थात् तब तक भ्रमते ही रहते हैं जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते) वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं (अर्थात् विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता) । जिस प्रकार वायु का आश्रय छू कर हाँ सब प्राणा वृत्त अर्थात् जीते वा अपन कामा में लग रहत हैं उसी प्रकार गृहस्थ के आश्रय से ही सब आश्रमों के लोग अपने २ कामों में लगे रहते हैं । जिस से (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, और संन्यासी) तीन आश्रमों को दान और अन्नादि दे के प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इस से गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है (अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है) । इस लिये (जो) मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से (अच्छे प्रकार) गृहाश्रम को धारण करे जो गृहाश्रम दुर्वलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्वल पुरुषों से धारण करने अयोग्य है ।

एक पुरुष की एक ही पत्नी होती थी—मनुस्मृति, अध्याय ३ के श्लोक ४ में स्पष्ट पाठ है “उद्ब्रहेत द्विजो भार्या, सवर्णाम् लक्ष्णान्विताम्” । “भार्या” शब्द और उस के गुणसूचक “सवर्णाम्” और “लक्ष्णान्विताम्” ये सब के सब द्वितीया के एक वचन हैं अतः सिद्ध हुआ कि एक पुरुष एक ही कन्या से विवाह कर सकता था नकि अनेक कन्याओं से ।

स्वयम्बर तथा युवावस्था का विवाह—जिस प्रकार बालविवाह की प्रथा आज कल चली हुई है वैसी प्रथा मनुस्मृति के समय में न थी, उन दिनों तो कन्या जब विदुषी और युवा हां लेती थी तब वह अपने समान गुणी पुरुष को बरती और उस के साथ विवाह करती थी इस वरण में माता पिता कन्या के सहायक होते थे । अर्थात् माता पिता वर की खोज में पूर्ण यत्न करते थे और जब कन्या वर को पसन्द कर लेती थी तब विवाह संस्कार के नियमों के अनुसार अपनी कन्या का उस वर से विवाह कर देते थे । इस विषय में मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ९० में लिखा है:—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्दतं सदृशं पतिम् ॥ मनु ९ । ९० ॥

सती कुमारी ऋतुमती हाने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त पति का खोज करे और तदनन्तर अपन समान गुण कर्म स्वभाव वाल पति को वरले ।

कन्याविक्रय का निषेध—मनुस्मृति में लिखा है कि कन्या का पिता वर से द्रव्य लेकर कन्या का विवाह न करे क्योंकि ऐसा करने से वह कन्या विक्रय का दोषी ठहरेगा यथा:—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।

गृह्णच्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नराऽपत्यविक्रयी ॥ मनु० ३ । ५१ ॥

अत्यल्प भी शुल्क कन्या का विद्वान् पिता (वर से) न ले यदि लोभ से शुल्क लेवे तो वह पुरुष सन्तान का बचने वाला समझा जावे ।

पञ्चमहायज्ञ—इस विषय पर हम सूत्रग्रन्थों में लिख चुके हैं । जो विशेष देखना चाहें वे मनुस्मृति अध्याय ३ तथा ४ चार को देखें । विस्तारभय से अन्य यज्ञों को छोड़ पितृयज्ञ के विषय में हम यहां कतिपय श्लोक उद्धृत करते हैं जो कि बड़े ही लाभकारी हैं:—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।

नार्त्तनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ मनु० २।२२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहंतं संभवे नृणाम् ।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ मनु० २ । २२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।

तेष्वेव त्रिषु त्रष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ मनु० २ । २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
 न तैरभ्यनुज्ञातां धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ मनु० २ । २२९ ॥
 त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
 त एव हि त्रयो वेदास्त एवांक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ मनु० २ । २३० ॥
 पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माता गर्दक्षिणः स्मृतः ।
 गुरुराहवनीयस्तु साऽग्निं त्रता गरीयसी ॥ मनु० २ । २३१ ॥
 त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयंद् गृही ।
 दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्विषि मादत ॥ मनु० २ । २३२ ॥
 इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
 गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ मनु० २ । २३३ ॥
 सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
 अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥ मनु० २ । २३४ ॥
 यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
 तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ मनु० २ । २३५ ॥
 तेषामनुपरोधेन पारथ्यां यद्यदाचरेत् ।
 तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः मनु० २ । २३६ ॥
 मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृश्वसा ।
 संपूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ॥ मनु० २ । २३७ ॥

अर्थात् अपने आचार्य, पिता, माता वा बड़े सहोदर भाई से पीड़ित होने पर भी उन का अपमान न करे और ब्राह्मण तो इस का विशेष ध्यान रखे । मनुष्य की उत्पत्ति और पोषण में जो क्लेश माता और पिता सहित हैं उन का बदला सौ वर्ष में भी कोई नहीं दे सकता । माता पिता तथा आचार्य का सर्वज्ञा नित्यप्रति प्रियाचरण क्रिया करे इन तीनों के सन्तुष्ट होने से ही मनुष्य क सब तप पूर्ण होते हैं । इन तीनों की सेवा शुश्रूषा बड़ी तपस्या कहलाती है धर्ममन्त्र्या अन्यान्य कार्य जो सन्तान को करने हों उन के लिए उक्त तीनों की आज्ञा अवश्य ले लिया करे । ये तीनों ही तानों, लोकों की भांति, तीनों आश्रमों की भांति, तीनों वेदों की भांति तथा (आहवनीयादि) तीनों अग्नियों* की भांति (सुखदाई) कहे गये हैं । पिता

* नोट:—जिस अग्नि में गृहस्थ नित्य होम किया करता है उस का नाम गार्हपत्याग्नि है, जिस अग्नि में वानप्रस्थ हवन करता है उसे दक्षिणाग्नि कहते हैं और जिस अग्नि में ब्रह्म-

जो गार्हपत्याग्नि की तरह, माता जो दक्षिणाग्नि की तरह तथा आचार्य जो आहव-
नीयाग्नि की तरह हैं वे उक्त अग्नियों से भी अधिक श्रेष्ठ तथा सुखदाई हैं । यदि
गृहस्थ प्रमादरहित हो कर विधिपूर्वक इन तीनों की सेवा कर सके तो अपने को
तीनों लोकों के विजयी पुरुष की तरह माने इन तीनों की विधिवत् सेवा करने वाले
पुरुष का आत्मा तेजोमय हो जाता है और वह बड़े बड़े ज्ञानियों की भांति इस
शरीर द्वारा ही ज्ञानानन्द में निमग्न हो जाता है । पृथिवी (सम्बन्धी सुखों) को
माता की भक्ति से, अन्तरिक्ष (सम्बन्धी सुखों) को पिता की भक्ति से और दर्श-
नीय ब्रह्म- (सम्बन्धी आनन्द) को आचार्य की शुश्रूषा से भोगता है । उस पुरुष
के सब किए हुए धर्म प्रशंसा के योग्य होते हैं जो अपने माता पिता और आचार्य
का आदर करता और कराता है और (सेवा शुश्रूषा के अभाव से) जिस के उक्त
तीनों अनादर पाते हैं उस की सब क्रिया निष्फल ही होती रहती हैं । जब तक
उक्त तीनों जीते रहें तब तक चाहे अन्य कुछ न कर सके तो न करे परन्तु उन की प्रीति
और हित में लगा हुआ नित्य उन की शुश्रूषा किया करे । उन माता पिता तथा
आचार्य की सेवा में अबाधक जो जो धर्मानुष्ठान परलोक के सुधार के लिये अपने
मन, वचन वा कर्म से करे उस उस को उन्हें निवेदन कर दिया करे (ताकि उन
उन अनुष्ठानों के विषय में उन से परामर्श मिल जाया करे) । माता की बहिन,
मामी, सास और पिता की बहिन ये गुरुपत्नी की तरह हैं अतः इन का सत्कार
गुरुभार्या की भांति किया करे । एवं जो जो पुरुष पूज्य वा स्त्री पूज्यनीया हों उन
उन का भी यथायोग्य और यथाशक्ति सत्कार किया करे ।

खाद्याऽस्वाद्यः—शुद्ध भूमि से उत्पन्न हुए शुद्ध अन्न शाक फल मूल तथा
नीरोगगवादि पशु से उत्पन्न हुए पवित्र, दूध और दूध से उत्पन्न हुए घृत मनुष्य
के श्रेष्ठ भोजन हैं । ये अभक्ष्य तब हो जाते हैं जब कि ये विकृत हो जाते हैं ।
खाद्याऽस्वाद्य विषयक अनेक श्लोक मनुस्मृति में वर्तमान हैं, जिन में से कतिपय विशेष
दशाओं के सूचक श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

नोच्छिष्टं कस्यचिदद्यान्नाद्याचैव तथाऽन्तरा ।

न चैवाध्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः कचिद् व्रजेत् ॥ म० २।५६ ॥

चारी होम करता है उस का नाम आहवनीय रख लिया गया है । वास्तव में सब एक वस्तु
अग्नि ही है परन्तु भिन्न भिन्न आश्रमों के सम्बन्ध से उन का नाम प्राचीनों ने भिन्न भिन्न
रख छोड़ा है ।

यत्किञ्चित् स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगार्हितम् ।
 तत्पर्युषितमप्याद्य हविशशेषं च यद् भवेत् ॥ मनु ५।२४ ॥
 मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
 केशकीटावपन्नं च पदास्पृष्टं च कामतः ॥ मनु ४।२०७ ॥
 नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
 न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ मनु ५।४८ ॥
 समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
 प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ मनु ५।४९ ॥
 अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
 संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ मनु ४।५१ ॥
 सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णा सुरां पिबेत् ।
 तथा सक्राये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ मनु १।१९० ॥
 नाद्याच्छूद्रस्य पक्कान्नं विद्वानश्राद्धिनाद्विजः ।
 आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ मनु ४।२२३ ॥

अर्थात् न किसी को अपना झूठा दे और न किसी के भोजन के बीच आप खावे (अर्थात् एक ही पात्र में दूसरे के साथ न खावे) न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पीछे हाथ मुख धोए विना (अर्थात् उच्छिष्ट) कहीं इधर उधर जाय । जो कोई ग्रहण करने योग्य खाद्य वस्तु घृत में बनी हुई बासी भी हो जाय तो खाने योग्य रहती है और पुरोडास (अर्थात् यज्ञ से बचा हुआ खाद्यद्रव्य) यदि घृत रहित भी हो तो खाने योग्य है । पागल, क्रोधी, रोगी का अन्न कभी न खावे, एवं जिस भोजन में केश वा कीट पड़गए हों अथवा जिसे किसी ने जानकर पैर मारदी हो उसे भी न खावे । प्राणियों की हिंसा के विना मांस कभी भी उत्पन्न नहीं होता और प्राणी का बध सुख का देने वाला नहीं है अतः मांसभक्षण वर्जित है । मांस की उत्पत्ति, और देशधारियों के बध और बन्धन को भली भांति देख कर वा विचार कर (कि ये द्यारहित कार्य्य हैं) सब प्रकार के मांसभक्षण से बचा रहे । मारने की सम्मति देने वाला, अङ्गों को काट काट कर पृथक् करने वाला, मारने वाला, मांस खरीदने वाला, मांस बेचने वाला, मांस पकाने वाला, (खाने के लिये) मांस परोसने वाला और मांस का खाने वाला ये (सब के सब)

आठ घातक हैं । जो द्विन मोहवश मदिरा पी ले उसे चाहिए कि मदिरा को आग की तरह लाल गर्म कर (पुनः) पीवे जिस में उस से उस का शरीर जल और वह पाप से छूटे । विद्वान् द्विन श्रद्धारहित शूद्र का पका हुआ अन्न न खावे (अर्थात् श्रद्धा सहित यदि शूद्र हो तो उस का खा लेवे) किन्तु यदि उस से (उस श्रद्धा रहित शूद्र से) लिए बिना निर्वाह न हो तो अपक्व अन्न एक रात्रि के खाने योग्य ले लेवे, यह श्लोक ध्यान देने योग्य है, इसी पुस्तक में सूत्रग्रन्थों के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि “ आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारःस्युः ” अर्थात् आर्यों के घर में शूद्र अर्थात् मूर्ख खा पुरुष पाकादि सेवा करें “ ऐसी आपस्तम्ब की सम्मति है ” जिस से सिद्ध होता है कि आर्यों के निरीक्षणधीन उन के घर में जब शूद्र पाक बनाते थे, तब आर्य्य उसे खाया करते थे । परन्तु मनुस्मृति के अध्याय ४ श्लोक २२३ में इस बात का निर्णय है कि शूद्र का पक्वान्न अर्थात् जो पक्वान्न कि शूद्र का अपना है अर्थात् उस के घर का है उस के खाने का अवसर किसी कारण यदि किसी द्विन को कभी प्राप्त होवे तो वह क्या करे इस का उत्तर इस श्लोक में यह दिया गया है कि यदि शूद्र श्रद्धालु हो तो उस का पक्वान्न तो द्विन खाले परन्तु यदि अश्रद्धालु हो तो द्विन खाने के लिए उस से कच्चा अन्न ले लेवे पक्का न ले)

मनुस्मृति के अतिथियज्ञ विषयक श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थों के यहां बड़े २ ज्ञानी महात्मा भी अतिथि बन सकते थे जिन्हें उक्त गृहस्थ अपने घर के पके हुए भोजन खिलाते थे अर्थात् द्विजों का परस्पर खान पान था । मनुस्मृति अध्याय ४ के उक्त श्लोक २२३ से ज्ञात होता है कि श्रद्धालु शूद्रों के घर का पक्वान्न भी द्विन लोग खा लिया करते थे ।

साधारण स्वच्छतासम्बन्धी नियम—“अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति । मनु० १।१०९) अर्थात् जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से जीव और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है ” इत्यादि आत्मिक मानसिक तथा कायिक शुद्धता-सम्बन्धी गूढ़ नियमों का उल्लेख हम यहां नहीं करना चाहते प्रत्युत साधारण सफाई के जो नियम हैं उन्हें संक्षेपतः लिखते हैं ताकि आज कल के म्युनिसिपल नियमों के प्रेमी समझें कि प्राचीन काल में गृहों राजमार्ग तथा जल स्थानादि की शुद्धि की ओर भी पूरा २ ध्यान दिया जाता था मनुस्मृति में लिखा है:—

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।

उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचोत् ॥ मनु० ४ । १५१ ॥

समुत्सृजंद्राजमार्गे यस्त्वऽमेध्यमनापादि ।

स द्रौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ मनु० ४ । २८२ ॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा घृनिवं वा समुत्सृजेत् ।

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ मनु० ४ । ५६ ॥

अद्वारणं च नातीयाद् ग्रामं वावेश्य वा वृत्तम् ।

रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ मनु० ४ । ७३ ॥

गृह से दूर मल मूत्र का त्याग करे, दूर ही पैर धोवे, और झूठा अन्न भी दूर ही फेंके । जो बिना आपदकाल के (रोगादि से अपीड़ित) राजमार्ग (सर्कारी सड़क) पर मैला फेंके वह दो सौ कार्षापण दण्ड दे और मैले को शीघ्र उठा दे । जल में मूत्र, मल, कफ, वा अपवित्र मल मूत्रादि से लिप्त कोई वस्त्र वा कोई अन्य अपवित्र वस्तु वा रुधिर विष न डाले । (पर कंटे वा दीवार से) घिरे हुए ग्राम वा गृह के भीतर दर्वाजे से ही जावे (अर्थात् दीवार वा परकोटा टप कर न जावे) और रात्रि के समय वृक्षमूल का दूर से ही छाँड़ देवे (अर्थात् रात्रि समय वृक्ष के नीचे न साँवे) । कोई २ पुरुष ऐसा कहते हैं कि यूरोपियनों का जब से यह ज्ञान हुआ कि रात्रि समय वृक्ष काबन छाँड़ते हैं जिस का अधिक श्वास मनुष्य के लिए हानिकारक है तभी से निश्चिन्त हुआ कि रात्रि समय वृक्ष के नीचे नहीं सोना चाहिए । परन्तु हम देखते हैं कि इस विषय का ज्ञान प्राचीन आर्यों को बहुत काल से है जिस का एक प्रमाण मनुस्मृति अध्याय ४ का उक्त तिहत्तरवां श्लोक है ।

मान्य के नियम—किस का कब कैसा मान होना चाहिए इस विषय की भी अनेक बातें मनुस्मृति में अङ्कित हैं जिन में से कतिपय यहां लिखी जाती हैं:—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी ।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ म० २।१३६ ।

द्रव्य (रुपया पैसा), बन्धु (सम्बन्धी), वय (उमर), कर्म (श्रेष्ठ कर्म) तथा विद्या ये पांच बड़ाई के स्थान हैं अर्थात् इन पांचों से मान्य (बड़ाई) मिलती

है परन्तु इन में से उत्तरोत्तर अधिकतर मान्य कराने वाले हैं, अर्थात् द्रव्य से बन्धु, बन्धु से वय, वय से सुकर्म और सुकर्म से विद्या अधिकतर मान्य कराने वाली है * ।

स्त्रियों की स्थिति—ऐतिहासिक कहते हैं कि यदि किसी मनुष्यजाति की सम्भ्यता की पूरी पड़ताल करना चाहे तो ध्यान देकर उक्त जाति की स्त्रियों की स्थिति को भी जानो । अपने इस पुस्तक के स्थान स्थान में स्त्री जाति की महिमा आर्षप्रमाणों से हम प्रदर्शित कर चुके हैं, मनुस्मृति के प्रकरण में भी विवाहादि सम्बन्धों के विषय में कुछ लिखा जा चुका है । मनुस्मृति के समय स्त्रियों का कैसा मान्य था, उन की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कैसा यत्न किया जाता था, उन के कर्तव्य क्या क्या थे आदि विषयों को पुनः संक्षेपतः लिखने हैं । मनुस्मृति अ० ९ श्लोक ७ में लिखा है:—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।

स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ म० ९ । ७ ॥

अर्थात् जो पुरुष यत्नपूर्वक अपनी पत्नी की रक्षा करता है वही अपनी सन्तति, चरित्र, कुल तथा अपने धर्म की रक्षा करता है । (इस से बढ़कर स्त्री जाति की मर्यादा और अधिक क्या हो सकती है ?) इस श्लोक में जो “जायां रक्षन्” शब्द आया है तथा मनुस्मृति के अन्यान्य कई श्लोकों में भी स्त्री शब्द के साथ जो “रक्षति” क्रिया प्रयुक्त हुई है । उस से कई लोग यह तात्पर्य निकालते हैं कि स्त्रियों को प्राचीन आर्य्य रक्षा में अर्थात् बन्धन में रखते थे परन्तु ऐसे लोगों को समझना चाहिए था कि मनुस्मृति अध्याय ९ के उक्त श्लोक ७ में जहां जाया (स्त्री) शब्द के साथ “रक्षन्” क्रिया है वहीं “प्रसूति” “चरित्र” “कुल” तथा “धर्म” शब्दों के साथ भी रक्षति क्रिया का प्रयोग है । यदि स्त्रीरक्षा का अर्थ स्त्री को बन्धन में रखना किया जायगा तो फिर चरित्ररक्षा, वा धर्म रक्षा का अर्थ क्या चरित्र को वा धर्म को बन्धन में रखना किया जायगा ? अतः सिद्ध

* नोट:—प्राचीन आर्य्यावर्ण में सर्वोपरि विद्वान् धार्मिकों अर्थात् ब्राह्मणों का ही सर्वोपरि मान्य होता था, और होना भी ऐसा ही चाहिए क्योंकि धार्मिक विद्वान् सर्वोपरि लाभ पहुंचाने वाले होते हैं । यूरोप में इस नियम का आज कल तिरस्कार हो रहा है वहां की सामाजिक सभाओं में सर्वोपरि स्थान आज कल धनियों के पुत्रों को मिलता है । लार्ड और मिलियानियरों के पुत्र चाहे सुख ही क्यों न हों विद्वानों की अपेक्षा अधिकतर सम्मान के आसन ग्रहण करते हैं जिस से अज्ञान की प्रतिष्ठा और ज्ञान का असम्मान होता है जिस का परिणाम हानिकारक असन्तोष होता है ।

होता है कि जिस प्रकार धर्म की रक्षा का अर्थ धर्म को उत्तम बनाए रखना है उसी प्रकार स्त्रीरक्षा का अर्थ स्त्री की मर्यादा की रक्षा है । यदि स्त्री बन्धन के ही योग्य होती तो उस की बड़ाई निम्नलिखित प्रकार न की जाती:—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ म०९॥२६॥

अर्थात् स्त्रियां सन्तान के लिए हैं, बड़ी भाग्यशालिनी हैं, पूजा के योग्य हैं और घर की ज्योति हैं, घर में स्त्री और श्री दोनों ही समान हैं ।

अपत्यं धर्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।

दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥म०११॥२८॥

अर्थात् सन्तान, (गृहसम्बन्धी) धर्मकार्य्य, शुश्रूषा, उत्तररति तथा अपना और अपने पितरों का सुख ये सब स्त्री के आधीन हैं ।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवैस्तथा ।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहु कल्याणमीप्सुभिः ॥म०१३॥२९॥

अर्थात् यदि विशेष कल्याण की इच्छा रखते हों तो पिता, भाई, पति, और देव इन की पूजा (सब प्रकार सत्कार) तथा अलङ्कारादि से सम्मानित करें ।

क्योंकि स्त्री अबला कहलाती है अर्थात् वह शरीर से निर्बल हांती है और यदि वह सर्वथा अकेली रहे तो उस पर भांति भांति की आपत्तियां आसक्ती हैं अतः उस को अकेली अर्थात् स्वतन्त्र छोड़ना ठीक नहीं है । इसी विषय का सूचक निम्न-लिखित श्लोक है:—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।

रक्षन्ति स्थाविर पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ म० १३ ॥

कुमारी रहने तक पिता रक्षा करता है, यौवनावस्था में पति रक्षा करता है, वृद्धावस्था में पुत्र रक्षा करते हैं स्त्री स्वतन्त्र अर्थात् अकेली रहने योग्य नहीं है ।

स्त्री की भावनानुसार पुत्र—आज कल यूरोप और अमेरिका के बड़े बड़े डाक्टर कते हैं कि गर्भाधान समय स्त्री जैसे पुरुष की भावना करेगी उस का पुत्र भी वैसा ही उत्पन्न होगा और इस आविष्कार को उक्त डाक्टर लोग अपनी अपूर्व खोज का परिणाम बतलाते हैं । परन्तु बीसवीं सदी की यह बात मनुस्मृति में ज्यों की त्यों मिलती है जिस से उक्त डाक्टरों को भी मानना पड़ेगा कि मनुस्मृति

के समय उक्त "मनुषीजीवन-विद्या" कम से कम आज कल के बराबर तो अवश्य ही उन्नत थी । मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक ९ में लिखा है:—

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।

तस्मात्पजाविशुद्धयर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ म० ९।९ ॥

अर्थात् स्त्री जिस प्रकार के पुरुष का भजन (चिन्तन वा सेवन) करती है वैसा ही पुत्र वह उत्पन्न करता है इस लिए जिस में सन्तान विशुद्ध उत्पन्न होंवे स्त्रियों की बड़े यत्न से रक्षा करनी चाहिए । एवं इसी अध्याय के श्लोक ८ में लिखा है:—

पतिभ्रार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।

जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ म० ९। ८ ॥

(पिता और पुत्र के रूप और स्वभाव इतने मिलने जुलने हैं मानो) पति ही स्त्री में प्रविष्ट हो गर्भरूप वा पुत्र रूप से इस (जगत्) में पैदा होता है, जाया (स्त्री) का जायात्व यही है कि इस में फिर से जन्मता है ।

विवाहबन्धन विच्छेद नहीं ह्रांता—आज कल यूरोपादि कई देशों के विवाहित नर नारी जब एक दूसरे से अप्रमन्न हो जाते हैं तो विवाहबन्धन को तोड़ देते और अपना अपना दूसरा विवाह कर लेते हैं, परन्तु मनुस्मृति में लिखा है कि विवाह-बन्धन विच्छेद नहीं हो सक्ता । मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक ३८९ में लिखा है:—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमहेति ।

त्यजन्नरातितानेतान् राज्ञा दण्ड्यःशतानि पटू ॥ म० ८।३८९ ॥

न माता, न पिता, न स्त्री और न पुत्र त्यागने योग्य है इन विना पातित हुआँ को जो कोई त्यागे राजा उसे छः सौ पण दण्ड दे ।

वानप्रस्थाश्रम ।

मनुस्मृति अध्याय ६ के देखने से ज्ञात होता है कि आर्यगृहस्थ योग समाधि द्वारा आत्मिक शक्तियों की वृद्धि तथा परमात्मा की विशेषरूप से उपासना करने के लिए एवं संसार के कल्याण के लिए अपने को विशेष योग्य बनाने के निमित्त वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे । इस विषय में मनुस्मृति में लिखा है कि "स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहस्थाश्रम का कर्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण,

क्षत्रिय और वैश्य गृहस्थाश्रम में ठहर कर निश्चिंतात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में बसे । परन्तु जब गृहस्थ के शिर के श्वेतकेश और त्वचा ढीली हो जाय और लड़के का लड़का भी हो गया हां तब वन में जाके बसे” ।*

संन्यासाश्रम ।

मनुस्मृति अध्याय ६ के देखने से ज्ञात होता है कि मनुष्य जब वानप्रस्थ-आश्रम में अपने जीवन का तृतीय भाग समाप्त कर चुके, तपश्चर्या सत्संग, योगाभ्यास और सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करले तब जिन विचारों और अभ्यासों से स्वयं सुखी हुआ है उन्हें ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थियों को सुनाने तथा अपने पारंपरिक अनुभवों से संसार को लाभ पहुंचाने के लिए संन्यासी हां जावे यथा:—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ ६ । ३३ ॥

इस प्रकार वन में आयु के तीसरे भाग में (अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त, वानप्रस्थ हो के आयु के चौथे भाग में संगों को छोड़ के परिव्राजक अर्थात् संन्यासी हां जावे ।

परन्तु मनुस्मृति अध्याय ६ के श्लोक ३८, ३९, ४१ से यह भी ज्ञात होता है कि जो संसार के कल्याणों के लिए विशेष उत्सुक पुरुष हो वह सर्ववेदस यज्ञ कर के गृहस्थाश्रम से भी संन्यासी हो सक्ता था और अन्यान्य श्लोकों से यह भी बांध होता है कि पूर्ण विरक्त और ज्ञानी पुरुष ब्रह्मचर्याश्रम से भी संन्यास ग्रहण कर सक्ता था ।

चारों आश्रमियों के सामान्य धर्म ।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के कर्तव्य कर्मों की संक्षिप्त सूचना पृथक् २ पूर्व प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु कुछ ऐसे भी कर्म हैं जिन्हें सब आश्रमियों को करना उचित है । इस विषय में मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक ९१, ९२ में जो कुछ लिखा है उस का आशय यह है कि घृत्यादि दश लक्षण वाले धर्म का सेवन चारों आश्रम वालों को करना चाहिए ।

* एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।

वनं वनेषु नियतो गथावद्विजितेन्द्रियः ॥ म० ६ । १ ॥

गृहस्थास्तु यदापर्येद्वलिपलितमात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ म० ६ । २ ॥

चतुर्थपरिच्छेद

राजधर्म ।

राजा—राजा और प्रजा—राजा पूज्य है—राजा का प्रधान कार्य—राजा और मन्त्री सभा—राजा और मुख्याधिकारी—सभा के बीच राजा का न्यायप्रदान—राजा और ब्रह्मा की सभा—राजा और प्रजा की साधारण सभा—स्वतंत्र राजा—राज्य की भिन्न २ परिषदें—राजनीति और राजा की दिनचर्या—राज्य के भिन्न २ विभाग—शासन वा प्रबन्धविभाग—सेना वा युद्धविभाग—सनाओं का विभाजन—दुर्गों का निर्माण—प्रधानदुर्ग में राजभवन—तीन मार्गों से जाने वाली सेनाएं—व्यूहों की रचना—युद्धसम्बन्धी नियम—विजयी राजा का कर्तव्य—करविभाग—न्यायविभाग—वैदेशिक विभाग—गुप्तचर—क्या मनुस्मृति की दण्डाज्ञा कठोर थी?—मुद्राओं के प्रकार—आदर्श राजा और आदर्श राज्य ॥

मनुस्मृति अध्याय ७, ८ तथा ९ में और यत्किञ्चित् अन्यान्य कई अध्यायों में भी राजधर्म का वर्णन है जिस से प्राचीन राजशासनप्रणाली की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं । परन्तु विस्तारभय से उन सब को अङ्कित न कर दिग्दर्शन मात्र यहां कुछ लिख देते हैं ।

राजा—शतपथ ब्राह्मण के राज्याभिषेक प्रकरण में जैसा कि लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की सभा में राज्याभिषेक के नियमों के अनुसार जब तक अध्वर्यु एक योग्य पुरुष के राजा बनने की घोषणा न दे और जब तक चतुर्वर्णों के प्रतिनिधि वा चतुर्वर्णों की सभा उसे अपना राजा स्वीकार न करले तब तक वह पुरुष राजा नहीं बन सकता था । उस प्रकार राजा बनने की कोई विधि मनुस्मृति में लिखी हुई नहीं है । हां, इतना तो लिखा है कि राजा में अमुक २ गुण अवश्य होने चाहिएं जिस से सिद्ध होता है कि उक्त गुणों से रहित पुरुष राज्याधिकारी नहीं बन सकता था । राजा के जो गुण मनुस्मृति में लिखे हैं उन में से कतिपय निम्न लिखित हैं:—

(वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना) इन तीन विद्याओं के जानने वालों से इन तीन विद्याओं, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या (ज्ञानात्मा तथा परमात्मविषयक ब्रह्मविद्या) (लोगों से वार्त्तारम्भ) अर्थात् (बात बात करने की

विद्या) को (जानने द्वारा राजा) रात दिन इन्द्रियों को जय करने में लगा रहे क्योंकि जितन्द्रिय पुरुष ही प्रजा को वश में रख सकता है । *

राजा और प्रजा—अनेक पुरुष कहते और लिखते भी हैं कि “प्राचीन समय आर्यावर्त के राजा अपनी प्रजा के साथ जैसा व्यवहार चाहते थे करते थे उन की इच्छा ही राजव्यवस्था थी उन को विशेष नियमों में रखने वाली कोई भी शक्ति नहीं थी” परन्तु मनुस्मृति के देखने से यह बात ठीक ज्ञात नहीं होती, क्योंकि मनुस्मृति अध्याय ७ में जहां “ दण्ड ” की व्याख्या है वहां लिखा है:—

दण्डो हि सुमङ्गलजो दुर्धरश्चाकृतःत्पाभः ।

धर्माद्विचलितो हन्ति नृपमव सबान्धवम् ॥ म० ७ । २८ ॥

दण्ड बड़ा तेजोमय है उस को अकृतात्मा अर्थात् अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, यह दण्ड धर्म से विचलने हुए राजा का भी बन्धुसहित नाश कर देता है ।

अतः ज्ञात होता है कि “दण्ड” सर्वोपरि था जिस के विरुद्ध राजा भी नहीं चल सकता था वह दण्ड क्या था इस का उत्तर भी मनु अध्याय ७ के श्लोक १७, १८, १९, २६ तथा २७ में लिखा है जिन का अर्थ निम्नलिखित है:—

अर्थात् जो दण्ड है वही (वास्तव में) राजा, वही पुरुष, वही नेता, वही शासनकर्ता, वही चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है । दण्ड ही सब प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही सब की भली भांति रक्षा करता है, सोती हुई प्रजा के बीच दण्ड ही जागता है (जिस के भय से ही सोती हुई प्रजा को छुंटेरे और डाकू सताने का साहस नहीं करते) ज्ञानी लोग दण्ड ही का “ धर्म ” जानते वा कहते हैं । विचारपूर्वक भली भांति धारण किए जाने पर वह दण्ड सम्पूर्ण प्रजा को आनन्दित कर देता है और विना विचारे चलाया हुआ दण्ड चारों ओर से नाश करने लगता है । उस दण्ड का चलाने वाला सत्यवादी, विचारपूर्वक काम करने वाला, महा बुद्धिमान्, धर्म, काम और अर्थ का मर्मज्ञ राजा कहा जाता है । उस दण्ड को ठीक २ चलाता हुआ राजा धर्म, अर्थ और काम सहित भली भांति

* त्रैविद्याम्यज्ञयो विद्या दण्डनीतिं च शास्त्रनीम् ।

शा. ब्रा. वि. में चारमविद्यां वाकारम्भारच लोकतः ॥ मनु० ७ । ४१ ।

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठे ह्युवाचिष्ठम् ।

विनेन्द्रियो हि यज्जोतिषी षथै स्थापयदितुं प्रजाः ॥ मनु० ७ । ४४ ॥

वृद्धि को प्राप्त होता है, परन्तु विषयी, उल्टा पुल्टा करने वाला और क्षुद्र राजा उसी दण्ड से मारा जाता है ।

इस दण्ड के विषय में मनुस्मृति में यह भी लिखा है “ब्रह्मतेजोमयं दण्डम-सृजत्पूर्वमीश्वरः” (म० ७ । १४) अर्थात् महान् तेजोमय दण्ड को ईश्वर ने ही पूर्व बनाया था जिस से ज्ञात होता है कि वेदों में राजशासन के जो मूल-सिद्धान्त हैं वही व्याख्यासहित परम्परा से राजव्यवस्था, धर्मव्यवस्था वा दण्डव्य-वस्था के नाम से प्राचीन आर्यों में प्रचरित थे जिन के अनुसार ही राजा और प्रजा दोनों को चलना पड़ता था ।

मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३३९ तथा ३३६ का आशय यह है कि चाहे राजा का पिता हो वा आचार्य, मित्र हो वा माता वा स्त्री वा पुत्र वा पुरोहित इनमें से जो कोई—धर्मविरुद्ध कार्य करे (अपने धर्म में न रहे) वह राजा के लिए अदण्ड्य नहीं अर्थात् राजा को चाहिए कि इन्हें भी दण्ड दे । (और यदि राजा अपराध करे तो) जिस अपराध के लिए अन्य साधारण पुरुष को एक कार्षापण दण्ड दिया जाय उन्हीं अपराध के लिए राजा को सहस्र कार्षापण दण्ड मिले यह नियम है ।

परन्तु फिर प्रश्न होगा कि राजा जैसा शक्तिशाली पुरुष यदि उस दण्ड को स्वीकार नहीं करता होगा तो उसे उस दण्ड को स्वीकार कौन कराता होगा ! इस का उत्तर मनु ९।३३० में लिखा है कि सर्वथा उद्दण्ड ब्राह्मणों के प्रतिकूल चलने वाले क्षत्रियों को नियम में रखने वाले ब्राह्मण ही होंगे क्योंकि क्षत्रियों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से ही हुई है ।

अतः जब कभी कोई राजा वा कोई विशेष क्षत्रिय समुदाय किसी कारण दण्ड नियमों का तोड़ने लगता था तो ब्राह्मण (धार्मिक विद्वान् लोग) उसे धर्मावरोधी समझने लगते थे और सम्पूर्ण प्रजा पर ब्राह्मणों का जो प्रभाव जमा रहता था उस बल से ब्राह्मण लोग उद्दण्ड राजा वा उद्दण्ड क्षत्रियसमुदाय को वश में कर लेते थे ।

राजा पूज्य है—मनुस्मृति ४ । ११९ से ज्ञात होता है कि राजा जब कभी किसी प्रजा के यहां जाता था तो उस का बड़ा सन्मान होता था, वर्ष वर्ष पीछे मधुपर्क से उस की पूजा होती थी मनुस्मृति के राजप्रकरण में भी लिखा है कि प्रजा को अभय करने वाला राजा पूज्य है यथा:—

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः मततं नृपः ।

रात्रं हि वर्धते तस्य सदैवाऽभयदक्षिणम् ॥ म० ८ । ३०३ ॥

अभय का देने वाला राजा सदा पूज्य है, उम राजा का (राजरूप) सत्र (यज्ञ) सदा बढ़ता रहता है (जिस यज्ञ में) अभय दक्षिणा (दी जाती) है । कैसा उत्तम भाव है ! राजा यज्ञकर्ता की भांति एक पवित्रात्मा है, राज्य, यज्ञ की तरह एक पवित्र वस्तु है जिस यज्ञ में यज्ञकर्ता “ अभय ” जैसे उत्तम पदार्थ दान किया करता है, और इस दान का फल यह होता है कि राज्ययज्ञ सदा बना रहता और वृद्धि को प्राप्त होता रहता है जिस से प्रजा सदा लाभ उठाती रहती है ।

राजा का प्रधानक रथ—मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३०४ से लेकर ३०७ तक के देखने से ज्ञात होता है कि मनुस्मृति के समय राजा का प्रधानकार्य प्रजारक्षण माना जाता था ।

राजा और मन्त्रीसभा—मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक ११ में लिखा है “ अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायनं किन्तु राज्यं महादयम् ” जो सुगम काम है वह भी जब कि सहाय के बिना एक के करने में कठिन मालूम होता है तो महान् राज्य का कार्य एक से कैसे हो सकता है । अतः राजा को चाहिए कि (मनु अ० ७ श्लोक ५४, ५६, तथा ५७ के अनुसार) (जिन के मूल अर्थात् जन्मदाता पिता माता, राजा के देश के हों) अर्थात् राजा के देश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले शूरवीर जिन का लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो जो कुलीन और अच्छे प्रकार परीक्षित हों ऐसे सात वा आठ मन्त्री करे । इन मन्त्रियों के साथ नित्य सामान्य कर के सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति तथा लब्धप्रशमन* (इन छः विषयों) पर विचार किया करे, उन में से प्रत्येक मन्त्री की सम्मति पृथक् २ जानकर और पुनः यह जानकर कि किन २ मन्त्रियों की सम्मतियाँ एक प्रकार की हैं, अनेक कार्यों में से जो कार्य बहुपक्षानुसार आत्मा का (अर्थात् अपना तथा प्रजा का) हितकारी निश्चित हो उसे, राजा कराने लगे ।

राजनीति और राजा की दिनचर्या—जो लोग ऐसा कहते हैं कि आर्यावर्त के प्राचीन राजे विलासी थे और अपना अधिक समय विषयानन्द में ही व्यतीत करते थे वे सर्वथा भ्रम में हैं । राजा की दिनचर्या जिस प्रकार की

* नोटः—सन्धि, विग्रह, स्थान, समुदय, गुप्ति और लब्धप्रशमन ये छः विषय वेदों में जिन के अन्तर्गत राज्यसम्बन्धी सभी बातें आ जाती हैं अतः इन विषयों का विचार जिस सभा में होता था वही राजसभा कहला सकती थी ।

मनुस्मृति में वर्णित है उस से तो बोध होता है कि राजा, प्रजा के हितसाधन में तत्पर एक बड़ा ही परिश्रमी पुरुष था और वह अपना कोई भी समय व्यर्थ नहीं खोता था प्रत्युत प्रायः वह उन विचारों तथा कार्यों में प्रवृत्त रहता था जिन से प्रजा की श्री बढ़े और उन की रक्षा हो । राजा की दिनचर्या तथा राजनीति सम्बन्धी उत्तमोत्तम अनेक बातें मनु अध्याय ७ के श्लोक १४५, १४६, १४७, तथा १५१ से १६० तक तथा १८०, २१६, तथा २२१ से २२६ के श्लोकों में वर्णित हैं ।

राजा और मुख्याधिकारी—जिन विषयों का विचार उक्त राजसभा में होता था उन विषयों पर राजसभा के निश्चयानुसार कार्य करने वाले कई मुख्याधिकारी होते थे, और इन मुख्याधिकारियों के नाचे २ कई छोटे २ अधिकारी होते थे । इन का वर्णन मनु अध्याय १२ श्लोक १०० । अध्याय ७ श्लोक ६०, ६३, ६४, ६५ में है । जिन का आशय यह है:—

(मुख्य) सेनापति, मुख्य (राज्याधिकारी) मुख्य न्यायाधीश तथा सर्वलोकाधिपति (वा राजा) के कार्य वे ही कर सके हैं जो वेदशास्त्रवित् (अर्थात् पूर्ण विद्वान्) हों । अन्यान्य भी (जिन सात वा आठ मन्त्रियों का मन्त्रिसभा में वर्णन हो चुका है उन के अलावे) पवित्रात्मा बड़े ज्ञानवान्, निश्चितबुद्धि, अथं संग्रह में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्रियों को बनावे । सर्वशास्त्रविशारद दूत भी नियत करे जो इङ्कित चेष्टा (इशारे) को भी समझ जाय जो पवित्र चतुर और उत्तम कुल का हो, जो (राज कार्य में) प्रीति रखने वाला, पवित्रात्मा, चतुर, स्मरणशक्तिवाला, देश काल का जानने वाला, सुन्दररूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हां वही राजदूत हानों में प्रशस्त है । किसी एक मन्त्री के आधीन दण्ड हो (जिस दण्ड में विनयक्रिया अर्थात् लोगों को मुन्याय से प्रसन्न रखने की शक्ति हो) राजा के आधीन कोष और राष्ट्र हो और दूत के आधीन (अन्य राज्यों के साथ) सन्धि और विग्रह विषयक कार्य हों ।

सभा के बीच राजा का न्यायप्रदान—हम ऊपर लिख आए हैं कि राजा यद्यपि राज्यसम्बन्धी सभी कामों पर दृष्टि रखता था परन्तु कोष की सम्भाल विशेषरूप से उस के आधीन थी और न्यायप्रदान भी उसे विशेषरूप से करना पड़ता था । जो विशेष २ व्यवहारसम्बन्धी अभियोग राजा के विचारार्थ आते थे वे

अठारह प्रकार के होते थे (उन प्रकारों का वर्णन आगे किया जायगा) सभाभवन वा न्यायभवन में राजा के पधारने के पूर्व एक सभा बैठ जाती थी * ।

राजा नियमित समय पर कई वेदज्ञ विद्वानों (ब्राह्मणों) तथा कई मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करता था, न्यायालय में पधारते समय राजा युद्धमञ्जवी वस्त्रों को नहा पहनता था प्रस्युत विनातवेपाभरण धारण किए रहता था । अनुमान है कि राजा के साथ उक्त सभा में प्रवेश करने वाले विशेष २ ब्राह्मण तथा विशेष २ मन्त्री अभियोग निर्णय विषय में कुशल और दण्डशास्त्र के पूरे ज्ञाता होते हागे जो राजा को अभियोगनिर्णय में सहायता देने हांगे । अभियोगसम्बन्धी सूत्र बा.ों को नियमानुसार ज्ञात कर राजा जो कुछ निर्णय करता था उस के लिये उसे दण्डशास्त्र तथा देशव्यवहार का प्रमाण देना पड़ता था । दण्ड शास्त्र के नियम और दश के विरुद्ध मनमानी रीति से अभियोगनिर्णय करने का अधिकार राजा को नहीं था । हमने जो कुछ ऊपर लिखा है उस के लिए मनुस्मृति अध्याय ८ के श्लोक १, २, ३ तथा ८ साक्षी देते हैं ।

राजा और ब्रह्मा की सभा—बड़े २ विशेष विवेदास्पद अभियोग जो राजा के निणय के लिए आते थे उन्हें यदि किसी कारण राजा स्वयं निर्णय नहीं कर सकता था तो उस के निर्णयार्थ वह अपना एक प्रतिनिधि नियत करताथा यह प्रतिनिधि सदा वेदादि शास्त्रों का मर्मज्ञ पूर्णवर्म्मिष्ठ तपस्वी विद्वान् अथात् (ब्राह्मण) हुआ करता था, क्षत्रिय कभी नहीं । उक्त ब्राह्मण प्रतिनिधि की सहायता के लिए तीन अन्यान्य बड़े २ वेदज्ञ ब्राह्मणों की एक सभा स्थापित होती थी और इन चार ब्राह्मणों की सभा का नाम “ब्रह्मा की सभा” रक्खा जाता था । अभियोगनिर्णय विषय में इस सभा की निष्पत्ति राजा की निष्पत्ति की भांति सर्वोपरि समझी जाती थी । अनुमान है राजा के कार्य्य विविध प्रकार के बहुत होने के कारण यह सभा सदा स्थापित रहता हागी और आवश्यकतानुसार कार्य्यसम्पादन करता रहती हागी । इस विषय में मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ९, १०, ११ का आशय निम्नलिखित प्रकार है—

जब कि राजा स्वयं कार्य्य दर्शन न कर सके (अर्थात् अभियोगों को न

* नोट:—मनुस्मृति में इस सभा का ऐसा संक्षिप्त वर्णन है कि ठीक २ नहीं कहा जा सकता कि इस सभा के क्या २ कार्य्य थे परन्तु अनुमान से इतना तो ज्ञात होता है कि यह ब्रजाओं की कोई विशेष सभा थी ।

देख सके) तब एक ब्राह्मण को अभियोगों के देखने के लिए (अपने स्थान में) नियुक्त करे । वह ब्राह्मण तीन अन्य सभ्यों के साथ सभा में ही प्रवेश करे और एकाग्रवृत्ति से खड़े २ वा बैठ कर राजा के देखने योग्य अभियोगों को देखे । जिस देश में वेदज्ञ तीन ब्राह्मण रहते हैं और राजा के अधिकार से युक्त एक (पूर्वाक्त ब्राह्मण) विद्वान् रहता है उस सभा को ब्रह्मा की सभा (जानते) कहते हैं ।

राजा और प्रजा की साधारण सभा—मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक १४५, १४६ से ज्ञात होता है कि राजा का प्रातिदिन का प्रथम राजनैतिक कार्य यह था कि वह उस सभा में प्रातःकाल प्रवेश करे जहाँ कि साधारण प्रजा बैठो हुई हो, और सभास्थ सर्व साधारण प्रजा को प्रसन्न कर के उन्हें विदा करे ।

स्त्रीव्रत राजा—राजा के विवाह विषय में मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है:—
तदध्यास्योद्वेहेद्भार्या भवर्णा लक्षणांन्विताम् ।

कुत्रे महति सम्भूतां ह्यां रूपगुणान्विताम् ॥ म० ७ । ७७ ॥

(उक्त सर्व कार्य करने के पश्चात्) अपने सदृश गुण कर्म स्वभाव वाली अर्थात् सवर्णा शुभ लक्षणां से युक्त, महान् कुल में उत्पन्न हुई, हृदय को प्रमत्त करने वाली रूखवती और अनेक गुणां वाली एक कन्या से राजा विवाह करे । अतः राजा के लिये अनेक स्त्रियों का रखना प्राचीन राज धर्म के सर्वथा विरुद्ध है ।

राज्य की भिन्न २ परिषदें—मनु ७ । १४५ में प्रजा की साधारण सभा का वर्णन है । मनु ८ । १ तथा २ में उस सभा का वर्णन है जहाँ राजा विवादानिर्णयार्थ जाता था । मनु ८ । ९, १०, ११ में ब्रह्मा की सभा का वर्णन है । पुनः मनु ९ । २६४ में एक प्रकार के सभास्थान का वर्णन है जिस की रक्षा की आवश्यकता श्लोक २६३ में बाँठी गई है । पुनः मनु १२ । ११०, १११, ११२, ११४ से ज्ञात होता है कि जन धर्म की व्यवस्था दशवरा [दश महाविद्वानों की परिषद्] वा त्र्यवरा [तीन महाविद्वानों की परिषद्] में करे उस धर्म का उल्लंघन कोई न करे । त्रैविद्य अर्थात् ज्ञान कर्म और उपासना की विद्याओं से युक्त चारों वेद, हेतु शास्त्र, तद्विशस्त्र, निरुक्त तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता [अर्थात् महाविद्वान् पुरुष] जो कि प्रथम तीन आश्रमों के [अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रम के] हों उन की दशवरा परिषद् ही अर्थात् जिस परिषद् में उक्त प्रकार के दश महाविद्वान् सभामद् हों वह "दशवरा" परिषद् कहलावे । धर्म-संशयनिर्णयार्थ एक ऋग्वेद के ज्ञाता एक यजुर्वेद के ज्ञाता और एक सामवेद के

ज्ञाता ऐसे तीन विद्वानों की जो सभा बनी हो उसे व्यवरा परिषद् जानते वा कहते हैं । जो [ब्रह्मचर्य सत्यभक्षणदि] व्रत तथा मन्त्र [अर्थात् वेदवेद्या वा विचार] से रहित पुरुष जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं उन सहस्रां मनुष्यों के मिलने से भी परिषद् वा सभा नहीं कहानी । उक्त दशावरा तथा व्यवरा सभाएं धर्मसंशयो के उपास्थित होने पर उन का निर्णय करती थीं जिन के अनुपार मन्त्र को चलना पड़ता था । मनु ७। ५४, ५५, ५६ तथा ५७ में मन्त्रीसभा का वर्णन है जो सब सभाओं में मुख्य मनी जाती थी ।

राज्य के भिन्न २ विभाग—हम इस परिच्छेद के आरम्भ में राजा मन्त्रीसभा तथा राज्य के मुख्याधिकारियों के विषय में जो कुछ लिख चुके हैं उस से ज्ञात होगा कि मनुस्मृत के समय राज्यकार्य को मुराल्या चलाने के लिये शासन वा प्रबन्ध विभाग, दण्ड वा न्यायविभाग, सेना वा युद्धविभाग, कर वा अर्थविभाग, विदेश वा दूतविभाग क नाम में पांच मुख्य २ विभाग नियत थे । इन विभागों का वर्णन क्रमशः किया जाता है:—

शासन वा प्रबन्ध विभाग—मनु अध्याय १२ श्लोक १०० में मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य दण्डनेता [वा मुख्य न्यायधीश] तथा सर्व लोकाधिपति अर्थात् राजा जो इन चार मुख्यपदों का वर्णन है इन में से सर्वलोकाधिपतिपद का धारण करने वाला राजा सब से श्रेष्ठ और सब विभागों का सर्वोपरि पुरुष था, अन्यान्य मुख्याधिकारी कहलाने वाले भी राजा वा राजसभा के निरीक्षणधीन ही कार्य करत थे । अपने करने योग्य शासनविभाग के कार्यों को राजा बड़े पारश्रम से किया करता था परन्तु जब कभी खिन्न हो जाता था तो शासन सम्बन्धी सब कार्यों का प्रबन्ध मन्त्री के सुपुर्दे कर देता था । *

राजा के आधीन शासनविभाग में कार्य करने वाला जो शासनविभाग के अन्यान्य सभी कर्मचारियों में श्रेष्ठ वा राज्याधिकारी कहलाना था, जिस का कार्य अपने आधीन शासनविभाग के सभी कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षणदि था । इस राज्याधिकारी पद पर राजा का कोई एक मन्त्री ही नियुक्त हुआ करता था ।†

* अथान्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।

स्थापयेदामने तस्मिन् खलः कार्यक्षणे नृणां ॥ मनु ७। १४१ ॥

† तेषां ग्राम्याणि कर्षाणि पृथङ्कार्याणि चैव ॥

राज्ञोऽन्यः सच्चिदः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ मनु ७। १२० ॥

उक्त राज्याधिकारी के पश्चात् शासन विभाग में प्रत्येक नगर के “सर्वार्थ चिन्तक” का प्रांतस्थापि * उस के आधीन “सहस्रग्रामाधिपति” “शतग्रामाधिपति” “विंशतीश” तथा “दशग्रामाधिपति” और “एकग्रामाधिपति” नाम राजपुरुष कार्य करते थे । इन लोगों के लिए (मनु ७। ११६, ११७ ११८ के अनुसार) आज्ञा थी कि ग्राम में जो दोष उत्पन्न हों उन्हें ग्रामाधिपति धीरे से जानकर दशश (दशग्रामाधिपति) को सूचित कर दे, एवं दशश (अपने आधीनस्थ ग्रामों के दोषों को) विंशतीश को सूचित करे, विंशतीशशंश को और शतश (अपने आधीनस्थ सब ग्रामों के दोषों को) सहस्रग्रामाधिपति को सूचित किया करे, तथा अन्न, पेयपदार्थ और इन्धन इत्यादि जो २ वस्तु ग्रामवासियों को प्रतिदिन (कररूप से) राजकाष के लिये देने पड़ते हों उन्हें भी ये राजकर्मचारी (राजकाष के लिए) ग्रहण करें। इस से यह भी ज्ञात होता है कि इन शासन विभाग के कर्मचारियों के हाथ में करविवेक का भी कुछ कुछ काम था। करविवेक का वर्णन आगे किया जायगा। जिन श्लोकों का आशय हम ऊपर लिख आए उन से यह ज्ञात नहीं होता कि शासनविवेक के इन कर्मचारियों के हाथ में न्यायप्रदान का भी अधिकार था। न्याय प्रदान का अधिकार यदि इन के हाथों में होता तो ये दोषों के लिए स्वयं दण्ड का निणय कर दिया करते कि धीरे से वा गुप्त राति से दोषों को जान कर उन का सूचना अपने उच्चाधिकारियों को भेजते रहते। अतः सिद्ध होता है कि मनुस्मृति के समय भी (शासन वा प्रबन्ध विभाग) तथा (दण्ड वा न्याय-विभाग) पृथक् रहे। सम्भव है कि न्यायाधिपतियों की निष्पत्ति के अनुसार ये लोग अपराधियों को कारागारादि में रखने का प्रबन्ध करते हों परन्तु ये स्वयं ही अपराध निरूपण कर के अपराध पर विचार कर निष्पत्ति देते हों और स्वयं ही अपराधियों का दण्ड भोगाते हों, ये सब के सब मिले जुले कार्य इन के आधीन न थे।

सेना वा युद्धविभाग—युद्ध विभाग का प्रधान पुरुष मुख्य सेनापति था। (मनु ७। ११४ के अनुसार) राजा दो, तीन, पांच वा सौ सौ ग्रामों के बीच (राष्ट्र की रक्षा के लिए) (प्रधानपुरुषों) के आधीन गुल्म १† अर्थात् दृढ़ सैन्यसमूह रचता था और रक्षास्थान भी बनवाता था।

* नगरे नगरे चैकं कुर्वात् सर्वार्थचिन्तकम् ।

उच्छैः स्थानं घोररूपे नक्षत्राणामिव ग्रहसु ॥ मनु ७। १२१ ॥

† नोटः—“गुल्म” शब्द का अर्थ दोर कैजिबों का समूह है। मनु ७। ७, श्लोक १८० में लिखा है।

दुर्गों का निर्माण-मनु ७।७०,७४,७५ का आशय है कि “धनुर्दुर्गम्” अर्थात् धनुर्धारी पुरुषों से गहन दुर्ग, “मर्हीदुर्गम्” अर्थात् (गृथिर्वा के भीतर) मर्ही से बना हुआ दुर्ग, “अब्दुर्गम्” अर्थात् जल से घेरा हुआ दुर्ग “वार्क्षम्” अर्थात् चारों ओर वन से घिरा हुआ दुर्ग नृदुर्गम् अर्थात् दृढ़ता के साथ स्थापित सैन्यरूप दुर्ग. “गिरदुर्गम्” अर्थात् पहाड़ों में बने हुए कोंट इन दुर्गों के आश्रय से अर्थात् इन दुर्गों की रक्षा में पुर बसावे । क्योंकि प्राकार वा परकोंट वा दुर्ग के भीतर का एक धनुर्धर बाहर के सौ शत्रुओं से युद्ध कर सकता है और (दुर्ग के भीतर के) सौ धनुर्धर बाहर के दश सहस्र शत्रुओं से युद्ध कर सकते हैं इस कारण दुर्गों के बनाने का विधान है । वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण (पढ़ाने और उपदेश करने वाले धार्मिक विद्वान्) शिल्पी (अर्थात् कारागर), यन्त्र (अर्थात् नाना प्रकार की कलाएँ वा कल) * , यवसेन (अर्थात् चारा घासादि) तथा जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ।

प्रधानदुर्ग में राजभवन— उक्त दुर्गों में से जो विशेष दृढ़ होता था उस के भीतर राजा रहता था एवं उसी दुर्ग के आश्रय राजधानी भी बसती थी । मनु ७ । ७६ का आशय है कि (उन दुर्गों में से) किसी एक के बीच, सुपर्याप्त (अर्थात् सब प्रकार के राजकार्य तथा गृहकार्यों के भली भाँति चलने योग्य), गुप्तम् (अर्थात् सुरक्षित) सर्वतुक्म् (अर्थात् सब ऋतुओं में सुखदेने योग्य), शुभ्रम् (अर्थात् स्फटिक जैसा सुन्दर उज्वल) जल तथा वृक्षों से समन्वित (विशाल) राजभवन बनावे ।

“गुप्तम् च स्थापयेदाज्ञान् कृतसंज्ञान् समन्ततः । स्थाने युद्धे च कुशलानभीरुनविकारिणः (म०७।१९)” युद्ध प्रकरण में यह श्लोक आया है । इस का अर्थ है जो दृढ़ स्तम्भों के मुख्य, कल्प (अर्थात् युद्ध विद्या में सुशिक्षित) कृतसंज्ञान् (अर्थात् धार्मिक), स्थाने युद्धे च कुशलान् (अर्थात् धीर तथा युद्ध करने में चतुर) अभीरुन् (अर्थात् भयरहित), आविकारिणः (अर्थात्) जिन के मन में किसी प्रकार का विकार न हो, (येसे धीर पुरुषों को) चारों ओर सेना के रक्षके । इस “गुप्तम्” शब्द के विषय में वाक्यस्थ-बृहदभिधान पृष्ठ २६२५ में लिखा है “गुड” रक्षण, प्रधानपुरुषाधिष्ठिते रक्षके पुरुष=चे, गजाः ९ रथाः ९, अत्रवाः २७, पदातयः ४५,) एतःसख्यावति, अर्थात् “गुप्तम्” शब्द की व्युत्पत्ति “गुड” धातु से हुई है जिस का अर्थ रक्षा करना है । प्रधान पुरुष के आधीन रक्षक पुरुषों के एक समूह का यह नाम है जिस समूह में ९ हाथी, ९ रथ, २७ घोड़े तथा ४५ पैदल योद्धा हों ।

* नोट—मनुस्मृति जिस समय का वर्णन करती है उस समय दुर्गों की रक्षा के लिए यन्त्र अर्थात् कल तो रहते थे परन्तु वे किस प्रकार के थे इस का पता नहीं चलता ।

तीन मार्गों में जाने वाली सेनाएं—मनुस्मृति के उक्त स्थल में जहां दुष्ट शत्रु के दमन करने के लिए राजसेना के प्रस्थान की विधि वर्णित है वहां लिखा है:—

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।

सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ म० ७ । १८५ ॥

अर्थात् तीन प्रकार के मार्गों का साधकर, अपने छः प्रकार के बलों के साथ युद्ध कला के नियमानुसार धीरे २ शत्रुनगर की ओर चले ।

उक्त श्लोक में जो त्रिविधं मार्गं (अर्थात् तीन मार्ग) शब्द है उस का अर्थ अनेक प्रकार से लोगों ने किया है । एक अर्थ यह भी है “तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक स्थल (भूमि) में, दूसरा जल (समुद्र वा नदियों) में तिसरा आकाश में इन मार्गों का शुद्ध बनाकर, भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका और आकाश में विमानादि यानों से जाव” ।

लोग दो मार्गों अर्थात् स्थल और जल मार्गों की बातें तो बिना रोकटोक मान लेंगे परन्तु आकाश मार्ग में विमानादि यानों के द्वारा जाने की बात है उस पर सन्देह करेंगे । परन्तु हमें तो यह सन्देह ठीक नहीं ज्ञात होता क्योंकि मनु अध्याय १२ श्लोक ४८ में स्पष्ट लिखा है:—

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।

नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा मातृत्वकी गतिः ॥ म० १२ । ४८ ॥

अर्थात् जो तपस्वी, यति (संन्यासी) वदपाठी, विमान के चलाने वाले, ज्योतिषी और दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं उन को प्रथमसत्व गुण के कर्म का फल जाना ।

जब कि यह श्लोक निस्सन्देह सिद्ध कर रहा है कि मनुस्मृति के समय विमानों के चलाने वाले विद्यमान थे तो यह कैसे माना जाय कि युद्धविभाग के लोग उक्त विमानों से लाभ उठाने के लिए यत्न नहीं करते होंगे ! क्या “कांउट जेपलिन” के अपूर्ण विमानों से लाभ उठाने का निरन्तर यत्न जर्मनी का युद्ध विभाग नहीं कर रहा है ?

उद्युतों की रचना—प्राचीन समय जब कि सेनाएं युद्ध के लिए पयान करती थीं वा युद्ध करती थीं तो नियमित रीति से पंक्तियों में आवद्ध हो कर च-

लती थीं उन पांक्तियों में आबद्ध योद्धाओं के समूहों को आवश्यकतानुसार सेनापति भिन्न-२ रूपों का बनाता था जिसे व्यूहरचना कहते हैं । इन व्यूहों का रूप अनेक प्रकारों का होता था जिन में से मनुस्मृति में दंड, शकट, वराह, मकर, सूर्चा, गरुड़, पद्म, और वज्र नामक व्यूहों का नाम आया है ।

युद्ध सम्बन्धी नियम—मनुस्मृति अध्याय ७ में युद्धसम्बन्धी नियम वर्णित हैं परन्तु वे प्रायः उर्सा प्रकार के हैं जैसा कि सूत्रग्रन्थों के प्रकरण में हम लिख चुके हैं अतः उन्हें पुनः यहां आङ्कित नहीं करते ।

करविभाग—करविभाग का कुछ वर्णन, करविभाग के अधिकारियों के वर्णन के साथ २ हो चुका है । मनु अध्याय ७ श्लोक ६०, ८०, १२८ से १३३ तक, १३७, १३८, १३९ तथा अध्याय ८ श्लोक ३९८, ४०४ से ४०७ तक में करसम्बन्धी विशेष बातें लिखी हैं । अध्याय ७ श्लोक १३०, १३१, तथा १३२ तथा अध्याय ८ श्लोक ४०६ के आशय निम्नलिखित हैं:—

जस जाक, बछड़ा आर भारा थाड़ा २ भाग्यपदाथे का ग्रहण करत हे वस राजा प्रजा स थोड़ा २ वार्षिक कर लेवे । पशु और हिरण्य [अर्थात् सोना] सम्बन्धी व्यापार कर के जो लाभ उठाने हों उन से उन के लाभ का पचासवां भाग और धान्य [नाज] की उपज का आठवां, छठवां वा बारहवां भाग राजा लेवे । वृक्षों, मधु, घी, गन्ध, आपधि, रस, फूल, मूल, फल, पत्त, शाक, तृण, चर्म [मेरे हुए पशुओं के], बांस वा बेंत के बने हुए पात्रादि, मट्टी के बने हुए बर्तनों तथा पत्थर की बनी हुई वस्तुओं की विक्री से जो लाभ हो उस का छठा भाग राजा लेवे । [नौका के द्वारा] लम्बी उतराई का महसूल देशकालानुसार [न्यूनधिक] हो परन्तु इस उतराई को नदीतीर में ही समझे, [नदी वाली बात] समुद्र विषय में न घटाई जाय ।

विजयी राजा का कर्तव्य—मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक २०१, २०२, २०३, २०४, तथा २०६ में जो अङ्कित है उस का आशय निम्नलिखित है:—

(शत्रु के देश को) विजय कर, उस विजित देश में ज्ञानी महात्माओं तथा धार्मिक ब्राह्मणों की भली भांति पूजा करे, (शत्रुदेश के उन लोगों को जो युद्ध के कारण महादीन हो गए हों) परिहार अर्थात् पोषणार्थ द्रव्यादि देवे, और (तदनन्तर विजित देश में) अभयदान की घोषणा करा देवे । विजित देश के राजा,

वा राजा मारा गया हो तो उस के प्रधानपुरुषों, मन्त्रियों तथा प्रतिष्ठित प्रजा पुरुषों आदि) इन सब की इच्छाओं को संक्षेपतः जान कर (वहां के राज्य सिंहासन पर) विजित राजा के वंश के किसी योग्य पुरुष को (यदि विजित राजा मारा गया हो अथवा भाग गया हो तो) स्थापित करे और उस समय के उपयुक्त जो २ अन्यान्य कार्य हों उन्हें भी करे । सुप्रकाशित धर्मानुसार (अर्थात् धर्मानुकूल जो राजनीति है तदनुसार) उन राजा तथा राजपुरुषों से प्रमाणपत्र वा प्रतिज्ञापत्र लेवे [और तदनन्तर] प्रधान पुरुषों को अपने साथ लेकर उस राजा की रत्नादि से पूजा करे । लेना अप्रियकारक और देना प्रियकारक तो है परन्तु समयानुसार [वा आवश्यकतानुसार] इच्छित पदार्थों का लेना वा देना दोनों ही ठीक है । अथवा तीन प्रकार के फल, मैत्री वा भूमि वा सुवर्ण इन को भली भांति देख कर और बड़े यत्न के साथ सन्धि कर के उक्त तीनों फलों में से किसी को ले कर [अपने राज्य की ओर] कूच करे ।

न्याय विभाग—न्यायालय में जितने प्रकार के अभियोग आते थे उन के मुख्य १८ भेद थे । उन अठारहों में से (१) ऋणादान (२) निक्षेप (३) “अस्वामि-विक्रय” अथवा दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच देवे इस पर झगड़ा (४) “संभूय च समुत्थानम्” अर्थात् एक साथ हो कर कोई काम करना जैसे मिल मिला कर किसी पर अत्याचार करना अथवा मिल जुल कर कोई अन्य काम करना जिस पर विवाद उठे (५) “दत्तस्थानपक्वम्” अर्थात् दिए हुए पदार्थ को लौटा लेने पर झगड़ा (६) “वतनम्येव चादानम्” वतन अर्थात् किसी का नौकरी में से ले लेने वा कम देने पर झगड़ा (७) “सविद्वेषव्यतिक्रमः” अर्थात् प्रतिज्ञा के विरुद्ध वतन पर झगड़ा (८) “क्रयविक्रयानुशयः” अर्थात् लेने देने में झगड़ा होना (९) “विवादः स्वामिपालयोः” अर्थात् पशु के स्वामी और पालने वाले का झगड़ा, (१०) सीमा-विवाद (११) कठार वाणी का बालना (१२) मार पीट (१३) चोरी (१४) साहस अर्थात् किसी काम का बलात्कार से करना (१५) परस्त्री संग्रहण अर्थात् परस्त्री को ले लेना वा क्रिमा की स्त्री के साथ किसी पुरुष का व्यभिचार होना (१६) स्त्री और पुरुष का परस्पर धर्म टूटना (१७) विभाग अर्थात् दायभाग में वाद उठना (१८) “द्यूत” अर्थात् जड़ पदार्थ को दाव में रख के जूआ खेलना और “समह्वय” अर्थात् चेतनशरीरधारी का दाव में रख के जूआ खेलना या चेतन भेदे आद को

लड़ा कर जूआ खेलना, ये अठारह प्रकार के परस्परविरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं । इन अठारह स्थलों में बहुत अधिक झगड़ने वाले पुरुषों का कार्यनिर्णय (अभियोग-निर्णय) सनातनधर्मशास्त्र वा दण्डशास्त्र के अनुसार करे । *

न्यायालय में अभियोग उपास्थित करने वाले वादी वा मुद्दई (मनु ८।१८ में ऐसे पुरुष का नाम अभियोक्ता और मनु ८।७९ में ऐसे पुरुष का नाम अर्थी लिखा हुआ है) को अपने कथनों की पुष्टि के लिए जब साक्षियों के उपास्थित करने की आवश्यकता पड़ती थी अथवा प्रत्यर्थी वा प्रतिवादी वा अभियुक्त (मुद्दालह) को अपने कथनों के समर्थन के लिए साक्षी लाने पड़ते थे तो न्यायाधिपति इन के प्रस्तुत किए हुए साक्षियों में से धार्मिक विद्वानों की साक्षियों तथा जो इन के सम्बन्धी वा मित्र न हों उन क कथनों पर ही विशेष विचार करता था परन्तु बलात्कार काम, चोरी, व्यभिचार, वठारवचन, दण्डनिपातरूप अपराधों में साक्षियों के गुणों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था क्योंकि उक्त काम प्रायः गुप्त हुआ करते हैं और शूद्रों तथा अन्त्यजों क अभियोगों में तो शूद्र और अन्त्यज भी बे रोक टोक साक्षी खांकार किए जाते थे और स्त्रियों के अभियोगों में स्त्रियों की साक्षी आवश्यक मानी जाती थी न न्यायाधिपति युक्त सभा के निकट तथा अर्थी और प्रत्यर्थी के समक्ष न्यायालय में जब साक्षी उपास्थित होते थे तो निम्नलिखित प्रकार कार्यवाही आरम्भ होती थी:—

जब कि सभा के निकट तथा अर्थी (वादी) और प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के सामने साक्षी उपास्थित हो जाय तब प्राड्विषाक (वकील) साक्षियों को सावधान करते हुए (देखिए मनु ८ । ८०, ८१, ८३, ८४, ९१, ९६) उन से इस प्रकार पूछे “ इन दोनों (वादी प्रतिवादियों) ने इस कार्य में जैसी कुछ चेष्टा की हो और उस विषय में जो कुछ तुम जानते हो सो सब सत्य २ कहो क्योंकि

* नोट—उक्त अठारह प्रकार के विवादों में जो दोषी ठहरते थे उन दोषियों में से किस अपराधी को कितना दण्ड देना चाहिए इस का नियम भी मनु अध्याय ८ तथा ९ में लिखा है एवं इन अठारह भागों के जो उपभाग हैं यथा “मनुष्य और पशु की अनुचित चिकित्सा करने वाले दैत्य (मनु- ९, २८४) को दण्ड” उन का विवरण भी उन्हीं अध्यायों में सङ्गोपतः वर्तमान है ”

† नोट—“ न साक्षी नृवनिःकार्यो न काडककुशोलवौ । न श्रोत्रियो न लिङ्गदो न श्लेष्मो विनिर्गतः ” (मनु ८ । ६) अर्थात् राजा को साक्षी न बनावे न कारीगर न लह को और न श्रोत्रिय ब्राह्मण और न ब्रह्मचारी और न संन्यासी को ।

तुम्हारी यहां साक्षी है, जो साक्षी गवाही में सत्य बोलता है वह (जन्मान्तर में) उत्तम जन्म वा उत्तम लोकान्तरों में सुखदाई जन्म पाता है वा सुख पाता है और इस (वर्तमान) जन्म में उत्तम कर्तियों को पाता है क्योंकि जो यह (अर्थात् सत्य) वाणी है उसी की प्रतिष्ठा बंद ने की है, सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है अतः सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिए, आत्मा का साक्षी आत्मा है (अर्थात् अपने कर्मों का आत्मा स्वयं जानता है) तथा आत्मा की गति आत्मा है (अर्थात् अपना कल्याण मनुष्य आप ही कर सकता है) अतः तू मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर (अर्थात् जो भाव तेरे आत्मा में हो उम के विरुद्ध मत बोल), हे कल्याण की इच्छा करने हारे ! पुरुष जो तू " मैं अकेला हूं " ऐसा अपने आत्मा में जानता है (सो ठीक नहीं) (क्योंकि) तेरे हृदय में पुण्य पाप का देखने वाला ज्ञानी परमेश्वर नित्य स्थित रहता है, जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् शत्रु (शरीर का जानने वाला आत्मा) (भीतर) शङ्का का प्राप्त नहीं होता उस से भिन्न विद्वान् लोग किसी का उत्तम पुरुष नहीं जानते । प्राड्विवाक के उक्त प्रकार सावधान कर देने के पश्चात् साक्षियों की साक्षी न्यायाधिपति लेता था और उन साक्षियों में से जो माननीय सिद्ध होता था उस के कथनानुसार तथा देशन्यवहार और दण्डशास्त्र के नियमों का ध्यान में रखना हुआ निष्पात्त (फैसला) देता था । उक्त साक्षियों में से जो २ साक्षी झूठ बोलने वाले सिद्ध होते थे उन्हें भी यथायोग्य दण्ड देता था ।

झूठे साक्षी—झूठे साक्षी के विषय में मनुस्मृति में यहां तक लिखा है कि "साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्मरकमभ्येति प्रत्य स्वर्गाच्चर्हायते (म०८ । ७५) अर्थात् आर्यों की सभा में जो साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोल वह अवाङ्मरक" अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःख रूपनरक को (वर्तमान समय में) प्राप्त होवे और मरे पश्चात् भी सुख से हानि हो जाय ।

मनु अध्याय ८ श्लोक ११८, ११९, १२० तथा १२१ के अनुसार भी ज्ञात होता है कि लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध तथा अज्ञानादि कारणों से झूठ बोलने वाले साक्षियों को भिन्न २ प्रकार का दण्ड मिलता था । परन्तु उक्त प्रमाणों के मनुस्मृति में वर्तमान रहते हुए भी आश्चर्य्य है कि अनेक यूरोपीय ऐतिहासिक लिखते हैं कि "हिन्दुओं के असत्य बोलने का मुख्य कारण यह है कि

मनु ने भी मिथ्याभाषण की आज्ञा दी है” और अनन पक्ष का पृष्टि में उक्त ऐतिहासिक मनु अध्याय ८ के निम्नलिखित श्लोक १०३, १०४ तथा ११२ का प्रमाण देते हैं:—

तद्भद्रन् धर्मतोऽप्येषु जानन्नप्यन्यथानरः । न स्वर्गाच्छयत्रतं लोकाद्द्वीषीं वचं वदन्ति
ताम् (म० ८।१०३) शूद्रविदूषत्रविप्राणां यत्रर्तंकां भाद्रवः । तत्र वक्तव्यमनृतं
ताद्धर्मस्याद्विशिष्यते (म० ८ । १०४) कामिनापु विवाहेषु गत्रां भक्ष्य तथेन्धनं ।
ब्राह्मणाम्युपपत्तौ च शपथं नास्तिपातकम् [म० ८ । ११२] अर्थात् जानता हुआ
भी जो नर धर्म के कार्यों में झूठ बोलने वाला है वह स्वर्ग लोक से नहीं गिरता
क्योंकि उस झूठ का देवी वचन कहते हैं । सब बोलने से जहां शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय
और ब्राह्मण का बच हो वहां झूठ बोलना चाहिये क्योंकि वह (झूठ) सत्य से बढ़
कर है । कामिना के विषय में, विवाह में, गौ के भक्ष्य वस्तुओं में, इन्धन में, तथा
ब्राह्मण की रक्षा में शपथ करने में पातक नहीं है ।

इन श्लोकों के विषय में हमारा कथन यह है कि उक्त दोनों श्लोकों में से जो
पहले दो श्लोक हैं अर्थात् श्लोक १०३ तथा श्लोक १०४ वे तो प्रक्षिप्त हैं और
जो तीसरा श्लोक ११ है १० उस का अर्थ समझन के लिए उक्त ऐतिहासिकों ने पूरा
यत्न नहीं किया ।

श्लोक १०३ तथा १०४ के प्रक्षिप्त होने के कारण निम्नलिखित हैं:—

(क) मनु अध्याय ८ श्लोक ७९ तथा ८० में जो कुछ लिखा है उस का आ-
शय यह है कि साक्षी जब कि सभा के निकट तथा वादी प्रतिवादी के सामने उप-
स्थित हो जाय तब माड्विवाक (वकील) उन्हें सत्य बोलने के लिए सावधान कर
दे इन श्लोकों के आगे अर्थात् ८१ से १०० तक जो श्लोक हैं उन में सत्य की
महिमा और झूठी साक्षी के दोष लिखे हुए हैं । फिर १०१ श्लोक में लिखा है
“एतान्दोषान्प्रेक्ष्यत्वं सर्वाननृणभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेव व्रजसा वद” [म०
८ । १०१] से साक्षी ! सब प्रकार के झूठ बोलने में इतने दावों को [जिन का वर्णन
कर आए] देख कर जैसा तूने सुना हो या देखा हो वह सब का सब ज्यों का त्यों
शीघ्र कह दे यहाँ साक्षियों से प्रश्न करने का विषय सर्वथा समाप्त होता है इसके
के अनन्तर १०२ श्लोक में कुछ अन्य नियम हैं एवं १०७ वें श्लोक में भी साक्षी
विषयक नियम हैं, परन्तु १०३ से १०९ तक के बीच के जो श्लोक हैं उन में साक्षी

सम्बन्धी कोई भी बात नहीं, न इन में साक्षी शब्द ही है मनुयुत १०३ तथा १०४ में विशेष विशेष स्थलों में झूठ बोलने की शिक्षा है तथा १०९ और १०६ में उस झूठ बोलने का प्रायश्चित्त लिखा हुआ है। अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि १०३, १०४, १०९ तथा १०६ श्लोकप्रकरण विरुद्ध एवं प्रक्षिप्त हैं ।

(ख) जो मनुष्य उन्मत्त न हो वह अपनी पुस्तक के एक ही अध्याय में और थोड़े ही अन्तर पर परस्पर विरुद्ध बातें नहीं लिख सकता जो पुरुष अध्याय ८ श्लोक ९४ में लिखता है “अवःक्षिरास्तमस्पन्धं किलिषी नरके व्रजेत् । यः प्रभं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धमानिश्चये” अर्थात् जहां शिश नीचे रखना पड़े और घोर अन्धकार हो ऐसे दुःख को वह पापी प्राप्त हों जो धर्मनिर्णय के लिये पूछने पर असत्य बोले”, वह श्लोक १०३ में कैसे लिख सकता है कि धर्मकार्य में कहा हुआ असत्य देववचन है ? और जो पुरुष अध्याय ८, श्लोक ९८ वें में लिखता है कि “सहस्रं पुरुषानृतं अर्थात् पुरुष के विषय में झूठी साक्षी देने पर एक सहस्र बांधवों के मारने का पाप होता है” वह श्लोक १०४ में कैसे लिख सकता है कि एक मनुष्य का प्राण बचाने को झूठ बोलना चाहिये ?

क्योंकि जो यूरोपीय ऐतिहासिक श्लोक १०३ तथा १०४ को प्रामाणिक मानते हैं वे श्लोक ९८ को भी प्रामाणिक मानते हैं अतः श्लोक ९८ के प्रमाण से भी हमने श्लोक १०३ तथा १०४ के आशयों को अप्रामाणिक सिद्ध किया । श्लोक १०३ तथा १०४ प्रक्षिप्त हैं इस का एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि मनु के प्रायश्चित्त प्रकरण अध्याय ११, श्लोक ८८ में स्पष्ट लिखा है “उक्त्वा चैवानृतं साक्षये प्रतिरुद्ध्य गुरुं तथा । अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्बन्धम्” (म० ११ । ८८) अर्थात् गवाही में झूठ बोलने पर भी गुरु के विरुद्ध चलकर भी, घरोहर को न देने पर भी, स्त्री तथा मित्र का बन्ध करने पर भी (ब्रह्म हत्या का दोषी होता है एवं) ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे । अतः मनुस्मृति अध्याय ११, श्लोक ८८ का रखने वाला जो किसी भी कारण गवाही में झूठ बोलने वाले की ब्रह्महत्या के पाप का भागी बनाता है वह श्लोक १०३ तथा १०४ में किसी मनुष्य का प्राण बचाने के लिए झूठी गवाही देने का उपदेश नहीं कर सकता अतः श्लोक १०३ तथा १०४ प्रक्षिप्त हैं और इन श्लोकों के आधार पर यूरोपीय ऐतिहासिकों ने आर्यों पर जो २ आक्षेप किए हैं वे सब के सब अमूलक हैं ।

झूठी शपथ—यूरोपीय ऐतिहासिक मनु अध्याय ८, श्लोक ११२ का

प्रमाण देते हुए जो यह कहते हैं कि मनुस्मृति में विशेष २ समयों पर झूठी शपथ खाने का भी उपदेश है सो अप्रामाणिक है । क्योंकि मनु अध्याय ८, श्लोक ११२ का अर्थ जैसा कि यूरोपीय ऐतिहासिक समझते हैं वैसा नहीं है । उक्त श्लोक को अर्थ सहित हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं और पुनः यहां लिखते हैं:—

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ म० ८ । ११२ ॥

अर्थात् कामिनी के विवाह विषय में, गौ के भक्ष्य वस्तुओं में, इन्धन में तथा ब्राह्मण की रक्षा में शपथ करने में पातक नहीं है ।

उक्त श्लोक में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिस का “झूठ शपथ” अर्थ किया जाय । श्लोक में केवल शपथ शब्द है “झूठ शपथ” नहीं अतः झूठ शपथ खाने का दोष किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सक्ता । परन्तु झूठ शपथ की बात चली कैसे ? इस का अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि यूरोपीय ऐतिहासिक स्वयं तो अच्छे संस्कृतज्ञ होते नहीं इस कारण भारतीय टीकाओं के आश्रय से काम चलाते हैं । उक्त श्लोक ११२ पर टीका करते हुए कुल्लूक भट्ट ने लिख दिया है कि “वृथा-शपथे पापं न भवति” [अर्थात् श्लोक ११२ में गिनाए हुए स्थलों में] यदि व्यर्थ शपथ भी खाये तो पाप नहीं होता । उक्त टीकाकार के “वृथा” शब्द अपनी ओर से बढ़ा देने के कारण, आर्य्य, उक्त ऐतिहासिकों के आक्षेप के पात्र बन गए ।

वास्तविक बात यह है कि मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक १११ में लिखा है “न वृथा शपथं कुर्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः । वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति” जिस का अर्थ है समझदर पुरुष छोटी २ बातों (अर्थों) के लिये भी वृथा (अर्थात् निष्प्रयोजन) शपथ न किया करे, निष्प्रयोजन शपथ करने से इस लोक तथा परलोक में नाश को प्राप्त होता है (तात्पर्य यह है कि जो पुरुष बात बात में शपथ खाया करता है वह झूठा समझा जाता है उस का विश्वास उठ जाता है और वह दुःख भोगता है) । फिर श्लोक ११२ (जिस का अर्थ हम ऊपर कर चुके हैं) द्वारा बतलाया है कि ब्राह्मण की रक्षा आदि आवश्यक कार्यों में यदि शपथ बिना काम न चलता हो तो शपथ खावे ।

ध्यान रहे कि वास्तव में शपथ खाने [हलक लेने] की आवश्यकता तब पड़ती थी जब कि किसी अभियोग में साक्षी नहीं मिलते थे । मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक १०९ में लिखा है:—

असाक्ष्यकेषु त्वर्थेषु मिथोविदमानयोः ।

अविन्दस्तत्त्वतः सत्यं ज्ञापयेनापि लम्भयेत् ॥ म० ८। १०९ ॥

अर्थात् झगड़ने वाले वादी प्रतिवादियों के जिस अभियोग में साक्षी न होने के कारण [सत्य ज्ञात न हो] उस में शाय खिलाकर असल बात को जाने [और निर्णय करे] ।

वैदेशिकविभाग—यह विभाग प्रधानदूत के आधीन था । दूत मानो वैदेशिक विभाग का मन्त्री था; इस के आधीन अनेक अन्यान्य दूत थे जो अन्यान्य राज्यों में अपने राज्य का कार्य साधन करते थे ।

गुप्तचर—मनु ७। १२२ में नगराधिपति के आधीन गुप्तचरों के कार्य बतलाए गए हैं तथा जहां राजा की दिनचर्या विस्तारपूर्वक वर्णित है वहां भी राजा का समय गुप्तचरों के समाचार सुनने के लिए नियामत बतलाया गया है जिस से बोध होता है कि गुप्तचरों का रखना भी मनुस्मृति के समय आवश्यक समझा जाता था ।

क्या मनुस्मृति की दण्डाज्ञा कठोर थी ?—अठारह प्रकार के अभियोगों में से चारी तथा व्यभिचाराद सम्बन्धी कई ऐसे अभियोग हैं जिन में अपराधों को प्राणदण्ड वा अङ्गभङ्ग वा देशनिर्वासन दण्ड देने की आज्ञा मनुस्मृति में है । कई पाश्चात्य विद्वान् कहा करते हैं कि मनुस्मृति की दण्डाज्ञा बहुत ही कठोर है और इस से यह परिणाम निकालते हैं कि उस समय आर्यावर्त में पूरी सभ्यता नहीं थी, वे लिखते हैं कि उक्त दण्डों से कम दण्ड भी यदि उक्त प्रकार के अपराधियों को दिया जाता तो दण्ड देने का उद्देश्य पूर्ण हो सकता था परन्तु ऐसी सम्मति रखने वाले पुरुषों को वर्तमान समय के अपराधों की वृद्धि की ओर भी ध्यान देना चाहिये था । क्योंकि आज कल दण्ड जैसे कठोर नहीं होते इस कारण उक्त प्रकार के अपराधों की जैसी चाहिए वैसी न्यूनता भी नहीं होती । कठोर दण्ड होने से अपराध कमपायमान हो जाते हैं । एक डाकू वा व्यभिचारी को प्राणदण्ड मिलते हुए देख कर अन्य डाका डालने की इच्छा रखने वाले वा अन्य व्यभिचारी अपराध करने से रुक जाते हैं और बहुत दिनों तक उक्त प्रकार के दुष्कर्म नहीं करने से उन के स्वभाव अर्थात् आदत में भी भेद पड़ जाता है । एक अपराधी को कठोर दण्ड मिलने से भाविष्यत में कठोर दण्ड के भय से अपराध करने से सहजों पुरुषों का रुकजाना तथा उन से सहजों प्रजा को जो कष्ट पहुंचता उस से उन का बच जाना अच्छा है,

अथवा एक अपराधी के साधारण दण्ड मिलने से भविष्यत् में सहस्रों अपराध करने वालों के हृदय से कठिन दण्ड का भय उठ जाना, एवं उन के द्वारा सहस्रों प्रजा का पीड़ित होना अच्छा है !

दण्डों का उद्देश्य प्रजा को भयभीत कर के दुष्ट कर्मों से उन्हें बचाना है। हम संसार में देखते हैं कि उर्सा दण्ड से लोग प्रायः अधिक भयभीत होते हैं जो कठोर हो और कभी २ दिया जाय, और बात यह भी है कि अदृष्ट पदार्थ के लिए सदा मन में अधिक मान्य और भय रहता है। आजकल संसार में यदि चोरियों की संख्या दिनों दिन प्रायः बढ़ती जाती है तो इस का कारण केवल यही है कि चोर लोग कड़ियों और बन्दीगृहों से विज्ञा हो गए हैं और उन के हृदय में इन का भय अधिक नहीं है।

अतः मनुस्मृति की दण्डाज्ञा व्यर्थ कठोर नहीं है प्रत्युत वह इस नियम पर स्थित है कि “दण्ड सदा कठोर हानं चाहिए ताकि वे कभी कभी दिए जाय” ।

सुव्राओं के प्रकार—मनुस्मृति जिस समय का वर्णन करती है उस समय व्यापारादि कार्यों को सुरीत्या चलाने के लिए तांबे, चांदी और सोने के भी सिक्के व्यवहृत थे, यथा:—

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।

ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ म०८।१३१ ॥

लोगों के व्यवहार के लिए तांबे, चांदी और सोने [के सिक्कों] की जो संज्ञा पृथिवी पर प्रख्यात है उन सब को कहता हूं ।

इस श्लोक के आगे श्लोक १३२ से श्लोक १३८ तक तांबे, चांदी और सोने के सिक्कों के नाम दिये हुए हैं जो कि निम्नलिखित प्रकार हैं:—

३ तीन यव का १ कृष्णल । ५ पांच कृष्णल का एक माष । १६ सोलह माषों का एक “ सुवर्ण ” । ४ चार सुवर्ण का एकपल । १० दशपल का एक धरण। दो कृष्णलों का एक रौप्य माषक । १६ सोलह माषक का एक चांदी का धरण वा चांदी का पुराण । तांबे के कर्षभर पण को कार्षापण वा ताम्रिक पण कहते थे । १० दश धरण का एक चांदी का शतमान । ४ सुवर्ण का एक निष्क। २५० दो सो पञ्चास पणों का प्रथम साहस । ५०० पांचसौ पणों का मध्यम साहस । तथा एक सहस्र पणों का उत्तम साहस होता था ।

आदर्श राजा और आदर्श राज्य—ऐसे तो उत्तम राजा और उत्तमराज्य के लक्षण बताने वाले अनेक श्लोक मनुस्मृति में आए हैं परन्तु निम्न-लिखित श्लोक उन सब श्लोकों का सार ज्ञात होता है:—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।

न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ म०८।३८६ ॥

जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलने हारा न साहसिक डाकू और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भङ्ग करने वाला है वह राजा उस आनन्द का भागी होता है जिसे “ शक्र ” नाम सर्वोपरि तेजस्वी राजा अपने राज में भोगता है ।

तृतीयो भागः सम्पूर्णः ॥



❁: चतुर्थ भाग :❁

रामायण के समय का इतिहास ।

श्री रामचरित्र की प्रतिष्ठा—श्री रामचरित के विषय में वीनरादि का भ्रम—वा-
स्मीक रामायण का श्लोकसंख्या—अयोध्या—अश्वमेधयज्ञ—महाराज दशरथ के पुत्रों
की उत्पत्ति और उन की शिक्षा—श्री राम और विश्वामित्र—धनुषभञ्जन और विवाह—
श्री रामचन्द्रजी के गुण—राजसभा का अधिवेशन तथा युवराज्याभिषेक की तय्यारी—
कैकेयी की कठोरता श्री राम की वनयात्रा और प्रजा का शोक—पञ्चवटी का युद्ध—
राक्षसजाति—सीताहरण—वानरजाति—सुग्रीव से मैत्री और बालीवध—हनूमान् का समुद्र
तैरना—सीता का अनुसन्धान—सेतु का बांधना—लंकायुद्ध—श्री राम का अयोध्या
छौटना और उन का राज्याभिषेक—प्रक्षिप्त उत्तर काण्ड ।

श्रीरामचरित्र की प्रतिष्ठा ।

जब से आर्य्यसन्तान पातित हुई तब से कितने प्रकार की विपत्तियों का झोंका
इसे झेलना पड़ा ! इस के कितने ऐतिहासिक पुरुषों के यश इस के इतिहासों के
नाश के साथ ही साथ लोप हो गए ! आश्चर्य्य है कि कोई भा विपत्ति वा किसी
भी प्रकार का ह्रास मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी महाराज का नाम और यश
विलुप्त न कर सका ! यदि उन का भी यश केवल किसी एक इतिहास के पत्रों पर
अङ्कित होता अथवा उन के समकालीन वा कुछ कालान्तर के कतिपय सहस्र वा
लक्ष नर नारी उन की कीर्ति जानते होते तो सम्भव था कि उन का भी यश आज
सुनाई नहीं देता । परन्तु जब कि उन का यश उसी समय से जब कि वह पितृभक्ति
की मर्यादा की रक्षा के लिए अयोध्या से दण्डकारण्य की ओर प्रस्थित हुए चतुर्दिक
फैलने लगा और उन के जीवन काल में ही करोड़ों नरनारियों को उन का हार्दिक
भक्त बना दिया और ये लोग अपनी सन्तानों की और उन सन्तानों ने अपनी सन्ता-
नों को और इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी ने अगली पीढ़ी को रामयश सुनाना अपनी सन्तान
के कल्याण का एक मुख्य हेतु समझा फिर वह रामयश किस प्रकार भूले ? जो राम-

यश केवल अनेक ग्रन्थों में ही विद्यमान न रहा प्रत्युत करोड़ों मन और हृदयों में भी अपना स्थान बराबर बनाता आया वह किस प्रकार विस्मृत हो ? क्या भारत के किसी भी प्रान्त में आज भी कोई आर्घ्य गृहपति वा आर्यगृहिणी ऐसी है जो राम-नाम को न जानती हो ?

परन्तु एक समय था जब कि रामयश न केवल भारत में प्रत्युत इस पृथिवी के अन्यान्य कई भागों में भी फैला हुआ था । आज अमेरिका देश वा पाताल के प्राचीन मेक्सिको निवासियों रामसीताव (राम सीता) के नाम से जो उत्सव मनाते हैं, क्या वह सिद्ध नहीं करता कि रामयश प्राचीन कालों में भारत से अन्यान्य कई देशों में घूमता हुआ अमेरिका देश वा पाताल में पहुँचा था ?

श्रारामचन्द्र जा महाराज के समय के एक दीर्घकाल पश्चात् तक जब कि आर्यसन्तान आर्योचित जीवन व्यतीत करता था, तब तक राम चरित्र की पवित्रता के सम्मुख आर्यसन्तान भली भाँति शीश झुकती रही तो आश्चर्य ही क्या है ! महाभारत का रामोपख्यान सिद्ध कर रहा है कि रामयश श्रवण कर महाभारत के समय के वीरगण भी अपना सुधार करना चाहते थे, तथा महाभारत के भिन्न २ स्थलों में आई हुई रामायण के वीरों की उपमाएं भी स्पष्ट सिद्ध कर रही हैं कि उस समय के पतित वीरों की भी कामना थी कि वे राम और उन के समकालीन वीरों का अनुकरण करत (यद्यपि वे अपने कुसंस्कारों के कारण अनुकरण करने में असमर्थ हो गए थे) ।

महाभारत के सैकड़ों वर्ष पीछे और बुद्धदेव के जन्म के सैकड़ों वर्ष पहले जब कि भारत में अविद्या की घनघार घटा छा गई और मतमतान्तरों के प्रचारक जुगनु की भाँति इतस्ततः प्रकट होने लगे तब वाममार्गियों ने देखा कि रामचरित को पवित्र मानने वाली सर्व साधारण आर्यप्रजा को यदि बतलाया जाय कि राम का जीवन सिद्ध कर रहा है कि वाममार्ग ठीक है तो कार्य शीघ्र सिद्ध होगा अतः रामचरित को वर्णन करने वाले कविशिरामणि महर्षि वाल्मीकि के रामायण में प्रक्षेप करने लगे, ऐसे ऐसे श्लोक बनाकर उक्त रामायण में मिलाए जिस से सिद्ध हो कि राम पक्षे मांस भक्षक थे ।

पुनः बुद्धमत के प्रकट होने पर बौद्धों ने जब कि देखा कि सर्व साधारण प्रजा रामचरित को पवित्र मानती है तो उन्होंने ने रामचरित वर्णन करने के लिए 'दशरथ

जातक ” नाम ग्रन्थ लिखा और बतलाया कि बुद्धदेव पहले रामरूप में भी रह चुके हैं अर्थात् बुद्ध देव राम के अवतार हैं । उन्होंने राम का महत्व बढ़ाने के लिए दशरथ जातक में निम्नलिखित श्लोक भी लिख दिया:—

दशवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च ।

कम्बुग्रीवो महाबाहु रामो राज्यमकारयत् ॥

अर्थात् जिन की गर्दन शङ्ख की तरह (सुन्दर) थी, और जिन की मुजाएं विशेष लम्बी थीं उन राम ने सातह सहस्र वर्षों तक राज्य किया था । बौद्धसम्प्रदाय वाले अहिंसाधर्म के प्रचारक थे अतः उन्होंने राम को दृढ़ अहिंसात्रयीवारी बतलाया।

वैष्णवमत के प्रचारकों ने भी रामचरित के साथ सर्व साधारण का जो प्रेम था उस से लाभ उठाने के लिए वाल्मीकिरामायण में लिख दिया:—

“ विष्णोर्वीर्याद्भूतो जज्ञे रामो राजीवलोचनः ॥ बालकाण्ड ॥

अर्थात् विष्णु के आधे बल वा अंश से कमल नयन राम उत्पन्न हुए ।

जब कि भारतवर्ष में भिन्न देवता और देवियों की शक्तियों का अद्भुत प्रकार से वर्णन करने की शैली प्रचलित हुई तो वाल्मीकि रामायण में पुनः प्रक्षेप हुआ और श्रीरामचन्द्र जी तथा उन के अनुयायी तथा उन के शत्रु रावणादि तथा इन के अनुयायियों की शक्ति भी अलौकिक और अद्भुत बतलाई गई । परन्तु इन प्रक्षेपों से भी जब कि मन न भरा तो अध्यात्मरामायणादि ग्रन्थ रामयश को अलौकिक रीति से वर्णन करने को रचे गए ।

श्रीगोसाईं तुलसीदास जी ने साधारण प्रजा का रामचरित के साथ प्रेम देख अपने वैष्णव सम्प्रदाय के प्रचार के लिये आर्यभाषा में रामायण लिखा जिस में आपने श्रीरामचन्द्र जी का महाविष्णु का अवतार तथा अत्रौकिक शक्तियों से समन्वित बतलाया, ब्रह्मा, विष्णु महेशादि सभी देवताओं को उन का उपासक ठहराया और रावणादि राक्षसों को भी अलौकिक शक्तियों वाला अङ्कित कर दिया । तुलसीकृत रामायण की कथा वाल्मीकिरामायण से कई स्थलों में नहीं मिलती जिस का समाधान गोसाईं जी के अनुयायी “रामायण शतकांट अपारा” । नाम बचन के द्वारा करना चाहते हैं परन्तु उन का यह यत्न सफल होता सा देख नहीं पड़ता । भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में तुलसीकृतरामायण तथा अन्यान्य प्रान्तिक भाषा में बने हुए रामायणों के द्वारा कृष्णधर्म का विशेष प्रचार हुआ है ।

श्रीरामचन्द्र जी के पवित्र चरित्र पर सर्व साधारण प्रजा को मोहित देख तथा स्वयं मोहित हो कितने कवियों ने किन् २ ग्रन्थों के द्वारा किस २ समय उन का यश कीर्तन कर अपनी कवित्वशक्ति को सफल किया उन सब का ठीक २ पता अब नहीं लग सकता । संस्कृत तथा भारतीय प्रान्तिक भाषाओं के पचासों ग्रन्थ इस समय भी विद्यमान हैं जिन में रामचरित संक्षिप्त वा विस्तृतरूप से ग्रन्थ-कर्त्ताओं के अपने २ भावों के साथ वर्णित हैं । परन्तु उन सब में अधिक प्रतिष्ठित कविशिरोमणि महर्षि वाल्मीकि रामायण ही माना जाता है ।

श्रीरामचरित के विषय में बाबरादि का भ्रम

शोक है कि बाबरादि कई यूरोपीय और उन के कई २ भारतीय शिष्य संस्कृतसाहित्य से पूर्ण परिचित न होने के कारण कहा करते हैं कि रामायण एक अलङ्कारयुक्त ग्रन्थ है, “ सीता ” का अर्थ हल है “ राम ” का अर्थ हल चलाने वाला है आदि । परन्तु इन से यदि कोई पूछे कि रामायण में आए हुए अन्यान्य पुरुषों के नाम भी अलङ्कार के साथ बटाओ तो बेचारे घटा नहीं सकते । घटावें तो तब जब कि रामायण कोई अलङ्कार हो । जब कि श्रीरामचन्द्र जी के वंशज महाराणा उदयपुर तथा भारत के कई भागों में अन्यान्य क्षत्रियभूषण विद्यमान हैं, जब कि रामायण की कथा को सत्य मानने वाली करोड़ों भारतीय प्रजा अभी तक स्थित हैं जब कि राम सीता का अपना पूज्य मानने वाली एवं रामसीतव के नाम से उत्सव मनाने वाली एक प्राचीन जाति अमेरीका पाताल में भी विद्यमान है तो कैसे कोई सिद्ध कर सकता है कि रामायण की कथा काल्पनिक है ? क्या संसार के इतिहास से एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है कि काल्पनिक कथाओं के पाँछे कराड़ों मनुष्य ऐसे लट्टू हो गए हों कि उस कथनानुसार अपने अनेक बड़े २ उत्सव मनाते हों ? यदि श्रीराम सीतादि कल्पित पुरुष होते तो क्या कभी सम्भव था कि संस्कृतसाहित्य के पचासों ग्रन्थ उन के यश से परिपूरित होते ? और उन के पाँछे का आर्य्य सन्तान उन के नामों को बराबर गौरव के साथ स्मरण करती आती ?

वाल्मीकिरामायण की श्लोकसंख्या ।

इस समय छपे हुए वाल्मीकिरामायण की जितनी प्रतियाँ मिलती हैं वह सब की सब दो प्रतियों से छपी हैं और इन दोनों में से एक प्रति गौड़ वा बङ्ग देश

की है और दूसरी बम्बई की है । बङ्ग देश वाली प्रति में बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर तथा युद्ध नाम के ६ काण्ड तथा ५५७ सर्ग तथा १९७९३ श्लोक हैं और जो बम्बई की प्रति है उस में उक्त छः काण्ड तथा उत्तर काण्ड, ६५० सर्ग तथा २४५२८ श्लोक हैं । रामायण के श्लोकों का संख्या कितनी है इस विषय में निम्नलिखित श्लोक का भी लोग प्रमाण दिया करते हैं :—

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः ।

तथा सर्गशतान्पञ्च षट् काण्डानि सहोत्तरम् ॥

अर्थात् ऋषि (वाल्मीकि) ने २४००० चौबीस सहस्र श्लोक एवं ५०० सर्ग तथा उत्तर सहित छः काण्ड कहा था । अतः उक्त दोनों प्रतियों और इस श्लोक में बतलाए क बीच निम्नलिखित प्रकार भेद पड़ता है :—

	काण्ड	सर्ग	श्लोक
उक्त श्लोकानुसार	७	५००	२४०००
बङ्ग प्रति अनुसार	६	५५७	१९७९३
बम्बई प्रति अनुसार	७	६५०	२४५२८

उक्त सूची स्पष्ट सिद्ध करती है कि वाल्मीकि रामायण में श्लोकों की न्यूनाधिकता होती आई है । हमारी सम्मति तो यह है कि उत्तर काण्ड सर्वथा प्रक्षिप्त है * और अन्यान्य काण्डों में भी कई सर्ग प्रक्षिप्त हैं तथा शेष सर्गों में से भी कई सर्गों के बीच अनेक श्लोक प्रक्षिप्त हैं । प्रक्षिप्त श्लोक निम्नलिखित प्रकार के हैं :—

(?) रामायण में वर्णित श्रीरामचन्द्र जी महाराजादि वैदिक धर्म रक्षकों के सम्बन्ध में जो कुछ अवैदिक बातें कही गई हैं वह सब प्रक्षिप्त हैं जो कि महर्षि वाल्मीकि के कहे हुए रामायणस्थ असल श्लोकों के भी प्रतिकूल हैं । महर्षि वाल्मीकि के कहे हुए वे ही प्रकरण वा श्लोक हैं जो वेदानुकूल तथा उच्च भावों से परिपूर्ण हैं तथा जिन में महाभारत के समय के विशेष पूर्व के आर्यादिकों की अवस्थाएं वर्णित हैं ।

* देखिए इस रामायण प्रकरण अर्थात् चतुर्थ भाग के अन्त में उत्तर काण्ड के प्रक्षिप्त होने के प्रमाणों को

(२) क्योंकि श्री रामचन्द्र जी के समय सम्प्रदायों का नाम नहीं था अतः नाममार्गादि सम्प्रदाय सम्बन्धी सभी बातें प्राक्षिप्त हैं ।

(३) जो कुछ आर्यवीरों वा वानर जाति के मनुष्यों वा राक्षसों वा अन्यो के विषय में सृष्टिनियम-विरुद्ध बातें कही गई हैं वह सब प्राक्षिप्त हैं क्योंकि सर्वज्ञ एवं निर्भ्रान्त परमात्मा का सृष्टिनियम सदा एक रस बना रहता है ।

(४) जो कुछ प्रकरणविरुद्ध है तथा जो आर्य संस्कृत में नहीं है वह भी प्राक्षिप्त है ।

अयोध्या ।

महाभारत युद्ध से एक दीर्घकाल पूर्व अतिप्राचीन समय में जिस का ठीक २ निरूपण हम नहीं कर सकते तथा श्रीमान् महाराजाधिराज इक्ष्वाकु के सहस्रों वर्ष पश्चात् उन के वंशज अज नाम सम्राट् के पुत्र महाराज दशरथ उस समय के आर्य साम्राज्य के मुख्य केन्द्र कोशलदेश का राजधानी अयोध्यापुरी में राज्य करते थे । अयोध्या उस समय १२ बारह योजन लम्बी और ३ तान योजन चौड़ी थी * यह चारों ओर से एक गहरी गम्भीर परिखा (जलभरी खाई) से घिरी हुई थी और इस के चारों ओर दुर्गम दुर्ग बने हुए थे जिन पर सौ शतघ्नियां (बहुत बड़ी २ तोपें) १० नगर रक्षणार्थ सदा चढ़ी हुई रहती थीं । शतघ्नी के अतिरिक्त अन्यान्य कई प्रकार के युद्ध सम्बन्धी यन्त्र तथा आयुध भी षु यथास्थान दुर्ग पर तथा श-

* आयना दश च द्वे च योजनानि महापुरी ।

श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ बाल ५ । ७ ॥

† शतघ्नीशनसंकुलाम् ॥ बाल ५ । ११ ॥

शतघ्नी उप यन्त्र का नाम है जो एक बार छूटने पर प्रायः एक सौ योद्धाओं को मार सकती थी । प्राचीन आर्यों का आविष्कृत यह एक प्रकार का शरण्यास्त्र था । “शतघ्नी शतसंकुलाम्” का अर्थ करते हुए महाशय ब्रह्मिण साहब राम, ४, सी, चार्ड, ई अण्डे ग्रन्थ “रामायण का अष्टमोऽध्याय” के पृष्ठ १२ के फुट नोट में लिखते हैं:-

“ The Shataghni i. e. centicide or slayer of a hundred, is generally supposed to be a sort of fire arms, or the ancient Indian rocket” अर्थात् शतघ्नी वा सौ को मारने वाली प्रायः एक प्रकार का शरण्यास्त्र मानी जाती है जिस का नाम “सेंटेंट इन्डियन राकेट” भी है ।

‡ सर्वयन्त्रायुधवतीमुचिता सर्वशिल्पिभिः ॥ बाल ५ । १० ॥

खागारों में विद्यमान थे जिन के द्वारा युद्धविद्याविशारद योद्धागण नगर की रक्षा करते थे । नगर का आन्तरिक भाग सुन्दर चौड़े और लम्बे लम्बे राजपथों से विभक्त हो रहा था । इन राजपथों पर प्रति-दिन जलसिञ्चन होता था तथा इन के दोनों किनारों पर भली भांति रक्षित खिले हुए पृष्णों की पंक्तियां शोभा दे रही थीं (१) इन राजपथों के दोनों किनारों पर समभूमि और समान रेखाओं में बने हुए बड़े सुन्दर २ भवन शोभायमान थे । इन में से अनेक बहुत ऊंचे २ और रत्नों से जड़ित थे (२) नगर के बीच २ यथोचित स्थानों में सालवृक्षों से घिरे हुए और आम्रादि वृक्षों से सुशोभित उद्यान ३ अर्थात् क्रीड़ा स्थान बने हुए थे स्वच्छ निर्मल जल से भरे हुए सुन्दर २ सरोवर भी यथास्थान विद्यमान थे नगर नरनारियों के समूह से भरा हुआ था, ब्राह्मण षडङ्गसहित वैद्यों के जानने वाले, क्षत्रिय शूरवीर तथा धनुर्वेद विशारद और वैश्य व्यापार बल से बड़ा २ सम्पत्तियों के स्वामी, और शूद्र श्रद्धापूर्वक द्विजातियों की सेवा करने वाले थे, श्रमजीवी (मजदूर) भी दिन भर की कमाई के बदले एक छोटा सा सोने का सिक्का प्राप्त कर लेता था, (४) राजधानी भर में कोई भी पुरुष ऐसा न था जो क्षुधा से पीड़ित दिन अर्थात् दारिद्र्य हो (५) प्रायः लोग सुवर्ण तथा रत्नों के आभूषणों से भूषित रहते थे, नाना प्रकार के रथ, हार्थी घोड़े गौ आदि पशु रखते थे । इन्हीं के साथ करद राज्यों के राजदूत (तथा अन्यान्य राज्यों के राजदूत) तथा भिन्न २ देशों से व्यापारार्थ आए हुए वाणिज्य भी निवास करते थे (६) शिक्षण और रक्षण का प्रबन्ध ऐसा उत्तम था कि नगर में कामी, कायर, क्रूर, अविद्वान्, नास्तिक अग्नि-होत्र न करने वाले तथा चोरादिकों के नाम कठनता से सुन पड़ते थे (७) सब नर

(१) सुच्छपुष्पावकीर्षेण जलसिञ्चनेन निरयशः ॥ बाल॥ ६ । ८ ॥

(२) प्रासादै रत्नविकृतैः पवतैरेव शोभिताम् ॥ बाल॥ ५ । १२ ॥

(३) उद्यानाम्बुशपोपेतां महतीं प्राणमेखनाम् ॥ बाल॥ ६ । १२ ॥

(४) हैनरी क्याज नाम प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कहता है कि किसी देश के अधिपत्य का ठीक २ अनुमान उस धन से लगता है जो श्रमजीवी (मजदूर को प्रतिदिन के परिश्रम के बदले में मिलता है ।

(५) न हीनः ॥ बाल॥ ६ । १५ ॥

(६) समन्तराजमपैद्य बलिकर्मभिरावृताम् ।

नानादेशनिश्चिनिवासैद्य वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ बाल ६ । १४ ॥

(७) कामी वा न कर्ष्ये वा नृशंसः पुङ्गवः क्वचित् ।

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाऽविद्वान् वा नास्तिकः ॥ बाल ६ । ८ ॥

नाऽनाहिताग्निर्नाऽवृश न क्षुद्रो वा न तर्करः ॥ बाल॥ ६ । १२ ॥

नारी धर्म शील बने हुए थे * प्रजा सब प्रकार से सुखी थी और अयोध्या भर में कोई भी पुरुष ऐसा नहीं दाखता था जो राजाज्ञा पालन न करता हो अथवा जो राजा का भक्त न हो ॥

अश्वमेध—अनेक वर्षों तक महाराज दशरथ अपनी सुरक्षित सुखी और राजभक्त प्रजा के आनन्दों के साथ आनन्द मनाते रहे परन्तु एक समय आया जब कि महाराज का मन मलिन होने लगा, वृद्धावस्था के चिन्ह शरीर पर प्रत्यक्ष होने लगे । महाराणी कौशल्या महाराणी सुमित्रा वा महाराणी कैकेयी से भी कोई सन्तति नहीं हुई । अतः अपुत्री के विषय में जो २ बातें आर्ष ग्रन्थों में लिखी हैं वह एक बार महाराज के मस्तिष्क में विशेष रूप से घूम गई और आप विशेष उदासीन हुए । महाराज के मन की यह बात उन की मन्त्री-सभा से छिपी हुई नहीं थी अतः वे लोग भी इस चिन्ता से त्राण पाने का उद्योग हूँदने लगे । अन्त में महाराज दशरथ का अश्वमेध-यज्ञ विषयक प्रस्ताव सुन मन्त्रियों ने यही निश्चित किया कि अश्वमेध यज्ञ से जहां अन्यान्य राजकीय कामनाएं सिद्ध होंगी वहां महाराज तथा तीनों महाराणियों के शरीरादि की पूर्ण शुद्धि से पुत्र प्राप्ति भी हो सक्ती है अतः अश्वमेधयज्ञ की तय्यारी होनी चाहिए । तदनुसार सरयू के किनारे एक बड़ी यज्ञशाला रची गई उस के चतुर्दिक् पृथिवी के महीपतियों तथा ऋषि महर्षियों तथा अन्यान्य सुप्रसिद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के रहने के लिए सुन्दर और विशाल निवास स्थान बनने आरम्भ हुए । और महाराज की सम्मत्यनुसार महर्षि वसिष्ठ ने सुमन्त्र को बोलाकर कहा “निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः । ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्चैव सहस्रशः॥” ॥ अर्थात् “पृथिवी के सभी धार्मिक राजाओं को निमन्त्रित करो और सहस्रों ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी निमन्त्रित करो” ।

मिथिलाधिप महाराज जनक, काशीपति, केकयराज तथा उन के पुत्र, अङ्ग-श्वर रोमपाद तथा उन के पुत्र और मगधाधिपति x इन सब को स्वयं जाकर लाओ

* सर्वे नराश्च नादंश्च धर्मयोगाः सुखंयताः ॥ बाल ६ । ९ ॥

† द्रहुं शक्यमयोध्यायां नाऽपि राजन्यभक्तिमान् ॥ बाल ६ । १६ ॥

‡ “शूद्रों को निमन्त्रित करो” इस वचन से तो यह सिद्ध होता है कि महाराज दशरथ के समय शूद्रों की भी इतनी प्रतिष्ठा थी कि वह निमन्त्रण पाने का अधिकार रखते थे ।

x देखिये बालकः २१, सर्ग १३, श्लोक २१, २३, २४, २५ तथा २६ ।

और महाराज दशरथ के शासनाधीन * प्रार्थादेश, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण देश तथा पृथिवी तल पर जो अन्यान्य महाराजगण हैं उन सब का उन के सम्बन्धियों तथा अनुचरवर्ग सहित यथायोग्य दूतों के द्वारा आमन्त्रित करोगे सुमन्त्र ने वैसा ही किया और एक वर्ष के भीतर ही देश २ से आमन्त्रित जन समुदाय अयोध्या में पहुंच गए । राजे महाराजगण भी बहुमूल्य रत्नादि भेंट लेकर उपस्थित हो गए । तब महर्षि वसिष्ठ ने महाराज दशरथ से कहा:—

उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात् ।

मयापि सत्कृताः सर्वे यथाहं राजसत्तम ॥ बा० १३।३६ ॥

याङ्गियं च कृतं सर्वं पुरुषैः सुसमाहितैः ।

निर्यातुं च भवान् यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात् ॥ बा० १३।३७ ॥

हे नर व्याघ्र ! आप की आज्ञानुसार राजा लोग आन उपस्थित हुए हैं, हे राजसत्तम ! मैंने भी उन का यथायोग्य (राजोचित) सत्कार किया है । सुसमाहित पुरुषों के द्वारा तथ्यार की हुई यज्ञ करने की सब सामग्री भी (एकत्रित हो गई है) (अतः अब) आप समीपवर्ती यज्ञशाला में यज्ञ करने के लिये पधारें । यह सुन महाराज दशरथ बहुत प्रसन्न हुए और यज्ञशाला में पहुंच तीनों महाराणियों सहित दीक्षा धारण कर विधिवत् व्रत उपवासादि रखने लगे । नाना प्रकार की ओषधियां जो यज्ञकुण्ड में पड़ती थीं उन के धूम से तथा विविध प्रकार के हविषाजों के खाने से महाराज तथा महाराणियों के शरीरस्थ सब धातुपरिशुद्ध होने लगे और महर्षि वसिष्ठ तथा ऋष्य शृंगशृङ्गा आदि महर्षियों ने मिलकर यथाक्रम अश्वमेधयज्ञ के सब कृत्य बड़ी उत्तमता के साथ समाप्त कराए और महाराज दशरथ ने सब आए हुए महानुभावों को यथोचित सम्मान के साथ बिदा कर दिया ।

महाराज दशरथ के पुत्रों की उत्पत्ति और उन की शिक्षा—
अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति से ग्यारहवें मास में चैत्रशुक्ल पक्ष की नौमी को कौशल्या

* राज्ञः शासनमादाय जोदयस्व नृपबंधाह् ॥ बाल १३।२७ ॥

+ प्राचीनाह् सन्धु सौवीराह् सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवाह् । दक्षिणाभ्याकरेन्द्रांश्च समस्ता-
मानयस्वह ॥ मन्त्रि स्मिन्धाश्च ये चाग्ये राजानः पृथिवीतले । तानानययथाङ्गं साजुगाह् सह-
साग्धवान् ॥ बाल १३, श्लोक २७ का उपार्द्ध, २८, २९ का पूर्वाह्न ॥

] विभाषक मुनि के पुत्र चण्डिका एक महान् तपस्वी थे । इन का विवाह पीछे से राजा क्रोमपाह की कन्या शारता से हुआ था । इस से यह सिद्ध होता है कि रामायण के समय भी ब्रह्मचर्य कन्या से सहर्ष विवाह कर लेते थे ।

के गर्भ से एक तेजस्वी पुत्रोत्पन्न हुआ, आनन्दोत्सव होने लगे । महाराज ने बड़े २ दान किए ऋषि मुनियों और ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिया पुनः महाराणी कैकेयी के गर्भ से एक पुत्र और महाराणी सुमित्रा के गर्भ से दो पुत्र उत्पन्न हुए इन के जन्मोत्सव भी बड़े हर्ष के साथ मनाए गए कौशल्या के पुत्र का नाम राम कैकेयी के पुत्र का नाम भरत और सौमित्रों का नाम लक्ष्मण और शुभ्र रक्ता गया ।

चारों भाई अपने पिता माता और प्रजावर्ग का प्रमुदित करते हुए दिनों दिन बढ़ने लगे । धीरे २ वेदारम्भ संस्कार का समय भी आन पट्टुचा और चारों कुमार विधिवत् अध्ययन करने लगे । क्योंकि चारों ही बड़े बुद्धिमन् थे इस कारण जो कुछ अध्ययन करते थे उन्हें शीघ्र धारण करलेंते थे । वेदों अनेक आर्ष ग्रन्थों तथा धनुर्वेदादि का पढ़कर वे सब चारों भाई वेद के ज्ञाता, शूर, तथा प्रजाहित साधन में तत्पर, ज्ञान से पूर्ण, गुणों से प्रकाशित, लज्जार्शील, यशस्वी, सब व्यवहारों के ज्ञाता और दृग्दर्शी बन गए तब धर्मात्मा महाराज दशरथ उन के विवाह विषय में उन के शिक्षकों तथा अपने बन्धुवर्गों के साथ विचार करने लग । *

श्रीराम और विश्वामित्र—इन्हीं दिनों तपोधन महर्षि विश्वामित्र अयोध्या में आन पट्टुचे जिन का आतिथ्य संस्कार महाराज ने बड़े प्रेम से किया और महर्षि विश्वामित्र ने महाराज का सब प्रकार सेवा करने के लिए उद्यत देख कहा “ हे राजन् ” हमारा यज्ञ कर्मों में कुछ दिनों से विघ्न होना लगा है, जब हम यज्ञ करने लगते हैं तो मारीच और सुबाहु नाम के दो राक्षस जो बड़े बलवान् और (अस्त्र शस्त्र विद्या में) सुशिक्षित हैं यज्ञ वेदी में मांस, रुधिर अपावित्र वस्तुओं की वर्षा करने लगते हैं जिस कारण हमारा यज्ञ विध्वंस हो जाता है हमारा विश्वास है कि:—

न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्यातुं क्वचन ॥ बाल ११९।१२ ॥

न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् ॥ बाल ११९।१२ ॥

“ वे दोनों राक्षस राम के सन्मुख युद्ध में कभी भी नहीं ठहर सकें और राम

* देखिए बाल क.पठ, सर्ग १८, श्लोक २५, २६, ३७, ३८, ३९, ३८ ॥

+ “ तौ मांसरुधिरौघेण वेदिनामभ्यवर्षणम् (बाल ११।६) महर्षि विश्वामित्र के इस वचन से तो ज्ञात होता है कि रुधिर और मांस यज्ञ की अपवित्र कत्ने वाले पदार्थ हैं । जो लोग यह कहते हैं कि प्राचीन समय में यज्ञ में पशुध होता था । उन के कथनों का यहाँ स्पष्ट खण्डन है ।

से भिन्न अन्य कोई पुरुष उन के मारने के लिए उत्साहित भी नहीं हो सक्ता * ”
 अतः हे राजन् ! राम को हमारे यज्ञ की रक्षा के लिए दाजिए । महाराज ने राम को देने में प्रथम तो अपनी अशक्तता प्रकट की परन्तु प्रजा के मुखस्वरूप महर्षि वसिष्ठ के कहने पर महाराज के मन में जो संकल्प विकल्प क तरंग उठ रहे थे वह सब क सब शान्त होगए और आप ने राम लक्ष्मण का बालाकर महर्षि विश्वामित्र को मांग दिया । धनुष बाण और कृपाणधारी दोनों धुग्धर वारों को दख महर्षि का हृदय प्रमुदित हो गया और वह महाराज से विदा हा दोनों राजकुमारों को संग ले अपने तपावन के लिए प्रस्थित होगए । मार्ग में कई स्थानों में ठहरते हुए तथा विधिवत् मन्ध्यापासनाग्निहोत्रादि करते हुए और ताड़कावन में ताड़का का मारते हुए महर्षि विश्वामित्र से अस्त्रशस्त्रसम्बन्धी अनेक बातें ज्ञत करते हुए, श्री रामचन्द्र जी महर्षि तथा लक्ष्मण सहित महर्षि के आश्रम में पहुँच और महर्षि ने आते ही यज्ञारम्भ कर दिया ।

यज्ञ वेदी की ज्वाला दिनों दिन बढ़ने लगी, धूम सहित सुगन्धि दूर २ तक फैलने लगी, पांच रात्रि व्यतीत भी हो गई परन्तु कोई राक्षस पास नहीं आया परन्तु छठ दिन राक्षसों के गर्जन सुन पड़े और मारीच तथा सुबाहु अपने दल बल साथ चढ़ आए । परन्तु श्री रामचन्द्र जी ने दूरसे ही मारीच का जाउवल्यमान मानवास्त्र से घायल कर दिया और वह विकल हो रण से निकल भागा । पुनः आग्नेयास्त्र से सुबाहु को मार गिराया और शेष राक्षसों को वायव्यस्त्र से विध्वंस कर दिया । राक्षसों के नाश और अपने यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण हुआ दख महर्षि विश्वामित्र बड़े ही प्रसन्न हुए और दोनों भाइयों को धन्यवाद दिया और अस्त्रशस्त्र विद्या सम्बन्धी अनेक बातें दोनों भाइयों को बताई, पुनः तुरत ही जनकपुर के लिए श्री राम लक्ष्मणमहित रवाना हुए और कई दिनों पश्चात् जनकपुर पहुँच जहाँ एक बृहत् यज्ञ

* इन वचनों से तो भिन्न होता है कि राम उसी समय एक सर्वोपरि योद्धा बन गए थे।

† मानवास्त्र, आग्नेयास्त्र वायव्यास्त्रादि अनेक अस्त्र जो दूर में ही शत्रुओं का नाश कर देते थे प्राचीन आर्यों के आविष्कृत अस्त्र थे, जिस प्रकार बड़े २ तीरों से बड़े २ जलने हुए गोल छूट कर जिस स्थान—में गिरते हैं वहाँ फट कर अपने लोहे घग्घा शीशे के टुकड़ों से घासपास के प्राणियों का नाश कर देते हैं उसी प्रकार उक्त अस्त्रों से लड़कते हुए आणादि निकल कर शत्रुसैन्य का संहार कर देते थे । क्योंकि श्री रामचन्द्र जी वेदों से अनेक अस्त्रों के चलाने में बड़े ही निपुण थे इसी कारण एकले भी अनेक राक्षसों के साथ सफलता पूर्वक युद्ध कर सकते थे ।

हो रहा था । महाराज जनक ने इन लोगों का आतिथ्य सत्कार बड़ प्रेम के साथ किया, उभयपक्ष की ओर से कुशल क्षेम पूछे जाने के अनन्तर:—

पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः । इमौ कुमारो भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥
गजतुल्यगतिर्वीरौ शार्ङ्गलवृषधंपमौ । अश्विनाविव रूणेण समुपस्थितयं वनो * ॥ कथं
पद्म्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने । वरायुधधरौ वीरौ कस्य पुत्रा महामुने ॥
(बाल ५० । १७, १८, १९, २०) ।

महाराज जनक हाथ जांड़ पूछने लगे “महामुने ! आप के दांनों कुमार, कल्याणस्वरूप, देवों की भांति पराक्रम वाले, गजसमान गति वाले, सिंह तथा वृषभ जैसे वीर, अश्विनीकुमारों की तरह सुन्दर, पूर्ण यावनावस्था का प्राप्त, उत्तमात्मा अस्त्रशस्त्रों का धारण किए हुए, क्यां परों से चल कर यहां प्राप्त हुए, किस लिए आए, किस के ये पुत्र हैं ? कृपया यह सब बताएं । यह सुन महर्षि विश्वामित्र ने इन दशरथात्मजों के अयोध्या से आने, राक्षसों के बन्धादि सब वृत्तान्त का कह सुनाया और यह भी कहा कि ये (आप की प्रतिज्ञा से सम्बन्ध रखन बल) सु-प्रसिद्ध धनुष का देखना चाहते हैं ।

धनुषभञ्जन और विवाह—महर्षि के वचन सुन राजा जनक ने धनुष लाने की आज्ञा दी और कई मनुष्य उस धनुष की पेटिका का निम के नीचे आठ पहिए लगे हुए थे नगर से खींच लाए गए । तब महाराज जनक कहने लगे यह वह धनुष है जिस को कोई भी वीर अब तक न उठा सके, यह प्रस्तुत है । महर्षे ! राजकुमारों को आज्ञा दें कि वे इस धनुष को अवश्यन करें ।

* “समुपस्थितयौवनौ” अर्थात् जो कुमार कि पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हैं । सुश्रुत में लिखा है “आयुश्चरितयौवनम्” अर्थात् पचीसवें वर्ष के पश्चात् युवावस्था परम्भ होती है । इन वचनों को पढ़कर कौन सन्देह कर सकता है कि श्रीरामचन्द्र का विवाह वाक्यावस्था में हुआ था जैसा कि कई बालविशेष के पोषक कहा करते हैं । इन श्लोक के वि-सृष्ट जितने वचन श्रीरामचन्द्र जी के बाल विवाह विषयक मिले उन्हें अथवा उनके सम्भक्तों याद्विषे, क्योंकि बालकीक जैसे महर्षि अपनि इस वचन का खण्डन आप ही अपन राजायण में नहीं कर सकते ।

† तामादाय सुपञ्चुषामायसौ यत्र महनुः (बाल ६७ । ५) श्रीगोसाई तुचमीदास जी ने उम धनुष के विषय में जो लिखा है “धनु महस वध एकहि बारा, लगे राखन टरी न टारा ।” सो बात बालकीक रामायण में नहीं मिलती ।

तदनुसार महर्षि ने कहा वत्स राम ! धनुष को देखो । श्रीरामचन्द्र जी पाटका खोल उप धनुष को देख कहने लगे कि यह धनुष तो बड़ा सुन्दर है, मैं इस धनुष को उठाना और चढ़ाना भी चाहता हूँ ! महर्षि तथा महाराज ने कहा बहुत अच्छा । तब सहस्रों मनुष्यों के देखते २ श्रीरामचन्द्र जी ने विना श्रम उस धनुष को बाँच से उठा लिया और उस की प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ाने लगे त्यों ही धनुष बड़े शब्द के साथ बाँच से टूट गया । लोग आश्चर्य में आगए और घन्य २ कहने लगे । तब महाराज जनक ने महर्षि विश्वामित्र से आज्ञा ले अपने दूतों को अयोध्या भेजा ।

वे दूत शीघ्रगामी वाहनों पर सवार हो तीन रात मार्ग में व्यतीत कर अयोध्या पहुँचे और नियतसमय राजसभा में पहुँच कर निवेदन करने लगे “महाराज जनक ने आप के, आप के पुराहितों तथा मन्त्र्यादि के कुशलादि ज्ञात करने के लिए हम लोगों का भेजा है और कौशिक मुनि की अनुमति से यह निवेदन किया है कि;—

पूर्व प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा । *

राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ॥ बाल ६८। ७॥

सेयं मम सुता राजन् ! विश्वामित्रपुरस्कृतैः ।

यदृच्छयागतै राजन्निर्जिता तव पुत्रकैः ॥ बाल ६८ । ८ ॥

आप को ज्ञात है कि मैंने अपनी आत्मजा (पुत्री) को एक सर्वांपरि वीर को देने की पूर्व प्रतिज्ञा की थी आप को यह भी ज्ञात है कि राजाओं ने किस प्रकार अभिमान किया और निर्बल सिद्ध हो विमुख गए, सो हे राजन् ! उस मेरी सुता को विश्वामित्र के साथ स्वेच्छा से आए हुए आप के पुत्र ने जीत लिया ।

इन वचनों को श्रवण कर महाराज दशरथ बड़े प्रसन्न हुए और सभा में उपस्थित मन्त्रियों तथा महर्ष्यादि से बाँले आप लोगों ने इन सब समाचारों को सुन लिया ।

यदि वो रोचते * वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।

पुरीं गच्छामहे शीघ्रं माभूत् कालस्य पर्ययः ॥ बाल ६८। १७ ॥

* “ममात्मजा” शब्द का अर्थ है जो मुझ से, मेरे आत्मा से वा मेरे शरीर से उत्पन्न हुई सीता है फिर “सीता पृथिवी से उत्पन्न हुई” यह बात “ममात्मजा” इन शब्दों से विपरीत तथा सृष्टिनियम अर्थात् परमात्मा के नियम विरुद्ध होने से कैसे ठीक मानी जा सकती है ?

† “यदि वो रोचते वृत्तं” अर्थात् “यदि आप लोग इन बातों को पसन्द करते हैं” यह वचन सिद्ध कर रहा है कि महाराज दशरथ अपने पुत्र के विवाह विषय में भी मनमानी रीति

मन्त्रिणो वाढमित्याहुः सहस्रैर्महर्षिभिः ।

सुप्रतीतश्चाब्रवीद्राजा श्वो यात्रेति च मन्त्रिणः ॥ बाल ॥ ६८।१८ ॥

याद आप लोग महात्मा जनक की बातों को पसन्द करते हैं तो हम लोगों को चाहिए कि विलम्ब न कर (जनक) पुर के लिये शीघ्र ही चल दें । मन्त्रियों ने तथा सब महर्षियों ने एक साथ कहा “वाढम्” हम लोगों को यः स्वाकार है । यह सुन राजा हर्षित हुए और मन्त्रियों से बोले कि कल ही यात्रा की तयारी कर दी जाय ।

दूसरे दिन यात्रा की तयारी हो गई । अनेक रथ, हाथी, अश्व तथा पदातिर्यों की चतुराङ्गणी सेना सुमाज्जा हो गई । दो अत्युत्तम यानों पर सब से आगे वशिष्ठ, वामदेव, जाबाल, कश्यप, मार्कण्डेय तथा कात्यायन नाम ऋषिवर्य * और उन के पीछे महाराज तथा सेना-समूह खाना हा गए । चार दिन मार्ग में ठहरने हुए पांचवें दिन जनकपुर पहुंचे । महाराज जनक ने बड़े प्रेम से महाराज दशरथ तथा उन के साथ आए हुए ब्रह्मण ऋष महर्ष्यादि महामान्यों का स्वागत किया महर्षि विश्वामित्र राम लक्ष्मण तथा महाराज दशरथ का भी विशेष आनन्दप्रद समागम हुआ । बहुत दिनों से नहीं मिले हुए अनेक ऋषि महर्षियों का भी परस्पर सम्मेलन हुआ और बड़े दिन और रात बड़े आनन्द के साथ कटों दूसरे दिन महाराज जनक की प्रार्थनानुसार महाराज दशरथ ऋषि महर्षियों, मन्त्रियों तथा वर्ग-बान्धव सहित मिथिलेश के राजभवन में पहुंचे जहां यह निश्चित हुआ कि तीसरे दिन रात्रि समय श्रीराम का विवाह जनकसुता सीता से और लक्ष्मण का विवाह जनकसुता ऊर्मिला से हो । यह निश्चय हो जाने के पश्चात् महर्षि विश्वामित्र ने महर्षि वशिष्ठ से सम्मति कर कहा कि महाराज जनक के छोटे भाई कुशध्वज का भी दो पुत्रियां हैं मैं सम-

से कार्य नहीं कर सकूँ ये प्रत्युत इस के लिए भी उन्हें मन्त्री-नभा तथा अन्याय सम्मति देने वानों की स्वीकृति लेनी पड़ी थी, फिर कैसे कहा जा सका है कि उस समय के राजाओं की शक्ति प्रतिबन्धित नहीं थी ?

* वसिष्ठो वामदेवश्च जायालिरथ कश्यपः ।

मार्कण्डेयस्तुर्दशैर्युक्तेषुः कात्यायनस्तथा ॥ बाल ६९।४ ॥

सम्भव है कि उक्त नामों के महर्षि भिन्न २ कालों में अनेक हो चुके हैं, जिस प्रकार कि इन दिनों भी एक नाम के अनेक पुरुष एक ही समय या किञ्चित् २ अन्तरे पर हुआ करते हैं ॥

झता हूँ कि उन में से एक का वीर भरत के साथ और एक का वीर शत्रुघ्न के साथ विवाह हा जाय तो इक्ष्वाकुकुल और विदेहकुल भली भाँति युक्त हो जाय । महाराज जनक यह सुन बड़े प्रसन्न हुए और बाले कि हमारा कुल धन्य है जिस इस प्रकार इक्ष्वाकु कुल से सम्बन्धित होने का असवर प्राप्त हुआ । जैसा कुछ महर्षि आज्ञा देते हैं तदनुसार ही चारों कन्याओं का विवाह उक्त दिवस ही हो जायगा । यह सब जब निश्चित हो गया तो महाराज दशरथादि विदा हो अपने वासस्थान (डरे) को लौटे और दूसरे दिन इस विवाहोत्सव के उपलक्ष में महाराज दशरथ ने सुवर्ण से जिनकी सींग मढ़ी हुई थी, जो बच्च वाली और दाहनी को अपन दूध से भरने वाली थी ऐसी चार लाख गौ ब्राह्मणों को दान दीं * ।

पुनः जब कि विवाह का समय आन उपस्थित हुआ श्री रामचन्द्र जी का विवाह श्री जनकमुता सीता के साथ, लक्ष्मण का विवाह महाराज जनकमुता ऊर्मिला के साथ, भरत का विवाह श्री महाराज जनक के अनुज महाराज कुशध्वज की कन्या माण्डवी के साथ, और शत्रुघ्न का विवाह महाराज कुशध्वज की कन्या श्रुतकीर्ति के साथ वैदिकविध्यनुसार हुआ । वैवाहिक क्रिया की समाप्ति के अनन्तर उस रात सब न विश्राम लिया । प्रातः होते ही महर्षि विश्वामित्र, महाराज दशरथ तथा महाराज जनक से मिल उत्तर पर्वत की ओर रवाना हो गए । महाराज दशरथ ने भी प्रस्थान की इच्छा प्रकट की और महाराज जनक ने बहुत से बहुमूल्य पदार्थ तथा रथ, घोड़ा हाथी आदि भेंट दे कौशलेश को उन के पुत्रों तथा पुत्रवधुओं के साथ बिदा किया । महाराज दशरथ अपनी चतुरङ्गी सेना के साथ चले, मार्ग में और तो कोई क्लेश न हुआ कवल भृगुवंशी परशुराम जी ने श्री रामचन्द्र जी के बल की परीक्षा करने में लोगों को चिन्तित किया परन्तु परशुराम जी श्री रामचन्द्र जी के बल से विस्मित हो और उन की स्तुति कर महेन्द्र पर्वत की ओर चले गये और महाराज दशरथ आनन्दसहित अयोध्या आन पहुँचे जहाँ बड़े धूम धाम के साथ नगरनिवासियों ने आप का स्वागत किया । महाराज कुमारों तथा उन की स्त्रियों

* सुवर्णशुक्लयः सम्पन्नाः सवतनाः कांस्यदोहनाः । गवां शतसहस्राणि त्वारि पुरुषवंध ॥
बाल ७२ । २३ ॥

सोने की बात है कि जो एक बार चार लाख गौ के सींगों को सोने से मढ़वाकर दान कर सके है वह अन्यान्य समयों पर कितना दान करता होगा और उस के पास सम्पत्ति कितनी होगी एवं भारत के अन्यान्य राजाओं के पास सम्पत्ति कितनी होगी और उस समय का भारत कैसा धन धान्य पर्य होगा !

ने महाराणी कौशल्यादि पूज्यों को नमस्कार किया और फिर चारों राजकुमारी पृथक् २ राजमवनों में अपने २ पतियों के साथ निवास करने लगीं * थोड़े दिनों पश्चात् भरत तथा शत्रुघ्न अपने मामू युधाजित सहित केकय देश को चले गए और श्री रामचन्द्र जी पिता के परामर्शानुसार पुरवासियों के हितसाधक तथा प्रिय-कार्य करने लगे ।

श्री रामचन्द्र जी के गुण—इस समय के श्री रामचन्द्र जी के गुणों की गणना महर्षि वाल्मीकि जिस प्रकार करते हैं उस से तो बोध होता है कि एक महापुरुष में जितने उत्तमोत्तम गुण हो सके हैं वे सब श्री रामचन्द्र जी में आ गए थे । श्री रामचन्द्र जी के गुण बताने वाले प्रायः पचास श्लोकों में से हम केवल दो श्लोकों को यहां उद्धृत करते हैं:—

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।

इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ अयो० ॥ १ । २० ॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।

लौकिके समयोचारे कृतकल्पा विशारदः ॥ अयो० १ । २२ ॥

सर्व विद्याओं को पढ़कर तथा पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर विधिवत् स्नातक बन [†] एवं षडङ्गमाहित वेदों के जानने वाले, बाणों के सञ्चालन में अर्थात् धनुर्वेद में अपने पिता से भी अधिक श्रेष्ठ भरत जी के बड़े भाई श्री रामचन्द्रजी हो गये । धर्म, काम और अर्थ के तत्त्व जानने वाले, स्मरणशक्ति वाले तथा प्रतिभा वाले (आवश्यकतानुसार जिन्हें बाते शीघ्र समझनी थीं अथवा जो अन्यों की बातें वा वेदादि के उपदेशों को अति शीघ्र समझ जाते थे), लौकिक धर्म तथा समयोचित आचार के भली भांति जानने वाले तथा तत् सम्बन्धों में कार्य करने में समर्थ हुए ।

* अभिवाद्याभिवाद्याश्च सर्वा राजसुनांस्तदा ॥ बाल ७७। १३ ॥

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ॥ बाल ॥ ७७ । १४ ॥

यह ओक भाग स्पष्ट निहक कर रहै है कि श्री रामादि का विवाह पूर्ण युवावस्था में हुआ था ॥

† नोट:— “सर्वविद्याव्रतस्नातः” ये शब्द निःसंशय रीति से दर्शन करते हैं कि श्रीरामचन्द्र जी ने विधिवत् ब्रह्मचर्य धारण कर सब विद्यायां एवं साङ्गोपाङ्गवेदों को पढ़कर अपने शिक्षकों की आज्ञा से अपने ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त किया था और समावर्तन संस्कार के अनन्तर विवाहोचित समझे गये थे । अतः यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है कि उन का विवाह सोलहवें वर्ष की अवस्था में हुआ था ।

राजसभा का अधिवेशन तथा युवराजगामिषंठ की तैयारी-
 ऐसे समय में जब कि प्रजा प्रसन्न थी तथा श्री रामचन्द्र जी अनेक गुणगणालंकृत
 बन गये थे * और राजा का शरीर दिनों दिन अधिकतर वृद्ध होता जाता था,
 महाराज दशरथ ने अपने तथा प्रजा के कल्याण के लिये अपने सन्मुख ही श्रीराम-
 चन्द्र जी को युवराज बनाना चाहा । परन्तु नियमानुसार प्रजा की स्वीकृति के बिना
 वह श्री रामचन्द्र जी को युवराज बना नहीं सकते थे अतः उन्होंने अपनी मन्त्रीसभा
 से सम्मान कर इस विषय के निर्णयार्थ अपनी राजसभा का अधिवेशन बुलाने की
 आज्ञा दी । तदनुसार निकट तथा दूर २ के नगरों तथा देशों से प्रजा के मुख्य २
 पुरुष तथा नृपतिगण अयोध्या में आने लगे जिन का समुचित सम्मान भी होने लगा।
 एवं जिन २ के आने की आवश्यकता थी वे सब जब आ चुके तो (एक महती
 सभा एकत्रित हुई) जिस में महाराज दशरथ के आसन ग्रहण करलेने पर अन्यान्य*
 शेष राजा लग प्रजा से सम्मान ग्रहण करते हुए उस सभा में प्रविष्ट हुए और
 विविध रानाचिन सिंहासनों पर विराजमान हो महाराज दशरथ की ओर दृष्टि डालने लगे ।

* नोट:—प्राचीन काल में जो राजकुमार उन गुणों का धारण नहीं करलेता था जिन
 गुणों के कारण प्रजा उसे राज शासनकर्ता पद के योग्य मानती थी, वह राजकुमार राजानहीं
 बन सकता था । इतना ही नहीं प्रत्युत जो राजकुमार दुर्धर्मनी या दुष्टाचारी हो जाता
 था उसे राजपद तो क्या उस के अपराधानुसार बर्तन से ऊठन दण्ड भी उसे मिलता था
 बाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड छतीसवे सर्ग में लिखा है कि “ महाराज दशरथ के पूर्वज
 महाराज मगरने अपने पुत्र असमञ्जस को राज से जन्म भर के लिए दूध का कारण निकाल दिया
 था जि उन ने अयोध्यावासियों के कई बालकों का सम्बन्ध में फेंक दिया था” परन्तु असमञ्जस
 के पापी होने से उस का पुत्र भी पापी समझा गया हो ऐसा न हुआ प्रत्युत असमञ्जस का
 पुत्र अशुभ नृपत्य होने से राज्यधिकारी हुआ जिस ३ पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज दिलीप हुए ।
 “ असमञ्जादयोः पुत्रान् दिलोपोऽशुभतः पुत्रः ॥ बाल ७०।३८ ॥

* अयोध्याष्टे नृपती तस्मिन् परपुरादने । ततः प्रविशिशुः शेषा राजानो लोकसम्पताः ॥
 अथ राजनिर्णेषु विविधेष्वामनेषु च । राजतमे गामिमुखा निषेदुनेयता नृपाः ॥ ततः परि-
 चदं सर्वामान्त्र्य वसुधाधिपः । ह्यमुद्धर्षण चैमुमान प्रथितं वचः ॥ दुन्दुभिस्यरक्षण्येन
 गम्भैरेणानुनादना । स्वरेण महता राजा जाञ्चन इव नादयन् ॥ भिदितं भयतामेतद्यथा मे
 राज्यमुत्तमम् । पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुवशत् परिपालितम् ॥ स ऽहमिच्छाकुपिः सर्वैर्नरैः
 प्रतिपालितम् । अयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमत्रिजं नात् ॥ मगधवाचरेण पूर्णैः पत्यानमनु-
 गह्यता । प्रजा निर्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ॥ इदं शरीरं कृस्नस्य लोकस्य चरता
 हितम् । पाण्डुरस्यातपत्रस्य ह्ययायां जरितं मया ॥ राज प्रभञ्जुटां च दुर्वेदामजितेन्द्रिषैः ।
 परिभ्रान्तऽहमि लोकस्य सुर्वीं धर्मधुरं वहन् ॥ सोऽह विद्याममिच्छामि पुत्र कृत्वा प्रजाहिते ।

तब पृथिवीपति (महाराज दशरथ) ने सारी परिषद् को आमन्त्रित वा सम्बोधित कर हित करने वाला और हर्षप्रद तथा भली भाँति श्रवण योग्य अपनी वक्तृता आरम्भ की, दुन्दुभि स्वर का शक्ति की भाँति जिसकी प्रतिध्वनि बड़ी गम्भीर होती थी, महान् स्वर के साथ सब को तरह गरजते हुए महाराज कहने लगे "आप लोगों को यह ज्ञात है कि मेरा राज कैसे उत्तम है, मेरे पूर्वज राजन्द्रों ने पुत्रवत् इसे कैसा पारपालन किया है । मेरा राज को हम सब इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ने भली भाँति पालन किया है उम में अब जगत् के सुख के लिये श्रेयम् अर्थात् विशेष कल्याण के साथ जोड़ना चाहता हूँ । मैं भी अपने पूर्वजों की भाँति आचरण करना हुआ और उन्हीं के मार्गों पर चला हुआ निरालस्य होकर यथाशक्ति नेय प्रजा की रक्षा करता रहा । सम्पूर्ण प्रजा का हित करता हुआ श्वेता राजकुत्र की आज्ञा के नीचे यह मेरा शरीर वृद्ध हो गया । प्रजा की भारी धर्म भुरा जिन आत्मानन्दय पुरुष काठनता से चला सकें उम राजप्रभावाँ के साथ युक्त हो कर चला हुआ अब मैं थक गया हूँ । सब श्रुत द्विजगण जो मेरे निकट (इस महती भूमि में) उपस्थित हैं उन को (उन ही सम्मति को) अनुमति कर, मैं जिसने प्रजाहित के लिए पुत्रवत् कर लिया है विश्राम करना चाहता हूँ । मेरा श्रेष्ठपुत्र रामजिम के गुण मेरे सब गुणों के अरुखाने गए हैं जो बल में पुरन्दर के समान

संनिकृष्टा नमान् मन्वन्तु नर द्विषन् ॥ अनुजातो हि मां सर्वगुणैः शठो मया मनः पुरन्दरसमो वर्य रामः परपुरंजयः ॥ तच्छन्दमिव पुच्छेण युक्तं धर्मभृतांशुम् । यौराज्यं विधायका स्म प्रातः पुरु पुंशुम् ॥ अनेन श्रेयसा मयः संयोज्येऽहमिमां महोम् । गतकलेशो भवित्वा मी सुते तस्मिन्निवेर वै ॥ यदिद मे तुच्छार्थं मया नाधु सुमन्त्रितम् भवन्तो मेऽनुपश्यन्ता कथं वा करवाण्यहम् । यद्यप्येषा मम प्रातः हतमन्वद्विषिन्यताम् । अन्या मध्यमं निन्ता तु विमदाभ्यधिकोदया ॥ इत ह्युन्नतं मुद्रियाः प्रत्यनन्दक्षूपा नृपम् । वृहिसन्तं मन्मथं नर्दत इव वहिण ॥ अश्वतोऽनुनादः संजज्ञं तता हर्षसमोरितः । जनौघोदुष्टुसंज्ञातो मेदिनी कल्पयन्निव ॥ तस्य धर्मार्थं हिदुवा भवमाज्ञाय सर्वशः । ब्राह्मणा बलमुत्थास्य पौजानन्दैः सह ॥ समेय ते मन्त्रायन्तुं ममनागतबुद्धयः । ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ इषञ्जामो हि महाबाहुं श्रुत्वा रं महाशयम् । गजेन मृता यान्तं रामं ज्ञात्वावतानन्म् ॥

(अथाज्या, सर्ग १, श्लोक ४९, ५० तथा सर्ग २, श्लोक १, २, ४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १२, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २२)

* नोटः—पुरन्दर जिन का नाम इन्द्र भी था प्राचीन ऋषियों के बीच एक महातेजस्वी पुरुष हो चुके हैं । इन्द्र और विद्योत्तनसम्बन्धी वार्ता उपनिषत् में भी पाई है । पुरन्दर नाम विष्णु का भी है जो प्राचीन ऋषियों के बीच एक महातेजस्वी महापराकामी पुरुष हो चुके हैं, यह विराट् के पुत्र थे । कई मतवाहियों ने अपने ग्रन्थों के भीतर महात्मा विष्णु

और दूसरा पुरंजय * है उस चन्द्रमा की तरह पोषण करने की शक्ति रखने वाले श्रेष्ठवर्म की पालना करने वाले श्रेष्ठ पुरुष को कल प्रातःकाल युवराज नियुक्त करना चाहता हूँ ताकि ऐसे साक्षात् कल्याण (राम) के साथ मैं इस पृथिवी को संयुक्त कर अर्थात् अनि पुत्र को पृथिवीशासनकार्य में प्राविष्ट कर (सर्वथा) क्लेश रहित हो जाऊँ । यदि यह मेरा कथन जिन मैंने श्रेष्ठ समझ तथा भली भाँति विचार कर कहा है आप लोगों के अनुसूय आप जैसा चाहत हैं वैसा ही हो तो आप लाग भी (मेरे कथन का) अनुसोदन करें अर्थात् बतलावें कि हम लोगों को (इस विषय में अन्य) क्या करना चाहिए । (जो विचार मैंने प्रकट किया है) यद्यपि उस के साथ मेरी प्रीति है तथापि (आप लोगों के जानने में इस के अतिरिक्त यदि कोई) अन्य हित (की बात) है तो उसे (आपमें में) भन्नी भाँति विचारिए । आप मध्यस्थों रागद्वेषों रहित पुरुषों का जो दूसरा विचार होगा वह वादानुवाद द्वारा (निर्विचल होने के कारण अवश्य ही) अधिकतर प्रकाशयुक्त होगा” ।

(महाराज दशरथ की उक्त) वक्तवा ज्यों ही समाप्त हुई त्योंही बपने हुए महामेघ का दाव कर जिस प्रकार मुदिन मयूर हर्ष प्रकट करत हं उर्षी प्रकार (वक्त-त्ववृष्ट से) प्रमथ नृपति गणों ने हर्षध्वनि की [और महाराज दशरथ को आनन्दित कर दिया] उस हर्षध्वनि के पवन से स्निग्ध प्रतिध्वनि उत्पन्न हुई [परन्तु सभास्थ] जनसमूह की हर्षध्वनि स पार प्रध्वनि उत्पन्न हुई जिस सं [मभ] भूमि हिल सी गई ।

इस प्रकार सब जनसमूह ने जब धम्मार्थ के ज्ञाता (महाराज दशरथ) के भावों को जान लिया तब (सभास्थ) ब्राह्मणों (धार्मिक विद्वानों), [बलपुरुषाः] राजाओं, नगरनिवासियों, तथा ग्रामवासियों, ने मिल कर विचार करना आरम्भ किया, एक दूसरे की मनना जब जान चुकत तब एकमत हो लोग वृद्ध महाराज दशरथ से इस प्रकार बले “महाराज ! हम लोगों की यही इच्छा है कि हम लोग महाबाहु महाबल शत्रुघ्न राम के मुख को [राज] छत्र से आवृत तथा उन्हें महागज पर जाते हुए देखें इत्यादि इत्यादि । इस सभा की आगे की कार्यवाही वर्णन करने के पूर्व हम

तथा इन्द्र पर जो दोष लगाए हैं वे सर्वथा काल्पनिक और अज्ञानक हैं । इन्द्र सूर्य को भी कहते हैं अतः “पुरंदरमम” का अर्थ होगा सूर्यवन्दमान तेजस्वी ।”

* नोटः—“पुरंजय” सूर्यवंशी महाराज ककुत्स्थ का दूसरा नाम है ।

चाहते हैं कि यह दर्शा दें कि उस समय के सम्राट् दशरथ और उन की राज सभा की शक्ति कैसी थी, उक्त श्लोकों में वर्णित विषय [अर्थात् श्री रामचन्द्र जी को युवराज बनाने के विषय में सम्मति देने के लिये अयोध्या में निकट तथा दूर २ के नगरों तथा देशों से प्रजा के मुख्य २ पुरुष तथा नृपतिगणों का एकत्रित होना, उन की सभा में महाराज दशरथ का व्याख्यान, पुनः प्रजा का परस्पर और निश्चय] गम्भीर आशाओं से पूरित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाला पुरुष इन श्लोकों से यह परिणाम निकाल बिना नहीं रह सकता कि:—

(१) महाराज दशरथ अपने समय के सर्वोपरि सम्राट् थे जिन के शासनाधीन निकट तथा दूर २ के अनक राज थे ।

(२) परन्तु इतने बड़े सम्राट् होकर भी राज प्रबन्ध विषय में मन मानी रीति से कार्य नहीं कर सके थे। अपने गुणवान् पुत्र को राज सौंपने की इच्छा किस राजा की नहीं हानी होगी ! परन्तु स्वेच्छा से महाराज दशरथ श्रीरामचन्द्र जी जैसे सुपुत्र को भी युवराज नहीं बना सके थे जिस कारण उन्हें इस विषय में सम्मति लेने के लिए अपनी राजधानी में अपनी राजसभा एकत्रित करनी पड़ी, जिस सभा में उन्होंने ने अपनी वक्तृता के बीच स्पष्ट कह दिया कि “यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रिम् । भवन्तां मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् । यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् । अन्यामध्यस्य चिन्ता तु निमर्दाम्यधिकान्दया ” “ यदि यह मेरा कथन जिस मेंने श्रेष्ठ समझ तथा भर्त्सनांति विचार कर कहा है आप लोगों के अनुरूप आप जैसा चाहते हैं वैसा ही हो तो आप लोग भी [मेरे कथन का] अनुमादन करें अथवा बलपूर्वक कि हम लोगों को [इस विषय में अन्य] क्या करना चाहिए । (जो विचार मैंने प्रकट किया है) यद्यपि उस के साथ मेरी प्रीति है तथापि (आप लोगों के जानने में इस के अतिरिक्त यदि कोई) अन्यहित (की बात) है तो उसे (आपस में) भर्त्सनांति विचारिए, आप मध्यस्थों राग द्वेष रहित पुरुषों का जो हमारा विचार होगा वह वादानुवाद द्वारा (निश्चितहानि के कारण अवश्य ही) अधिकतर प्रकाश युक्त होगा । ”

क्या कोई ऐसा महाराज जिस की शक्तियां नियमानुसार प्रति बन्धित न हों ऐसे वचन बोल सकता है ? क्या वह अपने बड़ के अभिमान में अपनी यथेष्ट आज्ञाओं के सम्मुख प्रजा को शीश नवाने के लिए दबाना नहीं चाहेगा ?

(३) उक्त श्लोकों से यह भी भाव निकलता है कि सब राज कार्य्यों के संचालन के लिए महाराजा दशरथ की मन्त्री सभा तो नियत थी परन्तु विशेष बड़े राजकीय विषयों के निर्णय के लिए एक विशेष राजसभा भी स्थापित थी जिसमें राज के मन्त्री लोग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के प्रतिनिधि थे । इस राज-सभा की विद्यमानता इससे भी सिद्ध होती है कि जब महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए तो राज सभा का शीघ्र ही अधिवेशन हुआ जिसमें कई सभासदों ने कहा “इक्ष्वाकूणामिहा चैव काश्चिद्राजा विधीयताम् ॥ (अयो० ६७।८) आज इसी समय इक्ष्वाकू वंश के किसी प्ररुष का राजा बनयें । इन वचनों से तो यह मालूम होता है कि इस सभा की स्वीकृति बिना कोई भी पुरुष राजा नहीं बन सकता था । उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त (अयो० ४।१६) में श्रीरामचन्द्र जी के प्रति श्रीमहाराज दशरथ का जो यह वचन है “अद्यप्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नरात्रिपम्” अर्थात् इस समय सारी प्रजा (स्वेच्छा मे) तुम्हें राजा (बनाना) चाहती है वह भी सिद्ध करता है कि रामायण के समय राजा की नियुक्ति प्रजा की आर से होती थी ।

मम्राद् दशरथ और उन की राजसभा की शक्ति

महाराज दशरथ अपनी वक्तृता के उत्तर में राज सभा-की संतोष जनक वार्ता श्रवण कर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले कि मैं धन्य हूं, मुझ पर बड़ा प्रेम है और मेरा प्रभाव अनुल है क्योंकि आप सब लोग एकमत हो मेरे प्रिय ज्येष्ठपुत्र का युवराजपद पर स्थित देखना चाहते हैं । पुनः महाराज ने अपने मन्त्री महर्षि वर्मिष्ठ तथा बामदेव से कहा कि राम के युवराज्याभिषेक की तय्यारी शीघ्र ही कीजिए जिसमें कल अभिषेक हो जावे । महाराज के ये वचन सुन सभा ने पुनः हर्षध्वनि का तदनन्तर इस महासभा की कार्यवाही समाप्त हांगई और जन समूह सभास्थान से इधर उधर जाने लग श्रीरामचन्द्र जी का एक मन्त्री द्वारा बुलवा तथा उन्हें युवराज्याभिषेक की सूचना दे तथा उन्हें बिदाकर ओर पुनः मंत्रियों से अभिषेक की तैयारी विषय में कुछ बातें कर महाराज दशरथ निजमवन में पधार और पुनः श्रीरामचन्द्र जी को बुलवा कहने लगे हे राम इस समय सब प्रजा स्वभावतः (स्वेच्छा और स्वप्रेम से) तुम्हें राजा बनाना चाहती है अतः युवराजपद के लिए तुम्हारा अभिषेक मैं करना चाहता हूं, हे राघव ! जब तक मेरी बुद्धि स्थिर है तब तक अपना अभिषेक करालो क्योंकि लोगों की मति बदलती रहती है* इत्यादि उपदेश जब महाराज दशरथ कर

* (देखिए अध्या० ४ सर्ग, श्लोक १६ तथा २०) महाराज दशरथ के इन वचनों की बात कर भी क्या कोई सन्देह कर सकता है कि प्राचीन काल में राजा प्रजाओं के द्वारा नहीं चुना

चुके तो उन की आज्ञा पा श्री रामचन्द्र जी अपनी माता कौशल्या के समीप पहुँचे और उन से युवराज्याभिषेकसम्बन्धी सब बातें कह सुनाई । वहीं सुमित्रा, लक्ष्मण और सीता भी थीं सब इस समाचार का श्रवण कर गद्गद हो गईं । पुनः सीता को साथ ले श्री रामचन्द्र जी स्वस्थान को पहुँच जहाँ थोड़ी ही देर में महर्षि वसिष्ठ आए जिन्होंने युवराज्याभिषेक यज्ञ के लिए श्री राम और सीता का व्रत रखने के लिए आदेश किया और शीघ्र ही वहाँ से विदेश हो गये । आदेशानुसार श्री राम सीता सहित विधिवत् स्नान और अग्निहात्र कर “ध्यायन्तारायणं देवं स्वास्त्यर्णं कुश संस्तरे” (अयो० ६।३) कुशासन पर बैठ अपने कल्याण के लिए अन्तर्यामी परमात्मा देव का ध्यान करने लगे ।

आज अयोध्या के आनन्द का ठिकाना नहीं था, नगरनिवासी अपने २ स्थानों को सज धन रहे थे स्थान २ में तूर्यवेप हो रहा था । परन्तु कैकेयी का दासी मंथरा की दशा कुछ और ही थी, उस की उत्कट इच्छा थी कि उस की स्वामिनी कैकेयी के पुत्र भरत राजा बनते अतः श्रीरामाभिषेक का समय निश्चय हो जाने से उस की द्वेषाग्नि भड़क उठी और वह कैकेयी के निकट जा कहने लगी कि तुम निश्चयन क्या चेती हो, क्या तुम्हें ज्ञान नहीं कि राम युवराज बनेंगे ? उन के युवराज होने से क्या तुम कौशल्या के बराबर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकोगी ? इत्यादि । यह सब सुन कैकेयी बोली “ ऐ दामी ! रामाभिषेक की बात सुनाकर तूने मेरे हर्ष को बढ़ाया अतः ले यह भूषण तुझे पुरस्कार देती हूँ ।

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोऽलक्षये ।

तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ अयो० ७.३५ ॥

राम में वा भरत में मैं कोई विशेषता नहीं देखती (दोनों मेरी दृष्टि में समान हैं) अतः राजा जो राम का अभिषेक करना चाहते हैं उस से मैं सन्तुष्ट ही हूँ ।”

परन्तु उस निकृष्ट कुटिल दासी ने कैकेयी के सन्मुख ऐसी २ बातें कहीं जिस से कैकेयी का भाव बदल गया और वह भरत को युवराज बनाने के लिए यत्न करने लगी, भूषणादि शरीर से उतार कोपमवन में जा बैठी और मंथरा से कह दिया कि महाराज जब अर्धे तो उन्हें मेरी दशा को मूचना दे देना । महाराज आए और उन को मूचना मित्रो और वह कोपमवन में पहुँच जहाँ कैकेयी की दुर्दशा दृष्ट वि-

जाता था ? “ल गो की मति बदलती रहती है” क्या यह बचन यह सिद्ध नहीं करता कि प्राचीन काल के राजे प्रजासमुह की विरह सम्मत से सदा डरा करते थे ?

षाद करने लगे, उसे बहुत कुछ समझाया और पूछा कि ए देवि ! क्यों अपनी ऐसी दशा बनाए हुए है, मांगो क्या मांगती हो जिसे लेकर प्रसन्न हो जाओ इत्यादि । कैकेयी ने कहा कि आप क्या शपथ करने हैं कि जो मैं मांगूंगा सा आर दोगे ? महाराज ने कहा मैं राम की शपथ करता हूँ कि दूंगा तब कैकेयी बली राजन् ! आप का दनापुर-मंग्राम की बात याद होगी जहाँ आप शत्रु (शम्बर) के प्रहारों से अवनत हो गए थे जब कि मैंने आप की रक्षा की थी और आप के प्राणों को बचाया था* आने उम समय हमें दान वर देने की प्रतिज्ञा की थी जिन्हें अब मैं मांगती हूँ (एक) तो यह है कि राम के स्थान में भरत युवराज बन ए नां और (दूसरा) यह कि चौदह वर्षों तक दण्डकारण्य का आश्रय ले वलकल वस्त्र तथा मृग-चर्म धारण किए हुए धीरे राम तापम बन रहें । कैकेयी के वचन सुनते ही महाराज कुछ काल तो घोर चिन्ता और सन्तपन व्यग्र हो गए पुनः क्रोध हो कहने लगे “दुष्ट ! इन, कुल की संहार करने वाला ! राम ने तारा क्या बिगाड़ा ? वह तो मदा तुझे जननी की भाँति समझता रहा है यदि कोई अराध उस का हो तो बना ! निश्चय जान कि मेरा प्राण राम बिना कभी भी शरीर में नहीं ठहर सकता, मैं तारे चरणों में शीश रखता हूँ कृपाकर, ऐसे अनुचित वर मत मांग” । यह सुन कैकेयी बोली राजन् ! वर देने की प्रतिज्ञा कर विलाप करना धार्मिक पुरुष का काम नहीं है यदि आप अपनी प्रतिज्ञा नहीं पाल सकते तो न पालिए मैं तो अपनी प्रतिज्ञा पालूंगी । मैं भरत की शपथ खाती हूँ कि यदि राम बन न भेजे गए तो मैं विष खाकर मर जाऊंगी ।

कैकेयी के घोर शपथों को सुन राम के लिए चिन्तित हो महाराज मूलरहित वृक्ष की भाँति पृथिवी पर गिर पड़े पुनः सचेत हो कैकेयी से कहने लगे “.....तू मेरे पुत्र को वन में क्यों भेजना चाहती है ? यदि मुझे से कोई पूछेगा कि राम को वनवास क्यों देने हो तो मैं क्या उत्तर दूंगा ? कौशल्या और सुमित्रा को मैं मुख कैसे दिखाऊँगा, बेचारी सीता की कैसी दुर्दशा होगी ? प्रातःकाल ही पुरवासी राजद्वार पर उपस्थित हो जायेंगे तो मैं उन से कैसे बाल मझूंगा ? क्या लोग मुझे स्त्री के लिए पुत्र का बेचने वाला नहीं कहेंगे ? क्या मेरी दुर्दशा मदिरा पीए हुए ब्राह्मण की

* मानून जाना है कि उन दिनों देवी वीरा नारियाँ भी होती थीं जो अपने पति के साथ रणभूमि में भी जा सकती थीं ।

तरह नहीं हागी में जानता हूँ कि राम का वन जान क लिए मैं ज़्याहां कडूगा त्या ही वह वन को चला जायगा, फिर मैं मर जाऊंगा तो क्या विधवा हो कर भी तू अपने भरत को राज्य करते देखना चाहती है ? यह सुन कैकेयी बोली “ महाराज ? आप को तो लोग सत्यवादी और दृढ व्रत कहते हैं फिर आप वर देने में इस प्रकार आनाकानी (टालम टोल) क्यों कर रहे हैं ? ” फिर महाराज ने यह समझा कि इस समय किसी मेरे घोर पाप का उदय हुआ है, मेरे राम को क्लेश होगा, सब राज-परिवार और प्रजा दुःखी होगी, मेरा घोर अपमान होगा, मैं मृत्यु को प्राप्त होऊंगा शोक सागर में डूब गए ।

उधर प्रहर रात के तड़के ही सीता और श्री राम अपने आसनों से उठे और सन्ध्यादि से निवृत्त हो युवराज्याभिषेक सन्बन्धी विविध कार्यों के विषय में विचार करने लगे । पुरवामी भी रात्रि के पिछले प्रहर ही उठ सन्ध्याद से निवृत्त हो अपने २ स्थानों को सुसज्जित करने लगे । थोड़ी ही दर में सब मन्दिर विशेष स्वच्छ और सुन्दर बन गए, उन पर नूतन २ ध्वजाएं लहराने लगीं, स्थान २ के विशेष यज्ञों के धूम से नगर सुगन्धिमय हो गया । राजपथ परिकृत, चन्दन मिश्रित जल से मिश्रित और राज पथों के दोनों पार्श्व पुष्पों से सुसज्जित बन गए । बड़े २ वाणिकों तथा अन्यान्य श्रीमानों ने अपने २ स्थानों को विशालङ्कृत किया । सब सभा स्थानों में भी ध्वजा पताकादि लग गए* आने वाली रात को दीपमाला से नगर को जगमगाने के लिए ‘ दीप वृक्षांस्तथा चक्रुः ’ (अयो० ६ । १८) स्थान २ में दीप वृक्ष खड़े किए गए, बच्चे भी श्री रामाभिषेक को बातें करते आनन्दित होने लगे नगर भर में आनन्द वर्षक तूर्य-वाप पुनः हाने लगा, आनन्द मय गीतें भी स्थान २ में उठने लगीं ।

इतने में सुम्योदय भी हो गया और लक्ष्मी नरनारी आनन्द में भरे हुए रामाभिषेक दर्शन की लालसा से राजद्वार की ओर चले । महर्षि वसिष्ठ अपने शिष्यवर्ग सहित राज द्वार पर आन पहुँचे, मन्त्री मण्डल बाहर के नृनातगण भी आ गए, एक बृहत् जनममूह एकत्रित हो गया तब महर्षि वसिष्ठ ने सुमन्त्र से कहा कि यज्ञारम्भ का समय हो गया है, महाराज को सूचना दी कि

* सभासु चैव सर्वासु वृक्षेभ्यश्चासन्सु च ।

उज्जयिणीः समुच्छिताः साधु पताकाश्चाभिवर्णयन्त ॥ अयो० ६ । १९ ॥

मालूम होता है कि महाराज सभा के स्थानान्तरित सन्धान्य प्रकार को कई सभाओं के स्थान भी यथोपया में विद्यमान थे क्योंकि उक्त लोक “सभासु” शब्द बहु वचन है ।

हम आगए हैं । सुमन्त्र राजभवन में गये परन्तु महाराज को तेजहान तथा नयन मूंदे हुए देखा, महाराज के विषय में कैकेयी और सुमन्त्र की बातें होने लगीं जब कि महाराज बाले मेरे प्यारे राम को शीघ्र लावो । सुमन्त्र आज्ञा पाते ही रथ पर चढ़ * श्री रामभवन की ओर चले और शीघ्र ही वहां उपस्थित हो गए । श्रीराम भी पितृचरणों के दर्शनों के लिए रथ पर सवार हो सुमन्त्र के साथ हो लिए । जिस २ मार्ग से श्री रामचन्द्र जी गए उस उत मार्ग में आप ने हर्षमय प्रजा की भीड़ देखी । प्रजाने श्री रामचन्द्र जी की जयवाषणा की और श्रीरामने भी पूज्यों की ओर शांश नवाया । इस प्रकार प्रजा की मङ्गलकामना से प्रमुदित होते हुए श्री रामचन्द्र जी राजद्वार पर पहुंच शीघ्र ही पिता के निकट चले गए । परन्तु वहां क्या देखा है कि पिता का मुख सूख रहा है, दीनता उन की मुखश्री का हरण कर रही है, कैकेयी उन के समीप बैठी है । श्री राम ने पिता तथा कैकेयी के चरणों को छूकर प्रणाम किया परन्तु महाराज कुछ न बोले । तब श्री राम भयभीत हुए और कैकेयी से पूछा “माता ! पिता जी का ऐसी दशा क्या है ?” कैकेयी ने कहा यदि तुम प्रतिज्ञा करो कि अपने पिता की की हुई प्रतिज्ञा की रक्षा करने पर उद्यत हो तो मैं बता सकती हूं कि राजा की इस दशा का क्या कारण है । इन वचनों के सुनते ही श्री रामचन्द्र जी इस कारण व्यथित हो कि कैकेयी ऐसी शक्का क्यों करती है कि राम पिता की प्रतिज्ञा की रक्षा कदाचित् न कर सके बोल उठे “अहा धिक् ! मेरे सम्बन्ध में हे देवि ! आप एमे वचन नहीं बोल सकती, मैं राजा के वचनानुसार आग में कूद सका हूं तक्षिग विष को खा सका हूं, समुद्र में कूद सका हूं, जो मेरे गुरु पिता तथा राजा हैं (उन की आज्ञापालन के लिए मैं सदा) उद्यत हूं । हे देवि ! उस वचन को सुनाइये जो राजा चाहते हैं । मैं उसे करने का तय्यार हूं, यह ठीक जानिए कि राम जो कुछ कह देता है उस के विपरीत कभी नहीं करता ।”

* मालूम होता है कि अयोध्या की सहकें इतनी चौड़ी थीं कि उन पर साधारणता एक घर से दूसरे घर में जाने के लिए भी आवश्यकतानुसार गाड़ियां चगा करती थीं ।

† अतो धिक् नार्हसे देवि ? वक्तुं मामीदृशं वचः । अहं हि दृक्चनद्वाज्ञः पतेयमपि चावके ॥ भक्त्येव दिवन्तीव्यं पतेयमपि चावके । नित्यन्तो गुरुणा विज्ञानूपेण न हितेन च ॥ तद्ब्रूहि वचनं देवि राजो यदभिकाञ्चितम् । करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्वितीभिभापते ॥ अयो ० सर्ग १८, श्लोक २८, २९, ३० ॥

श्री रामचन्द्र जी को इन प्रतिज्ञाओं को श्रवण कर कैकेयी बोली “बहुत दिन हुए देवासुरसंग्राम में जब कि तुम्हारे पिता घायल हो गए थे मैंने उन के प्राणों की रक्षा की थी जिस से प्रसन्न हो उन्होंने वर देने की प्रतिज्ञा की थी तदनुसार मैंने राजा से मागा है कि भरत युवराज बनाए जाएं और तुम अभी दण्डकारण्य का जाओ, यदि तुम अपने पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करना चाहते हो तथा अपने को भी सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करना चाहते हो तो अभिषेक को छोड़ बल्कल, छाल बख वा चर्म ओढ़ जटा धारण कर चौदह वर्षों के लिए दण्डकारण्य का आश्रय लो । इन अप्रिय मित्र को बच-करने वाले तथा मरणसमकेश पंडुचाने वाले वचनों का श्रवण कर भी श्रीरामचन्द्र जी का हृदय दुःखित * नहीं हुआ और उन्होंने ने कैकेयी के वचन समाप्त होते ही कह दिया ‘एवमस्तु’ मैं राजा की प्रतिज्ञापालनार्थ वैसा ही करूंगा, मेरे हृदय में केवल एक निज्ञासा रह गई कि पिता पूर्ववत् अपन वचनों से मुझ हर्षित क्यों नहीं करते । कैकेयी बोली राम ! जब तक तुम वन का नहीं जाते राजा न स्नान करेंगे और न खएंगे । इन वचनों को सुन महाराज बल उठ “धक्” और मूर्छित हो गिरपड़े । श्रीराम न उन्हें उठा उन के पलंग पर लेटा दिया और उन के सुवस्त्र सम्मालन का बात देखने लग परन्तु कैकेयी पुनः शीघ्र वन जान के लिए श्रीराम से कहने लगी, कैकेयी के वचन सुन श्रीराम कहने लग है देव ? मैं अर्थ लालु नहीं हूँ, मैं विमलधर्म की मर्यादा को समझता हूँ, पिता का शुश्रूषा और उन के वचन का पालन महान् धर्म है । यद्यपि महाराज ने मुझ से नहीं कहा तथापि आप के वचनानुसार ही मैं वन जान का तय्यार हूँ । ताकि भरत राज की पालना और पिता का शुश्रूषा भला भांति करे ऐसा यत्न आप करने रहना मैं अपनी माता तथा सीता से मित्र कर दण्डकारण्य के लिए शीघ्र ही प्रस्थान करता हूँ । श्रीराम के इन वचनों का भी महाराज ने सुन लिया और उच्चरार म रों उठ परन्तु फिर मूर्छित हो गए और कुछ बाल न सके । तब श्रीराम ने पिता तथा कैकेयी के चरगों का स्पर्श किया और उन की प्रदक्षिणा कर राज द्वार पर चले आय जहां

* नोट:—“न विवशये रामः” (अयो० १८ । १) आश्चर्य है ऐसी धीरता को, कहां युवराज्यपद की प्राप्ति और कहां वनवास की आज्ञा ! क्या कोई पुत्रव निदाय उस के को पृथिवी के राज्य को तृणवत् समझता हो ऐसी आज्ञा श्रवण कर शाकाकुन हुए बिना रह सकता है ? समार के इतिहास में ऐसी धीरता का अन्य उदाहरण हम तो अभी तक नहीं मिला ।

जन समूह एकाग्रित था । श्रीराम ने मधुर स्वर से सब को प्रणाम किया, बन जाने की इच्छा रखने वाले पृथ्वी का राज्य छोड़ने वाले (राम) के चित्त में एक जी-वनमुक्त पुरुष की भांति कुछ भी विकार नहीं हुआ, उन के बड़े २ श्रीमान् मित्रों ने भी श्रीमान् सत्यवादी राम के मुख पर किसी प्रकार का शोकाचिन्ह नहीं देखा * परन्तु राजमन्दिर से तुरत ही घोर रुदन का शब्द निकला जिस ने सब को विस्मित कर दिया और रामवनवास की वार्ता दावानल की भांति नगर में फैलती हुई सब के हृदयों को दग्ध करने लगी ।

श्री राम राजद्वार से सीधे माता कौशल्या के गृह पर पधारे और वनवास विषयक वार्ता कह सुनाई । माता के उमंग भरे हुए हृदय पर इस शोक समाचार ने बजाघात सा प्रहार किया । बहुविधि विलपता हुई कौशल्या ने पुत्र को समझाया परन्तु मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी माता से बिदा ही मांगते रहे । लक्ष्मण ने भी बहुत सी नीति की बातें कहीं परन्तु श्रीराम ने अपने धार्मिक उत्तरों से उन्हें भी चुप कर दिया । तब माता ने आंसू पोंछ आचमन कर कहा “ पुत्र ! सन्मार्ग पर चलने से मैं तुम्हें नहीं रोक सकती, जिस धर्म का पालन तुम प्रेम और नियम के साथ करते हो वह धर्म तुम्हारी रक्षा करे, परमात्मा तुम्हारी रक्षा करें, विश्वामित्र के दिए अस्त्र शस्त्र तुम्हारी रक्षा करें, तात ! बन को जावो परन्तु ऐसा करना जिस में ठीक समय पर मैं तुम्हारा मुख देख सकूं....” माता के आशीर्वाचन ग्रहण कर तथा उन्हें प्रणाम कर श्रीराम सीता भवन की ओर चले । मार्ग में जिस २ ने श्रीराम को देखा उस उस का हृदय अधिकतर शोक से भर गया । अभी तक सीता युवराज्याभिषेक की बातें ही सोंच रही थीं जब कि श्रीरामचन्द्र जी आन पहुँचे और सीता को देखते ही “ सीता के दुखों की चिन्ता के कारण ” उन का हृदय शोकमय हो गया, मुख की छवि बदल गई । सीता शोकाकुल हो पृच्छने लगी, स्वामिन् ! यह परिवर्तन क्यों ? आज तो आप को आनन्दमय होना चाहिए था, यह शोक क्यों ? तब श्री राम ने वह सब वार्ताएं कह सुनाई जिस प्रकार उन के पिता ने देवासुरसंग्राम में कैकेयी से प्रतिज्ञा की थी और जिस प्रकार कैकेयी भरत के लिए युवराज्याभिषेक और राम के लिए वनवास की याचना कर चुकी है और फिर निवेदन किया कि हे धर्मज्ञे जानाके ! पिता की

* नोटः—देखिए अयोध्या, सर्ग १८, श्लोक ३३ तथा ३६ ।

सदा वन्दना किया करना, दुःखिनी मेरी माता तथा अन्य माताओं की शुश्रूषा करते रहना, भरत और शत्रुघ्न मेरे प्राण से भी अधिक प्रिय हैं उन के विपरीत मत चलना, अब मैं तुम से विदा मांग वन को जाता हूँ । सीता ने कहा आर्यपुत्र ! आप क्या कह रहे हैं, भर्ता के भ्रम में नारी का भाग भी होता है आप के लिए वनवास मिला है तो मेरे लिए क्यों नहीं ? आप वन को चलेंगे तो मैं भी चलूँगा आप के आगे २ कुश कण्ठक दूर करती हुई यात्रा करूँगी । बड़े २ राजमहलों में रहने, विमान द्वारा आकाश में घूमने आदि से जो सुख मिलना है उन सब से बढ़कर सुख पतिचरणों के समीप रहने से मिलता है * आप तपस्वी बनकर वन में रहेंगे तो मैं भी नियता ब्रह्मचारिणी † बनकर रहूँगी, वन में आप के साथ अपने पतिव्रतधर्म की पालना करती हुई बड़े सुख के साथ निवास करूँगी, केवल फल मूल खाकर रहूँगी, ‡ आप के साथ रहते हुए किसी प्रकार का दुःख न मानूँगी, और आप के बिना चाहे मुझे कहीं भी रहना पड़े मुझे सुख न होगा अतः हे स्वामिन् ! मुझे साथ अवश्य ले चलिए.....” । यह सुन श्री रामचन्द्र जी ने वन के बहुत से दोष वर्णन किए परन्तु सीता वन के भयों को श्रवण कर किञ्चित् भी भयभीत न हुई प्रत्युत कहने लगी कि मेरे पितादि की आज्ञा है कि मैं सदा आप के साथ रहूँ, आप के वियोग में जीना भी मैं अनुचित समझती हूँ, मैं आप की भक्त पतिव्रता, आप के सुख में सुख और दुःख में दुःख मानने वाली हूँ पुनः आप मुझे क्यों नहीं साथ ले चलें । इस प्रकार बहुविधि प्रार्थना करने पर भी श्री राम जब सीता को ले जान पर तैयार न हुए तो सीता की आंखों से आंसु की धारा बह निकली । श्री राम ने पुनः समझाया परन्तु सीता के हृदय में धीरे न बंधा वह रोरो कर पुनः प्रार्थना करने लगी और शोकाकुल हो एकाएक श्री राम की गर्दन से लिपट गई और बेसुध हो गई तब श्री राम ने समझा कि सीता मेरे पीछे किसी भी प्रकार जी नहीं सकती और कोमल वचनों से सीता की मूर्छा दूर करने लगे । धीरे २ सीता ने सुध सम्भाला और अपने स्वामी के यह वचन सुन कि वह सीता को कभी भी अपने से पृथक् नहीं रखेंगे वह हर्षित हो गई । श्री राम ने सीता को

* प्रासादपि विमानैर्वा वै । यस्यगतेन वा ।

स्वावःथागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥ अयो० २७ । ९ ॥

† नियता ब्रह्मचारिणी ॥ अयो० २७ । ३ ॥

‡ कः... तावता निर्यं भविष्यामि न संशयः ॥ अयो० २७ । २६ ॥

कहा कि वन चलने के लिए शीघ्र तय्यार हो जाओ अपने आभूषण और रत्नादि और हमारी सब सम्पत्ति ब्राह्मणों को दान कर दो तथा सेवक सेविकाओं को बांट दो ।

पति पत्नी की यह सब बातें लक्ष्मण एक स्थान से श्रवण कर रहे थे । जब सीता को साथ चलने की आज्ञा मिल गई तो लक्ष्मण ने आकर भ्रातृचरणों को प्रणाम किया और कहा भ्राता ! आप के सुखों में मैं भाग लेता रहा अब आप के दुःखों में से भाग क्यों न लूं आप वन वन डालें और मैं राजप्रसाद में रहूं यह नहीं हो सक्ता, मैं अपने धनुष बाणों के साथ आप और महाराणी सीता के जागते और साते हुए पहरा देना ही अपना परम कर्तव्य समझता हूं, आप को छोड़ मैं अयोध्या में कभी नहीं रह सक्ता । श्री राम ने कहा भ्राता ! तुम्हारे भ्रातृस्नेह में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं परन्तु मेरे तथा सीता के पीछे तुम्हारे विना पिता जी को कौन संताप देगा ? माताओं को कौन धीर बंधाएगा ? अतः तुम मेरे साथ चलने के लिए हठ न करो । लक्ष्मण ने कहा, भ्राता ! आप के प्रताप से भरत सब माताओं की सेवा करेंगे यदि राजनियम विरुद्ध विश्वासघात करेंगे तो मेरे बाणों से उन के प्राणों की कोई भी रक्षा नहीं कर सकेगा । मेरी यहां आवश्यकता नहीं है । आप की सेवा करता हुआ मैं अपने जीवन को धन्य मानूंगा, तपस्वियों के आहारयोग्य मूल फल तथा हवन के लिए काष्ठादि प्रस्तुत करूंगा * आप और महाराणी सीता जब सो जायेंगे तो पहरा दूंगा, आप के पीछे मैं जी नहीं सक्ता, अतः कृपया मुझे साथ चलने की आज्ञा दें । श्री राम को लक्ष्मण का प्रेम देख विवश हो साथ चलने के लिए आज्ञा देनी पड़ी । श्री राम ने कहा कि अब शीघ्र अपने इष्ट मित्रादि से मिल आओ और दोनों वरुण धनुष, दो अभेद्य कवच, अक्षय सायकों वाले दो तूण तथा दोनों दिव्य खड्ग शीघ्र लाओ । लक्ष्मण ने आज्ञानुसार सब कार्य कर सब अस्त्र शस्त्रों सहित श्री राम के समीप शीघ्र ही पहुंच गए । तब श्री राम ने लक्ष्मण की सहायता से अपने दिव्य

* आहरिव्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च ।

वन्यानि च तथान्यानि स्वाहाहाणि तपस्विनाम् ॥ अयो० ३१ । २६ ॥

इस श्लोक से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन जंगलों में वन में मांस नहीं खाया ।

आभूषण रत्नादि, अश्व रथादि ब्राह्मणों को दान कंठ दिया और अपने सब सेवकों को भी बहुतसा धन दिया । तब अपने अस्त्र शस्त्रों को धारण कर श्री राम और लक्ष्मण सीता सहित बन जाने के पूर्व अपने पिता और माताओं को प्रणाम करने चले । जिस २ मार्ग से ये गये प्रजा ने हाहाकार मचा दिया । राजद्वार पर पहुँच कर श्री राम ने सुमन्त से कहा कि पिता जी को सूचना दीजिये कि राम दर्शनों के लिए खड़ा है । सुमन्त महाराज के समीप पहुँचे तो क्या देखते हैं कि महाराज रुदन कर रहे हैं और वे सुध पड़ चुके हैं परन्तु सुमन्त हाथ जोड़ कहने लगे कि महाराज ! श्री राम ने अपनी सम्पत्ति ब्राह्मणों तथा सेवकों को दे दी, अपने इष्ट मित्रों से वह बिदाई ले चुके, अब वह आप के दर्शन कर बन जाने को तय्यार हैं । महाराज ने सुध संभाल सुमन्त से कहा जाओ मेरी राणियों को बुला लाओ । सुमन्त ने महाराणियों को महाराज की आज्ञा सुनाई और राणियाँ अपना सहचरीगण सहित महाराज के समीप खड़ी हो गईं । महाराज ने सब को देख लिया तब सुमन्त को आज्ञा दी कि राम को बुलाओ । सुमन्त ने महाराज की आज्ञा राम को सुनाई और राम लक्ष्मण तथा सीता सहित महाराज के दर्शनों को चले । श्री राम ने प्रणाम करने के लिए ज्यों ही हाथों को जोड़ा त्यों ही महाराज अपने आसन से उठ पुत्र को छाती से लगाने के लिए दौड़े परन्तु बीच में ही गिर पड़े और बेहुश हो गए । यह देख देवियाँ घोर रुदन करने लगीं, श्री राम तथा लक्ष्मण भी रोने लगे और पिता के अर्धजावी शरीर को सीता की सहायता से उठा एक पहंग पर लेटा दिया । महाराज को जब कुछ चेत हुआ तो श्री राम हाथ जोड़ इस प्रकार निवेदन करने लगे “ महाराज ! आप हम सब के अर्धाश्वर हैं, हम दण्डकारण्य को जाने के लिए तय्यार हैं अब एक वार हम सब की ओर कृपादृष्टि करें कृपया लक्ष्मण और सीता को भी मेरे साथ जाने की आज्ञा दें, मैंने सीता और लक्ष्मण को बहुत समझाया परन्तु ये साथ छोड़ना नहीं चाहते अतः पूज्य पिता जी शोक छोड़ हम तीनों को बिदा कीजिए जिस प्रकार प्रजापति ने अपने पुत्रों को बिदा किया था । महाराज ने यह सब सुन अपने पुत्र पर दृष्टि डाली और बोले “ हे राम ! मैं कैकयी को वरदान दे कर माहित (निरुत्तर, शोकमय, परवश अतः राज करने के सर्वथा अयोग्य) हूँ तुम मेरा निग्रह कर (मुझे मार वा बन्दी बना) अयोध्या का राज्य करो ” । यह सुन हाथ जोड़ श्री राम बोले “ महाराज ! चिरकाल तक आप अयोध्या का राज्य करें, मुझे राज्य करने की लालसा नहीं है,

मैं वन में प्रसन्नता पूर्वक रहूंगा, ज्यों ही चौदह वर्ष समाप्त हो जायेंगे त्यों ही आकर आप के चरणों को संस्पर्श करूंगा.....”

कैकेयी के मन में अब तक भी कुछ दया नहीं आई और वह अपनी मांग पर तुली रही तब सत्य के बन्धन में बंध हुए रुदन करते हुए महाराज कहने लगे “ हे राम ! जब कि तुम्हारा मन सत्य और धर्म के साथ ऐसा बंधा हुआ है कि तुम उसे सर्वथा पालन करने के लिए उद्यत हो तो हे तात ! जाबो ! तुम्हारा ह्लयाण हो, तुम्हारी वृद्धि हो, तुम्हारा कुशल पूर्वक पुनरागमन हो, मैं जानता हूँ कि तुम केवल मुझे सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करने के लिए इतना दारुण क्लेश उठाते हो परन्तु पुत्र सत्य जानो मैं तुम्हारे लिए बड़ा दुःखी हूँ ” यह सुन श्री रामचन्द्र जी बोले महाराज “ यह राज, धन, धान्य तथा अन्य जो कुछ आप मुझे देने के लिए उद्यत थे वह सब भरत को दें, जिस प्रकार देवासुरसंग्राम में दिया हुआ आप का वचन अटल है उसी प्रकार वनवास की मेरी प्रतिज्ञा भी अटल है । न मैं राज चाहता हूँ न कोई अन्य सुख मैं केवल आप को सत्यप्रतिज्ञ सिद्ध करना चाहता हूँ ।”

श्री राम के वचन ज्यों ही समाप्त हुए त्यों ही मन्त्री सुमन्त्र क्रुद्ध हो कैकेयी से कहने लगे “ जिस तू ने अपने पति की मर्यादा का कुछ भी ध्यान न रक्खा जो तू अपने कार्यों से अपने पति तथा इस कुल का नाश करना चाहती है उस के साथ अब हम लोगों का क्या काम है । तू भरतसहित राज कर हम सब अयोध्या-वासी रामसहित बन जाते हैं राम तेरे अयोध्या के नहीं प्रत्युत अपने नूतन राज्य के राजा बनेंगे इत्यादि....” परन्तु कैकेयी पर इन कथनों का कुछ भी प्रभाव न हुआ । तब महाराज दशरथ बोले सुमन्त्र ! चतुरांगिणी सेना तय्यार करो, पुष्कल धन धान्य राम के साथ करदो, ताकि वन में वह भञ्जी भांति यज्ञ कर सके, बहुत से नगरनिवासियों को भी उस के साथ भेजो, और अयोध्या में भरत को राज्य करने दो । यह सुन कैकेयी डरी और कुछ बोली जिस का उत्तर महाराज ने दिया । पुनः कैकेयी बोली जिस का उत्तर मन्त्री सिद्धार्थ ने दिया ।

श्री राम बोले “पूज्य पिता ! जब कि हमें सब भोगों को छोड़ वन में तापस का जीवन व्यतीत करना है तो धन धान्य और जन-समूह से हमें क्या करना है, हमें तो बरकल वस्त्र और फल मूल खेदने के लिए खनित्री चाहिये.....” यह

सुनते ही कैकेयी बल्कल वस्त्र ले आई और बोली लो पहिनो । श्री राम ने बल्कल वस्त्र धारण कर लिया और अपने वस्त्र उतार दिये, लक्ष्मण ने भी वैसा ही किया परन्तु सीता बल्कल वस्त्र ले सोचने लगी कैसे पहनूं अपनी गर्दन पर उसे डाला भी परन्तु पहन न सकी तब पूछने लगी कि वनवासी मुनि लोग बल्कल वस्त्र कैसे पहनते हैं तब राम सीता के कौशेय वस्त्र के ऊपर ही उस बल्कलवस्त्र को पहनाने लगे । यह देख सब देवियां रो उठीं और सारी प्रजा चिल्ला उठी “धिकृतां दशरथम्” धिक्कार है तुझे ऐ दशरथ ! महर्षि वसिष्ठ बोल उठे क्योंकि कैकेयी ने महाराज को धोखा दिया है इस कारण वह प्रामाणिक नहीं रही, वह सीता को किसी भी प्रकार वनवास नहीं दे सकती राम के स्थान में सीता राजसिंहासन पर बैठ पृथिवी का शासन कर सकती है । यदि वैदेही को राज करना स्वीकार न हो और वह अपने स्वामी के साथ वन को ही जाना उत्तम समझे तो हम लोग सब पुरवासी सीता राम के पीछे वन को जा सकते हैं । देवियों के रुदन और प्रजा के अपमान ने महाराज दशरथ के हृदय को घोर दुःखित किया तथापि वह कैकेयी से बोले, “तूने मुझ से सीता के विषय में तो नहीं कहा था सीता तपस्विनी का वेष धारण नहीं कर सकती.....” पुनः श्री राम ने निवेदन किया “पिता ! मेरी वृद्धा माता कौशल्या यहां खड़ी है, उस का हृदय महान् दुःख से भर रहा है उस पर पूर्ण दया रखना ताकि हमारे वियोग के दुःख से वह अपने प्राण न छोड़ दे.....” यह सुन महाराज दशरथ पुनः बेसुध हो गए परन्तु फिर चेतन हो और आंखों में आंसू भर सुमन्त्र से बोले जल्दी द्रुतगामी घोड़ों का रथ जोतलाओ ताकि राम के पिता माता मिलकर अपने पुत्र को तप करने के लिए शीघ्र वन में भेज सकें पुनः महाराज ने अपने कौषाध्यक्ष से कहा जल्दी उत्तमोत्तम रत्नों तथा वस्त्रों को लाकर सीता को दो । सुमन्त्र ने रथ द्वार पर खड़ा कर महाराज से निवेदन किया कि रथ तय्यार है, कौषाध्यक्ष ने बहुमूल्य रत्नजटित आभूषणों की ढेरी और उत्तमोत्तम वस्त्र सीता के सन्मुख रख दिये । श्वशुर की आज्ञानुसार कुछ वस्त्रों को सीता ने पहना और रत्नमय आभूषणों को धारण कर लिया । तब कौशल्या सीता को अपने अङ्क में ले तथा सीता के शीश को चुम्बन कर पातिव्रत धर्म का उपदेश करने लगी । सीता ने सास की सब बातें सुन कहा “माता मैं सब प्रकार पातिव्रतधर्म की पालना करूंगी.....” तब कौशल्या के नेत्रों में आंसू भर आया । पुनः श्री राम अपनी माता के निकट आए और हाथ जोड़ कहने लगे माता ! अब शोक दूर कर, पिता की ओर देख, उन

यह दिन उस समय का है जब कि वनयात्रा के लिए उद्यम श्रमण, लक्ष्मण तथा जानकी स्वयं
 अपन शक्ति पिता को अनिमित्त वार प्रणाम करने आए हैं। वहीं हुई श्री जानकी वल्कल वन्दन
 दृश्य में लिए हुए पुरु रहीं हैं कि तपस्वी वनवासी वल्कल वन्दन करने पहनते हैं। दैजिण पृष्ठ ३१०-३११



सहस्रम-प्रचारक यन्त्रालय मुद्रण कार्यालय में अनन्तराम शर्मा द्वारा कृत ।

की कैसी दशा हो रही है उन्हें संभाल, मैं चौदह वर्ष व्यतीत कर जब तेरे चरणों का पुनः दर्शन करूंगा तो ये चौदह वर्ष स्वप्न की भांति बीते हुए तुझे ज्ञात होंगे । पुनः श्री राम ने अपनी अन्य माताओं को प्रणाम किया और बोले यदि मेरे मुख से कोई कटु शब्द कभी निकला हो तो उस के लिए क्षमा करें अब मैं आप सब से बिदा मांगता हूँ । श्री रामचन्द्र के ये विनीत वचन श्रवण कर राजमहल की सब देवियां रो उठीं । पुनः श्री राम ने सीता और लक्ष्मण सहित पितृचरणों को प्रणाम किया और पिता से बन जाने की आज्ञा ले पिता की प्रदक्षिणा की पुनः श्री राम ने मातृचरणों को प्रणाम किया और लक्ष्मण ने कौशल्या को प्रणाम कर अपनी माता को प्रणाम करने लगे । तब सुमित्रा पुत्र का शीश चूम आंखों में आंमू भर कहने लगी “देखना पुत्र ! राम सीता की मर्ली भांति रक्षा करना, राम को पितृवत् और सीता को मातृवत् स्मरते हुए उन की सेवा में सदा तत्पर रहना, बन को अयोध्या स्मरते हुए सुखपूर्वक समय व्यतीत करना, जाओ पुत्र तुम्हारी यात्रा सफल हो हर्षपूर्वक तुम्हारा अयोध्या में पुनरागमन हो…………” ।

इस प्रकार सुमित्रा बोल ही रही थीं जब कि सुमन्त्र ने श्रीराम की सेवा में उपस्थित हो कहा, महारथ ! रथ तय्यार है चलिए चलिए । रथ पर सीता को चढ़ा तथा सीता को जो वस्त्र तथा रत्नादि मिले थे उन्हें और अपने अस्त्र शस्त्रों को भी रथ पर रख श्रीराम और लक्ष्मण उस पर बैठ गए और सुमन्त्र ने रथ हांक दिया ।

रथ के हंकते ही अयोध्या में हाहाकार मच गया सब नर नारी फूट २ कर रोने लगे । रथ के पीछे २ बहुत से मनुष्य दौड़े और रथ के आगे भी बहुत से खड़े हो गए और कहने लगे सुमन्त्र ! घोड़ों को किञ्चित् धीरे २ चलावो बहुत दिनों के बाद राम का पुनः दर्शन होगा इस समय तो नयन भर देख लेंगे दां, तब रथ धीरे धीरे चलने लगा । महाराज दशरथ “मैं अपने पुत्र को देखूंगा” यह कहते हुए और रोते हुए राजद्वार से निकले और सब नारियां भी रोती हुई साथ ही निकलीं । यह देख श्रीराम ने सुमन्त्र से कहा रथ वेग से चलावो परन्तु पुरवासियों ने कहा सुमन्त्र ठहरो २ ! परंतु सुमन्त्र ने रथ हांक ही दिया और पुरवासी रथ के पीछे २ दौड़े । तब पुरवासी राम के गुणकीर्तन करते हुए अधिक २ राने लगे और कई लोगों ने कौशल्या तथा महाराज दशरथ से कहा कि अब राम के पीछे २ जाना ठीक नहीं जब तक रथचक्र से उड़ती हुई धूली दिखाई देती रही महाराज और कौशल्या उस

धूली की ही ओर दृष्टि डाले रहे परन्तु जब धूली बिल्कुल न दीखने लगी तब महाराज रुदन करते हुए पृथिवी पर गिर पड़े, महाराणी कौशल्या दाहिनी ओर से और कैकेयी बाईं ओर से हाथ लगाकर महाराज के शरीर को उठाने लगीं महाराज को जब सुघ हुई और कैकेयी का अपना वाम अङ्ग रसि किए हुए देखा तो बोले “कैकेयी ! मेरे अङ्गों का अब तू न छू, मैं तुझे अब देखना नहीं चाहता, अब तू मेरी भार्या नहीं रही, क्योंकि तू स्वार्थिनी और धर्म रहित है इस कारण तुझे परित्याग करता हूँ” पुनः कौशल्या ने धूल भरे हुए महाराज के शरीर को उठाया और सहारा देती हुई शोकमय हृदय के साथ उन्हें राज भवन को ले आई ।

उधर श्रीराम बहुत यत्न करते थे कि प्रजा को पीछे लौटाएं और आप शीघ्र आगे निकल जायं परन्तु प्रजा उन का साथ नहीं छोड़ती थी । चलते २ सन्ध्या हो गई और तमसा नदी भी मार्ग में आ गई इस कारण विवश हो राम को सीता लक्ष्मण सहित रथ से उतरना पड़ा । सुमन्त्र ने घोड़ों को रथ से खोल दिया और प्रजा समूह भी वहीं ठहर गया । सब ने सन्धयोपासन किया और निराहार सीता राम के पत्तों पर शयन कर लेने के पश्चात् प्रजागण भी सो गए । रात्रि समय जब कि प्रजा सोई ही थी श्रीराम, लक्ष्मण सीता और सुमन्त्र सहित रथ पर सवार हो चुपचाप निकल भागे प्रजा जब जागी और राम को नहीं पाया तो उन्हें खोजने लगी । जब वह नहीं मिले तब हा राम ! हा राम !! कह रुदन करने लगी और शोकमय हृदय के साथ अयोध्या लौटी । श्रीराम रथ पर ही तमसा पार हो गङ्गा के किनारे पहुंचे जहां गूह निषाद ने उन का आतिथ्यसत्कार किया और श्रीराम के समाप नाना प्रकार के भोजनों को ला रक्वा तब श्रीराम ने कहा हे गूह !

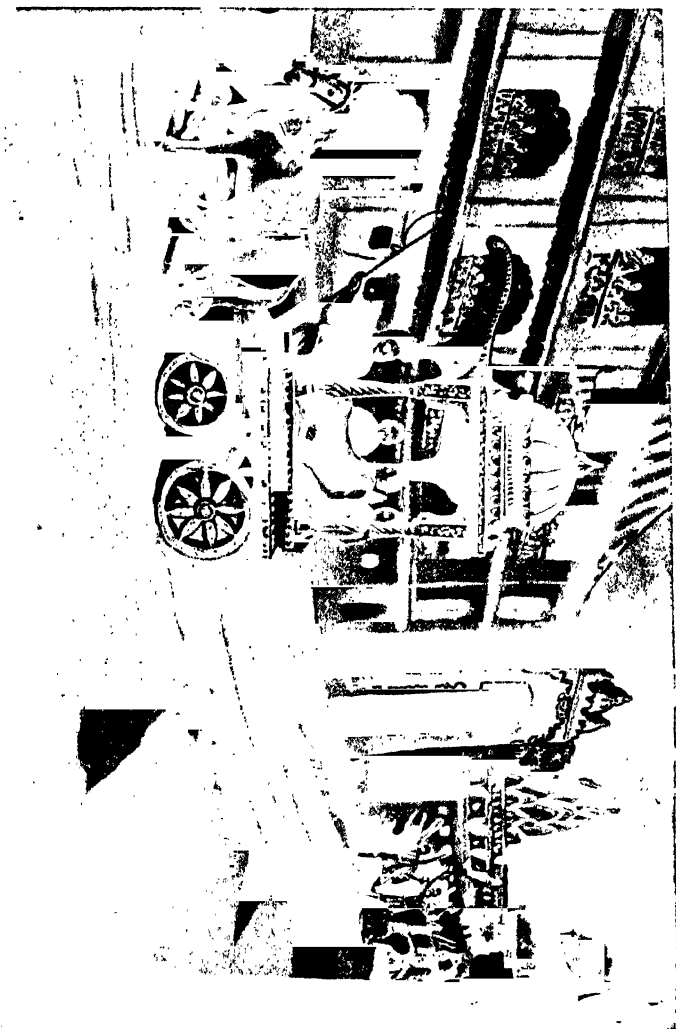
कुशचीराग्निभरं फलमूञ्जनं च माम् ।

विद्धि पाण्डितं धर्मं तापसं वनगोचरम् ॥ अयो० ५०।४० ॥

कुश बल्कल वस्त्र तथा अग्नि ही अब मैं धारण करता हूँ, फल मूल ही मेरे लिये भोज्य हैं* तुम्हें ज्ञात हो कि मैं (पितृ-आज्ञा पालनरूप) धर्म में तत्पर

* “फलमूञ्जनं च माम्” अर्थात् फल मूल ही मेरा भोजन है । इन वचनों को पढ़कर कौन कह सकता है कि धर्ममूर्ति श्री रामचन्द्र की ने कभी भी मांस खाया होगा । रामायण में जितने वचन श्री राम के मन्वन्ध में पशु मारने तथा मांस खाने के विषय में हैं वे सब प्रच्छिन्न और वाममा गर्वों के मिलाप हुए हैं ।

यह चित्र उस समय का है जब कि श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण तथा जानकी को ५४ पर चढ़ा
 सुमन्त अयोध्या में वन को विग जाने थे। अयोध्या की रानी दुई प्रजा रथ के पीछे दौड़ती और
 कहती है कि सुमन्त रथ का बड़ा करा। देविएर पृष्ठ ३११-३१२



सदस्य प्रचारक यन्त्रालय गुरुकुल काशी में अनन्तराम दत्तों द्वारा अंकित ।

तपस्वी, बनवासी हूँ (तपस्वियों की भांति रहना चाहना हूँ) अतः मेरे रथ के घोड़ों को खिलवा पिलवा कर ठाँक कर दो और विश्राम करो । आज्ञा पाते ही गृह ने वैसा ही किया और श्रांगमादि विश्राम करने लगे ।

प्रातः होते ही श्रीराम ने न्यग्रोध (बट) का दूध मंगा अपने शीश के बालों में लगा लिया जिस से जटाएं बन गईं, लक्ष्मण ने भी वैसा ही किया और साथ चलने के लिए बड़ी चिन्ता करने वाले आर्तदुःखी सुमन्त्र को रथसहित बिदा कर श्री राम गृह की नौका पर सवार हो गंगा पार आगए और वन वन बिचरने लगे ।

उधर सुमन्त्र ने जाकर जटाजूटधारी दोनों भाइयों और सीता के वन में चले जाने का समाचार महाराज दशरथ को सुनाया और वह हा राम ! हा राघव ! हा पितृप्रिय ! इत्यादि कहते और रोते हुए इस संसार से पयान कर गए जिस कारण पूर्व से शोक संकुञ्ज महाराज की राणियां तथा पुरवासी और भी शोकाकुल हो गए राजमंत्रियों ने महाराज का शव (लाश) तेल के भीतर रख राजसभा बुलाई । राजसभा में प्रधानमन्त्री महर्षि वसिष्ठ को सम्बोधित कर सभासदों ने वक्तृताएं दीं जिन सब का सारांश यही था कि “ इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम् ”* अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं सपवाप्नुयात् (अयो० ६७।८) आज इसी समय इक्ष्वाकूवंश के किसी पुरुष को राजा बनाएं ताकि राजाविहीन होने से हम लोगों का राज्य नाश को प्राप्त न हो जो भूमि राजा से हीन होती है वहां कृषक नियम पूर्वक खेतों नहीं करते, लोग सभाएं नहीं कराते, रम्य उद्यानों में वा पुण्य गृहों में लोग एकत्रित नहीं होते, ब्राह्मण बड़े २ यज्ञ नहीं करा सक्ते, उत्सव और समाज वृद्धि को प्राप्त नहीं होते व्यवहारी लोगों की अर्थमिद्धि नहीं होती, कथा (अर्थात् इतिहासों) के द्वारा कथा शाल लोग कथा प्रिय लोगों के मनो को प्रसन्न नहीं कर पाते, उद्यानों में सुवर्णालङ्कारों से भूषित कुमारिणं सन्ध्या समय खेलने नहीं जाते, पुरुष अपनी पत्नी के साथ द्रुतगामी रथों पर बनों में घूमने नहीं जाते, न धनी वैश्य लोग धन धान्य से पुरित अपने गृह द्वारों को खोले हुए निश्चिन्त शयन करते हैं, न बड़े २ दांतों

* “ कश्चिद्राजाविधीयताम् ” अर्थात् किसी को राजा बनायें यह मन्त्र स्पष्ट लिख कर रहे कि रामायण के समय में भी राजा बनाने का वास्तविक अधिकार ब्राह्मणों, राजगृहों तथा अन्य द्विजातियों की एक विशेष सभा को ही था ।

और घंटों वाले मस्त हाथी राजमार्ग से चलते हैं, न धनुर्विद्या के अभ्यासियों को बाणों को विचक्षणता के साथ चलते समय (हर्षदायिनी) करताल ध्वनि सुनने में आती, न दूर २ देशों में बहुतसी वाणिज्य की वस्तुओं को लेकर क्षेम सहित बणिक् लोग जा सके, परमात्मा की उपासना में लगे हुए मुनि लोग यथारुचि विचरते हुए जहां कहीं वह सन्ध्या के समय विश्राम करना चाहें वहां नहीं कर सके, किसी के भी योग क्षेम का ठिकाना नहीं रहना, और न सेना अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सके न हृष्ट पुष्ट घोड़ों और रथों पर निःशङ्क हो लोग चलते फिरते, न शास्त्र विशारद लोग वनों और उपवनों में सम्वाद के लिए शान्ति सहित बैठ सके । जैसे जल बिना नदी, जैसे तृण बिना बन, जैसे गोपाल बिना गो-समूह होता है एवं राजा के बिना राष्ट्र हो जाता है । राजा विर्हान देश में सम्पत्ति पर अधिकार किसी का नहीं रहता, जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खाजाती है (उसी प्रकार उद्दण्ड लोग निर्बलों को नष्ट किया करते हैं), राजा ही सत्य और धर्म का प्रवर्तक है, राजा ही माता, पिता और मनुष्यों का हितकारी है, अतः हे महर्षे राजा बिना अरण्यवत् हुए राष्ट्र के लिए किसी इक्ष्वाकु वंशज का अभिषेक कीजिए (वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ६७ के श्लोक ८, १२, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २९, ३१, ३४, ३८ के भागों का आशय) भिन्न २ वक्तृताओं को श्रवण कर महर्षि वासिष्ठ ने प्रस्ताव किया कि इस समय केवल भरत शत्रुघ्न को बोलने के लिए राजदूत भेजना चाहिए * सब सभासदों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया, दूत गेने गए और वे भरत शत्रुघ्न से महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार न कह उन्हें अपने साथ लाए । भरत अपनी माता कैकेयी से मिले और उस के पूछने पर केकय नरेशादि के समाचार सुना, पूछने लगे कि पिता जी कहां हैं ? कैकेयी ने उत्तर दिया कि महात्मा तेजस्वी तुम्हारे पिता परलोक वासी

* विचार न की बात है कि महाराज दशरथ के मरण दिन से लेकर उस समय तक जब तक कि भरत चित्रकूट से श्रीराम की पादुका लेकर नन्दीग्राम को नहीं लंटे यह निश्चित नहीं हो सका था कि अयोध्या का राजा कब कौन बनेगा तौ भी अयोध्या के विस्तृत राज्य में अथवा तदाधीन राज्यों में किसी प्रकार का राजविद्रोह नहीं हुआ क्यों ? इस का एक मात्र कारण यही ज्ञात होता है कि चिरकाल से इक्ष्वाकु वंशजों के सन्नासन के दृढ़ स्थापित रहने के कारण प्रजा अपने राजा को वास्तव में पितृवत् मानती थी, उन के हृदय से विद्रोह का भाव ही विद्यमान हो गया था ।

होगए हैं । यह सुनते ही भरत शोकाकुल हो पृथिवी पर गिर पड़े और नाना भांति विलाप करने लगे । कैकेयी ने उन्हें बहुत समझाया और जब वह कुछ शान्त हुए तो कहने लगे कि पितातुल्य मेरे बड़े भाई राम जिन का मैं दास हूँ उन्हें बोलावो ताकि उन के चरणों को छू मैं कुछ शान्ति प्राप्त करूँ । तब कैकेयी ने कहा कि राम को तुम्हारे पिता ने दण्डक वन का वास दिया है और उन के साथ ही सीता और लक्ष्मण गए हैं । तब भरत भय-भीत हो पृच्छने लगे:—

कञ्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्य चित् ।

कञ्चिन्नाद्यो दरिद्रा वा तेनापापो विहिंसितः ॥ अ० ७२ । ४४ ॥

कञ्चिन्न परदारान् वा राजपुत्राऽभिमन्यते ।

कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्रूणहेव त्रिवासितः ॥ अ० ७२ । ४५ ॥

क्या राम ने किसी ब्राह्मण का धन हरण कर लिया था? अथवा किसी निरपराध धनाढ्य वा दरिद्रों को मार डाला था ? अथवा किसी पर नारी को राजपुत्र ने अपनी स्त्री बनाली थी ? किस कारण भ्रूणहत्या की भांति वह दण्डकारण्य को निकाले गए ; *

इन प्रश्नों को श्रवण कर कैकेयी अब बातों को अधिक छिपा न सकी और बोली कि हे पुत्र मैंने बड़े यत्न से तुम्हारे लिए राज और राम के लिए वनवास महाराज से प्राप्त किया है ।

माता के वचन सुनते ही भरत शोकाकुल हो पृथिवी पर गिर पड़े और उच्चस्वर से विलाप करने लगे, लोग भरत की ओर दौड़े भरत के रुदन के शब्द कौशल्याभवन में भी पहुंचे और वह मैले वस्त्र धारण की हुई अङ्ग की सुघ बिसारी हुई, रोती विलपती भरत की ओर दौड़ी, भरत और शत्रुघ्न भी उन की ओर दौड़े, कौशल्या पुत्रों को अङ्ग में ले रुदन करने लगी । राने के पश्चात् जब कुछ शाक घटा तो कौशल्या बोली “भरत अब यह सारा राज्य तुझारा है जिस की तुम्हें इतनी कामना थी तुझारा अब कोई शत्रु यहां नहीं है ” भरत के हृदय को इन वचनों से बड़ा कष्ट पहुंचा परन्तु वह धीर धारण कर कहने लगे माता ! जब कि मैं इन बातों से सर्वथा

* भरतजी के इन प्रश्नों से तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्रह्मण्य के समय न्याय सर्वथा पक्ष-पात रहित था, अन्यों को कौन कहे राजकुमार भी अपराध-करने पर दण्डों से नहीं बच सकता था।

अनभिज्ञ था तो मैं दोषी कैसे ठहर सकता हूँ ? इतना कह भरत शपथ खाने लगे * और अनंक शपथ खाकर दुःख से कातर हो पृथिवी पर गिर पड़े। तब माहाराणी कौशल्या भरत के दुःख से दुःखी हो कहने लगीं “ पुत्र ! मैंने देख लिया तू धर्म से विचलित होने वाला नहीं है वत्स ! तू सत्य प्रतिज्ञ है....” और भरत को छाती से लगा पुनः रुदन करने लगीं, भरत भी रोते रहे, इस प्रकार पुत्र और माता के रोते बिलपते रात्रि समाप्त होगई।

प्रातः होते ही महर्षि वसिष्ठ के आदेशानुसार महाराज दशरथ के शव की सरयू के किनारे वेदमन्त्रों द्वारा सुगन्धित द्रव्यों तथा घृताहुति से अन्त्येष्टि क्रिया हुई और रथी के साथ गए हुए सब शोक करने वाले नगर में वापस आए। अन्त्येष्टि क्रिया के कई दिन बाद जब कि भरत शत्रुघ्न से श्रीराम वनवास की बातें कर रहे थे। दासी मंथरा शृङ्गार किए हुए उस ओर आन पहुंची। शत्रुघ्न दौड़े और उस का झोंटा पकड़ कर घसीटन लगे और वह चिल्लाने लगी। भरत शत्रुघ्न को [विशेष] क्रुद्ध देख [उन के निकट जा] कहने लगे सब भूतों की नारी अवध्य है, क्षमा करो यदि श्री रामचन्द्र जी इस कुब्जा के बध का हाल जानलेंगे तो निश्चय है कि वह धर्मात्मा तुम से तथा मुझ से नहीं बोलेंगे। यह सुन शत्रुघ्न ने कुब्जा को छोड़ दिया।

चौदह वें दिन जब कि सूर्योदय हुआ राजसभा बैठी और लोग भरत से बोले “त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः” हे महायशः राजपुत्र आप हम लोगों के राजा हूजिए। भरत ने उत्तर दिया, आप जैसे कुशल जनों को ऐसे वचन नहीं कहना चाहिए। हमारे ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी राजा होंगे..... चतुरङ्गिणी सेना तय्यार हानी चाहिए, राज्याभिषेक की सब सामग्री रथों पर ले चलना चाहिए और वन में ही श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक करना चाहिए” यह सुन “प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम्” सब लोग

* नोटः—भरत के कतिपय शपथ ये हैं “ जो राजा प्रजा का पालन पुत्रवत् करता हो उस से द्रोह करने वाले को जो पाप होता है, राजा, भी, बालक वा छद्म के बध करने में जो (घोर) पाप होता है तथा जिन्हें पोषण करना चाहिए उन्हें त्याग कर देने से जो पाप होता है, अपनी धर्म पत्नी को छोड़ पर नारी सेवन तथा धर्म विगर्हित कर्मों में लगे रहने वालों को जो पाप होता है वह सब पाप मुझे लगे यदि मेरी अतृपति से श्रीरामचन्द्रजी वन को भेजे गए हों (देखिये अ० सर्ग ७६। श्लोक २४, २६, २७, ३७,)

† नोट—देखिये कथोपनिषद्, श्लोक २१, २२ रामायण के समय क्षीमाति की मर्यादा कितनी थीं इस का बताने इन वचनों से लगता है।

बोल उठे आप के बचन अत्युत्तम हैं । सभाविसर्जन हो जाने पर वनयात्रा की तयारी होने लगी, आगे मार्ग शुद्ध करने वाली सेना चली गई । पुनः यात्रा के दिन सभाएकत्रित हुईं भरत राजसन्मान पाने से दुखी हुए फिर भरत शत्रुघ्न, अपनी माताओं वशिष्ठादि महर्षियों तथा अन्यान्य प्रतिष्ठित पुरुषों तथा चतुरङ्गिणी सेना और पुरवासियों के एक अतिबृहत् समूह के साथ तथा राज्याभिषेक की सब सामग्री ले अयोध्या से रवाना हुए और चलते २ गङ्गा के किनारे पंहुचं, जहां सेनादि ने विश्राम लिया ।

विषादराज गूह यह समझे कि भरत राम को पकड़ने आते हैं भरतसे युद्ध करने के लिए उद्यत हो गया परन्तु भरत की वास्तविक मनसा जब उसे ज्ञात हो गई तो वह भरत की पहुनाई करने लगा । भरत गूह के आतिथ्य सत्कार तथा उससे श्रीरामचन्द्र की बातें सुन बहुत प्रसन्न हुए । रात्रि व्यतीत होते ही गूह के मल्लाह ५०० पांच सौ नौकाओं के साथ गङ्गा के किनारे पंहुच गए और अपनी नौकाओं पर सेना को उतारने लग कई वार नौकाएं इस पार से उस पार और उस पार से इस पार और फिर उस पार गई आई, हाथी और अनेक पुरुष भी तैर कर गंगा पार हुए । फिर गंगा पार से सारी सेना प्रयाग को चली जहां महर्षि भारद्वाज ने सारी सेना का आतिथ्यसत्कार किया । रात्रि व्यतीत होने पर यहां से सेना चित्रकूट को चली और मार्ग में विश्राम लेती हुई चित्रकूट पंहुची, यहां पंहुचते ही सारासेना महर्षि भारद्वाज की शिष्यानुसार श्रीराम, लक्ष्मण, जानकी को ढूंढ ने लगी । बन के एक भाग से धूम निकलता सा दीखा लोगों ने समझा यह श्रीराम की कुटी से निकलता होगा । भरत कई पुरुषों के साथ उसी ओर चले ।

लक्ष्मण बन में कोलाहल होते देख एक वृक्ष पर चढ़ गए और एक महती सेना को बन में फैली हुई अवलोकन किया और श्रीराम से बाले भ्राता ! भरत यहां भी पीछा नहीं छोड़ते सेना ले कर यहां तक चढ़ आए आज उन से संग्राम कर हृदय की आग बुझाऊंगा, हमारे वाणों से भरत के प्राण कोई भी बचा न सकेगा । श्रीराम ने उन्हें शान्त किया और बतलाया कि जैसा तुम भरत को समझते हो वैसे वे नहीं हैं । भरत धीरे २ उस कुटी के निकट पंहुचं जिस से धूम निकलना था, कुछ आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि कुटी के भीतर श्रीराम लक्ष्मण तथा सीता सहित बैठे हुए हैं श्रीराम दर्शन से प्रसन्न परन्तु पुनः विषाद युक्त हो

भरत अपने माई की ओर दौड़े और विलापकरते हुए उन के चरणों के समीप गिर पड़े, शत्रुध्न भी प्रणाम करते हुए रोने लगे इतने में सुमन्त्र और गूह भी आन पहुँचे । श्रीराम ने भरत का शरीर अति कृशित देख विस्मित हुए और स्वयं आंखों से आंसू बहाते हुए भाइयों को छाती से लगा लिया और पूछने लगे प्यारे माई तुम्हारे पिता कहां हैं जिन्हें छाँड़ तुम हमें यहां दूँदने आए ? राज छोड़ जटा धारण कर और बल्कलवस्त्र पहन तुम्हारा यहां आना तो आश्चर्य जनक है” भरत कुछ देर में शान्ति धारण कर हाथ जोड़ बोले “आर्य्य ! पिता दुष्करकर्म कर, पुत्र शोक से संतप्त हो स्वर्ग को पधार गए, मेरी माता कैकेयी के वश हो पिता ने अपने यशहारी कर्मों को किया मेरी माता कैकेयी विधवा और शोककर्षित तो हों ही गई परन्तु घोर दुःखोंमें अभी उसे और भी पतित होना है, हे नाथ अब इस दास पर कृपा कीजिए और आज ही अपना राज्याभिषेक कराइये, सब विधवामातायें यहां उपस्थित हैं, वे तथा मन्त्री लोग तथा सब प्रजा प्रार्थी हैं और मैं आप का भ्राता, शिष्य और दास प्रार्थना करता हूँ कि आप राज-धारण कर सब को प्रसन्न करें.....”

यह सब कहते हुए भरत पुनः श्रीराम के चरणों पर शीश रख विशेष रुदन करने लगे । श्रीराम सीता तथा लक्ष्मण भी महाराज की मृत्यु का समाचार सुन रुदन करने लगे, पुनः ढाढस बांध श्रीराम ने भरत को आश्वासन दिया और कहा ।

कुलीनः सत्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः

राज्यहेतोः कथं पापत्राचरेन्मद्विभोजनः ॥ १०१।१६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।

न चापि जननीं बाल्याच्चं विगर्हितुमर्हसि ॥ अ० १०१।१७ ॥

कुलीन, सत्व सम्पन्न, तेजस्वी, चरितव्रत होकर मेरे जैसा कोई पुरुष राज्य के लिये कैसे पाप कर सकता है ! शत्रुओं को पीड़ित करने हारे भरत में तुम में सूक्ष्म दोष भी नहीं देखता और तुम अपनी माता को बालबुद्धिवत् दोषी नहीं ठहरा सके *

* तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि कैकेयी ने अपने जानने में तो भरत के कल्याण के लिये ही सब कुछ किया था अतः भरत उसे दोषी नहीं ठहरा सके । यह बात दूसरी है कि कैकेयी औरों की दृष्टि में दोषी हो ।

(पिताकी प्रतिज्ञापालनार्थ मेरेलिए बनमें ही रहना ठीक है और तुम्हारे लिए अयोध्या में राज्य करना) पुनः भरत ने अपनी ओर से प्रार्थनाएं की परन्तु श्रीराम ने राज्य करना स्वीकार नहीं किया । श्रीराम, लक्ष्मण, सीता ने पितृशोक के कारण उस दिन आहार नहीं किया, मातादि से तीनों जन मिले और पितृशोक को रो २ कर हलका किया ।

दूसरे दिन सभा बैठी जिस में भरतने वक्तृता देते हुए कहा “मेरी माता कैकेयी मेरे लिए राज्य वा संतुष्ट होगई, मैं अपने पिता से पाए हुए राज्य को अब बड़े भ्राता के चरणों में समर्पण करता हूं, मैं पितृविहीन, पितास्थानां अपने बड़े भाई से सब प्रकार लालन पालन की आशा रखताहूँ.....”सारी सभा ने भरत के कथनों का अनुमोदन किया तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी बोले:—

“यह जीवात्मा अपनी इच्छानुसार सब कुछ नहीं कर सक्ता क्योंकि पुरुषोऽयमनीश्वरः यह जीव ईश्वर नहीं है क्योंकि कर्म फल इस जीवात्मा को इधर उधर आकर्षित किया करता है, सब इकट्ठी हुई बड़ी २ सामग्रियां नष्ट होजाती हैं और बड़ी २ उन्नतियों का भी पतन हो जाता है, सब संयोग वियोग में अन्त होजाता है, जीवन भी मरण में अन्त हो जाता है * अतः मेरे वनवास पर अथवा पिता की मृत्यु पर शोक करना व्यर्थ है, पिता की प्रतिज्ञा सत्य सिद्ध करने के ही लिये हम वनमें आए, पिता हमारे जिस समय देवासुरसंग्राम में कठिन घायल होगये थे उस समय अपने प्राणों की रक्षा करने वाली कैकेयी को वर दिया था, तदनुसार माता कैकेयी ने वर मांगा अतः पिता हमारे वचन बद्ध होने के कारण कैकेयी के मांगे हुए वरों को अस्वाकार नहीं कर सक्ते थे, और मुझे जितना सुख पिता को सत्यप्रतिज्ञा सिद्ध करने में मिलेगा उतना सुख और किसी भी प्रकार नहीं मिल सकता अतः चौदह वर्षों तक मेरा बन में विचरना और प्यारे भरत का राज्य करना ही ठीक होगा.....”

भरत जी ने पुनः वक्तृता की और श्रीरामचन्द्र जी ने पुनः समझाया, एवं एक महानराज्य को भरत भ्रातृ-चरणों में और श्री रामचन्द्र जी भरत के हाथों में

* देखिये अयोध्या सर्ग १०६।श्लोक १६, १६, श्लोक १६ में आया हुआ आपद “पुरुषोऽयमनीश्वर अर्थात् यह जीव ईश्वर नहीं है” जीव ईश्वर को भिन्नता को स्पष्ट प्रतिपादन कर रहा है ।

फेंकते रहे । धन्य है वह कुल और जाति और धन्य है वह देश जहां धर्म के सन्मुख राज्यादि सर्वा तृणवत् परित्याग योग्य समझने वाले श्रीराम तथा श्री भरत जैसे धर्म स्वरूप महात्मा उत्पन्न होते हैं ।

इसी समा में से जाबल नाम एक ऋषि बोल उठे “हे राम आप पितृ आज्ञा पालनादि पर जो इतना बल दे रहे हैं सो निरर्थक है, कौन किस का पुत्र और कौन किस का पिता है, अंकला ही जीव उत्पन्न होता और अंकला ही मर जाता है, कोई किसी का नहीं है, महाराज दशरथ के मरने के साथ २ उन की सब बातें गई, आप अयोध्या में चल राज भोगिए, इन धार्मिक ढंकासलों में क्या रक्खा है....”

जाबल की वक्तृता ज्यों ही समाप्त हुई त्यों ही श्री रामचन्द्र जी पुनः बोले:—

आप ने मेरे सुख की कामना से जो कुछ कहा है वह कर्तव्याभास है (वास्तव में) कर ने योग्य नहीं है, वह अपथ्य सा (दुस्वदाई) है (केवल ऊपर से) पथ्य सा भास रहा है । जो पुरुष मर्यादा रहित और पापाचारी होता है वह (धर्म से) भिन्न शिक्षाओं के (देखने वा) धारण करने से सत्पुरुषों के बीच प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता । सब लोग प्रायः गतानुगतिक हैं (अतः यदि हम धर्मार्थ धर्म—का विचार छोड़) यथेष्टाचारी बन जाय (तो हमारी सब प्रजा पापमय हो जायगी क्योंकि) जैसी वृत्ति राजाओं की होती है वैसी ही वृत्ति वाली प्रजा भी हो जाती है । यह सनातन बात है कि राजा का वृत्ति सत्य और दयामय होनी चाहिए इसी कारण राज्य भी सत्यात्मक होता है (और राज्य ही क्यों) ? सारा ब्रह्माण्ड सत्य के आधार पर ठहरा हुआ है । ऋषि और देवगण भी सत्य को ही प्यार करते हैं, सत्यवादी इस लोक में (सुख पाता है) और “परम अक्षयम्” अर्थात् सर्वथा अविनाशी परमात्मा को भी प्राप्त करता है । इस संसार में वास्तविक स्वामी सत्यस्वरूप परमात्मा ही हैं उसी सत्य वा अविनाशी स्वरूप परमात्मा के आश्रय सदा धर्म रहता है । इस सारे ब्रह्माण्ड का मूल परमात्मा ही है और उस परमात्मा से बढ़ कर कोई नहीं है (तात्पर्य यह है कि पापी पुरुष शरीर छोड़ने पर भी सदा रहने वाले परमात्मा के न्याय से बच नहीं सकता अतः धर्म का ढंकासला व्यर्थ है यह कहना सर्वथा अनुचित है) । तब सत्य प्रतिज्ञ

(अपने पिता से) सद्भाव से जो मैंने सत्य प्रतिज्ञा की उम के द्वारा पिता की आज्ञा को मैं क्यों न पालूँ ? * अतः पवित्र मूल, फूल और फलों से पितृसंज्ञक और देवसंज्ञक (धार्मिक विद्वानों) को तृप्त करते हुए और उसी पवित्र और नियत भोजन का खाने हुए मेरे लिये वन में ही रहना ठीक है ।

श्री रामचन्द्र जी की वक्तृता के अनन्तर जाबाल ने कहा कि मैं अपने पूर्व व्याख्यान के लिए क्षमा का प्रार्थी हूँ मैंने श्रीराम की वनवास की प्रतिज्ञा से हटाने के लिए ही वैभी वक्तृता दी थी ।

* देखिए अयोध्या, सर्ग १०९। श्लोक २, ३, ९, १०, ११, १३, १६, तथा २६, इसी सर्ग में श्रीरामचन्द्र जी की वक्तृता के भीतर बम्बई के छपे चल्मांक रामायण में निम्नलिखित श्लोक वर्तमान है:-

यथाहिचंगः स तथाहि बुद्धस्तथा गतं नास्तिकं मत्र विद्धि तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ अयो० १०९ । ३४ ॥

अर्थात् जसा कि चोर (- होता है) वैसा ही बुद्ध (अर्थात् केवल अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार मानने वाल विज्ञ महारत्नाओं के कथनों में अविश्वास रखने वाला) होता है और वैसा ही यहां नास्तिक को भी जानो अतः जो प्रजा के भीतर सब से अधिक बलवान होता है (अर्थात् राजा) वह नास्तिक के अभिमुख नहीं होता हुआ पण्डित कहलाता है ।

कई यूरोपीय ऐतिहासिक कहते हैं कि उक्त श्लोक के प्रथमार्थ में जो “ बुद्धः ” शब्द आया है उम का अर्थ बौद्धधर्मावलम्बी है अतः सिद्ध होता है कि बाल्मीकि रामायण बुद्ध देव के समय के पश्चात् बना ।

इन यूरोपियों के कथनों के उन्म में हमारा वक्तव्य यह है कि बुद्धः का अर्थ है “ जो पूर्वज ज्ञानियों के कथनों पर विश्वास न करता हुआ अर्थात् शब्द प्रमाण को न मानता हुआ केवल अपनी अल्प बुद्धि को ही सर्वोपरि मानता हुआ उम्मी के अनुसार कहता वा मानता है अतः “ बुद्धः ” शब्द से बुद्ध देव के अनुयायियों का ग्रहण नहीं हो सकता । यदि कोई कहे कि बुद्ध-देव के पूर्व तो बौद्ध वा नास्तिक थे ही नहीं फिर बुद्ध और नास्तिक से अन्धों का ग्रहण किस प्रकार हो सकता है । इस का समाधान यह है कि जिस समय सूर्य की अतिप्रखर किरणें भी चतुर्दिक् फैली रहती हैं, किसी २ गृह का कोई २ कौना अन्धकारावृत्त भी रह जाता है एवं भारत के प्राचीन काल में जिस समय वेद के ज्ञानमय प्रकाश से आत्माएं विशेष विज्ञानमय हो रहे थे, कोई २ कुसंस्कृत, वेद के प्रकाश को धारण करने की शक्ति न रखने वाला अपनी अल्प बुद्धि के कारण “ स्वयं धीराः पण्डितस्मन्यमानाः ” अपने को धीर, पण्डित अर्थात् बड़ा बुद्धिमान् वा “ बुद्ध ” मानने वाला भी होता ही था और कोई २ अल्प बुद्धि होने के कारण ईश्वर की सत्ता को अनुभव न कर उस पर अविश्वास करने वाला नास्तिक भी हो जाता था । अतः उक्त श्लोक में आए हुए बुद्ध और नास्तिक शब्दों का अर्थ बौद्ध मतावलम्बी नहीं हो सकता ।

पुनः महर्षि वसिष्ठ को वक्तृता हुई जिसका उत्तर भी श्रीरामचन्द्रजी ने बड़ी योग्यता से दे सिद्ध कर दिया कि अयोध्या को लौटना उन के लिए किसी भी प्रकार ठीक नहीं है ।

तब अन्त में भरत ने रत्नजटिन एक खड़ाउन के जोड़े को श्रीराम के सम्मुख रक्खा और कहा कि इन पर आप अपने चरण रख दें, श्रीराम ने वेना ही किया । तब भरत उन खड़ाउनों का सादर ग्रहण कर कहने लगे “हे वीर ! अयोध्या के राजसिंहासन पर खड़ाउन का यह जोड़ा रक्खा जायगा, जटा तथा बरकलत्र धारण किए हुए फल मूठ खाने हुए चोदह वर्षों तक मैं अयोध्या से बाहर निवास करूंगा

परन्तु उक्त श्लोक का अर्थ जो हमने किया है अथवा बुद्धि पर ही निर्भर करने वालों और नास्तिकों की स्थिति जो हमने बुद्ध देव के समय से बहुत पूर्व बतलाया है उस से यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिए कि हम उक्त श्लोक को प्रामाणिक मानते हैं । प्रामाणिक न मानने का प्रधान कारण यह है कि उक्त श्लोक का भाव आर्ष प्रतीत नहीं होता । प्रत्युत द्वेषमय ज्ञात होता है । द्वितीय कारण यह है कि सिवाय बम्बई के छपे रामायण वा उसके आधार पर किसी अन्य स्थान पर छपे रामायण के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राचीन आट्टति के रामायण में चाहे गौड़ाट्टति में चाहे इटली के प्रसिद्ध विद्वान् गौरीशिव के छपाए रामायण की आट्टति में उक्त “ बुद्धः ” वाला श्लोक नहीं मिलता । तृतीय कारण यह है कि बौद्धों ने जो “ दशरथ जातक ” नाम ग्रन्थ संस्कृत में लिखा है उस में यह स्पष्ट वर्णन है कि बुद्ध देव वर्तमान शरीर धारण करने के पूर्व एक समय दशरथात्मज राम के रूप में भी रह चुके थे और कि राम ने

दश वर्ष सहस्राणि पष्ठे वर्ष शतानिच ।

कम्बु ग्रीवो महाबाहु रामो राज्यमकारयत् ॥

जिन की गर्दन शङ्ख की तरह सुन्दर थी और जिन की भुजाएं विशेष लम्बी थीं सोलह सहस्र वर्षों तक राज्य किया था ।

एवं बौद्ध स्वयम कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र जी बुद्ध देव से बहुत पहले हो चुके हैं । पुनः यह कैसे सम्भव हो सक्ता है कि श्री रामचन्द्र जी चित्र कूट पर्वत पर सभा के सम्मुख व्याख्यात होते हुए अपने से बहुत पछे भविष्यत् में होने वाले बौद्ध मतानुयायियों का वर्णन वर्तमान की भांति करते हों ।

जो कोई हठ वश “ यथादिचोरः स तथा हि बुद्धः ” में आए हुए “ बुद्धः ” का अर्थ बौद्ध-मतानुयायी ही करेगा उसे इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि यह श्लोक बौद्धों के किसी विरोधी ने उस समय वाल्मीकि रामायण में प्रक्षिप्त किया जब कि यह बम्बई में छपता था क्योंकि बम्बई छापे से पूर्व का जा गौड़ में छपवाया हुआ वाल्मीकि रामायण है अथवा इटली में गौरीशिव का छपवाया हुआ जा वाल्मीकि रामायण है उन में कहीं भी उक्त श्लोक का पता नहीं चलता ।

और वहीं से राजकार्यों को सम्पादन करता रहूंगा, यदि चौदह वर्ष समाप्त होते ही आप अयोध्या न पहुंचे तो मैं अग्नि में प्रवेश कर भस्म हो जाऊंगा.....”

श्रीराम भरत के वचन सुन आंभुं भरे नेत्रों से भरत और शत्रुघ्न को छाती से लगा लिया और सब से यथायोग्य मिल श्रीराम लक्ष्मण ने सब को विदा किया और भरत सेना सहित अयोध्या में पहुंच नन्दी ग्राम में निवास करने और वहीं से राज कार्य सम्पादन करने लगे ।

उधर भरत श्रीराम से विदा हुए और इधर ऋषियों का मण्डल श्रीराम के पास पहुंचा और कहने लगा कि हे राम ! राक्षसों ने हम लोगों के प्राण नाकों में कर रक्खे हैं, हम यज्ञ करने नहीं पाते, हमारे में से कई लोगों को इनराक्षसों ने खालिया, अब हम इस स्थान से भागते हैं, तुम भी अपनी कुटि कहीं अन्यत्र बनावो । श्रीराम ने यह दुःखमय समाचार सुन ऋषियों को कुछ शान्तवना दी परन्तु मन में प्रतिज्ञा करली कि इस भूमि को राक्षसों के भार से हल्का किए बिना हम शान्ति धारण न करेंगे ऋषियों के जान पर भी बहुत दिनों तक श्रीराम वहां निवास करते रहे परन्तु धीरे २ वह स्थान ऋषियों से प्रायः शून्य एवं अप्रिय बन गया तब किसी दूसरे स्थान की खोज में श्रीराम लक्ष्मण तथा जानकी सहित अपनी कुटि से चलपड़ और घूमते घूमते महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुंचे महर्षि अत्रि ने बड़े प्रेम से उन का आतिथ्य सत्कार किया, और उस वन की बहुतसी बातें सुनाई महर्षि की परम ज्ञानिनी धर्म पत्नी अनुसूयाने सीता को पातिव्रत-धर्म सम्बन्धी उपदेश दिया । वहां से श्रीराम विदा हो दण्डकारण्य के एक सुन्दर भाग में पहुंचे जहां अनेक ऋषियों से सम्मेलन हुआ । वहां से विदा हो जब ये लोग आगे चले तो एक निविड वन में विराध नाम राक्षस ने इन लोगों पर आक्रमण किया परन्तु विराध दांनों भाइयों के हाथ मारा गया । पुनः तीनों जन आगे बढ़े और मार्ग में विश्राम करते हुए महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पहुंचे जिन्होंने उन का भली भांति स्वागत किया और उन्हें अनेक अन्न शस्त्र दिए । वहां से श्रीरामादि त्रिदा हो जटायु से मिलते हुए पञ्चवटी पहुंचे और वहां निवास करने लगे । एक दिन शूर्पणखा नाम राक्षसी वहां आन पहुंची, और श्रीराम को देख मोहित होगई और पूछने लगी कि तुम कौन हो ? श्रीराम ने अपने पिता आदि का नाम बतला पूछा तू कौन है, तू तो मुझ राक्षसों जैसी मालूम होती है । शूर्पणखा ने अपना पता दिया और कहा तुम मेरे पति

वननावो में तुम्हारी कुरूना सीता और लक्ष्मण को खालूंगी और तुम्हारे साथ पर्वतों के श्रृंगों और वनों में विहार करूंगी ।

श्रीराम ने उस की प्रार्थना अस्वीकार की और जब उसने लक्ष्मण से प्रार्थना की तो उन्होंने भी उस की बात न मानी तब वह क्रुद्ध हो सीता को मारने चली । तब श्रीराम ने आत्मरक्षा के नियमानुसार लक्ष्मण से कहा इस राक्षसी को दण्ड दिए बिना मत छोड़ो । आज्ञा पाते ही लक्ष्मण ने उस की नाक और कान अपने खड्ग से काट लिया । तब शूर्पणखा रोती हुई अपने भाई खर के पास पहुँची । खर ने पहले अपने १४ योद्धाओं को श्रीराम को मारने के लिए भेजा परन्तु राम ने उन्हें मार डाला तब खर, दूषण, त्रिशिरा तथा कई सहस्र राक्षस योद्धाओं को ले श्रीराम पर चढ़ आया ।

पञ्चवटी का युद्ध—श्रीराम ने लक्ष्मण तथा सीता को एक पर्वत की कन्दरा में भेज अपना कवच धारण कर तथा अस्त्र शस्त्र सम्भाल राक्षसों से युद्ध-रम्भ कर दिया । राक्षसों का ओर से जब अधिक बाण आने लगे तो श्रीरामचन्द्र जी ने अपने गन्धर्व को छोड़ा जिस से सहस्रों बाण चतुर्दिक् फैल राक्षसों का नाश करने लगे थोड़ा ही देर में श्रीराम ने दूषण, महाकपाल, स्यूलाक्ष, त्रिशिरादि वीरों को मार गिराया तब खर विशप क्रुद्ध हो युद्ध करने लगा और उस के बाणों ने श्रीराम के कवच को तोड़ उन के शरीर से रक्त बहा दिया परन्तु श्रीराम वीरता के साथ पूर्ववत् युद्ध करते ही रहे और थोड़ा ही देर में ब्रह्मरण्डास्त्र जैसे अपने एक अस्त्र से अग्निमय बाण खर का ओर छोड़ा और “ स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शरार्पितः ” (अरण्य ३० । २७) खर शरार्पित से जलता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा । खरादि के विध्वंस होते ही लक्ष्मण सीता के साथ श्रीराम के निकट पहुँच गए ।

बाल्मीकि रामायण में उक्त युद्ध का वृत्तान्त बड़े विस्तार के साथ लिखा हुआ है । हम ने अति संक्षेप से उस का आशयमात्र ऊपर लिखा है । जो लोग प्रार्चन आर्या का अस्त्र शस्त्र विद्या से कुछ अभिज्ञ हैं वह तो इस बात पर आश्चर्य नहीं करते कि युद्ध विद्याविशारद श्रीराम जी ने अकेले कई सहस्र राक्षसों से कैसे युद्ध किया । परन्तु अन्यान्य लोग और विशेष कर वे लोग जो पश्चिमी सभ्यता के शिष्य हैं उक्त युद्ध को असंभव बतलाते हैं परन्तु पश्चिमी सभ्यता के प्रेमी ऐतिहासिक प्रसकाट आटुम्बा युद्ध का जैसा कि वर्णन करते हैं उसे पढ़कर तो कोई बुद्धिमान पञ्चवटी के युद्ध को असंभव नहीं मान सकता ।

प्रेसकाट ने अमेरिका के मेक्सिको विजय Mexican conquest का जो वृत्तान्त लिखा है उस में आटुम्बा युद्ध का वर्णन करते हुए यूरोप के स्पेन वालों के सैनिकों की संख्या केवल २०० दो सौ लिखी है और यह भी अङ्कित किया है कि इन दो सौ सैनिकों के पास तोप वा बन्दूकें न थीं, ये केवल तलवारों और बरछों को धारण करते थे, और मेक्सिकोवासी रेडइण्डियनों के सैनिकों का अनुमान एक लक्ष से दो लक्ष तक लगाया है और इतनी बड़ी सेना पर भी स्पेन वालों को विजयी बनलाया है । प्रेसकाट लिखते हैं:—

It is almost as difficult to form an accurate calculation of the numbers of a disorderly savage multitude as of the pebbles on the beach or the scattered leaves in autumn. Yet it was undoubtedly one of the men cradle victories achieved in the new world. And this not only on account of the disparity in the forces but of their unequal condition. For the Indians were in all their strength while the christians were wasted by disease famine and long protracted suffering, without canon or fire arms which had so often struck terror, deficient even in the terror of a victorious name. But they had discipline, desperate resolve and implicit confidence in their commander."

“ अनियमाबद्ध जंगली समूह का ठीक २ संख्यानिरूपण प्रायः वसों ही कठिन है जैसा कि समुद्र के किनारे के छंटे २ पत्थर की कंकड़ियों वा पतझड़ के दिनों में बिखरे हुए पत्तों का गिनना । तथापि नई दुनिया (अमेरिका) में जितने स्मरण रखने योग्य विजय हुए हैं उन में से निस्सन्देह यह भी एक था, और यह केवल (उभय) सेनाओं की संख्याओं के अन्तर के कारण नहीं प्रत्युत इस कारण भी कि उन (दोनों सेनाओं) की दशाओं में भी अन्तर था । (मेक्सिको के प्राचीन निवासी) इण्डियन्स अपने पूरे बल के साथ थे और क्रिश्चियन (स्पेन वाले) रोग, काल और दीर्घ समय के निरन्तर दुःखों से दुर्बल हो गये थे, इन के पास तोप वा बन्दूकें भी न थीं जो कि पहिले कई बार (मेक्सिको वासियों के हृदय में) भय उत्पन्न कर चुकी थीं और इन में यह भी न्यूनता थी कि ये अपने विजयी नाम का आतङ्क अभी तक जमा नहीं सके थे । तथापि इन में नियम का अनुवर्तन, कठिन प्रतिज्ञा और अपने सेनापति के लिये दृढ विश्वास था ” ।

तोप बन्दूक के बिना केवल तलवार और बरछों के बल से जब कि कृशित शरीर वाले २०० स्पेनी, लाख दो लाख बलवान् मेक्सिको निवासियों की सेना पर विजयी हो सकते हैं तो शिवधनुष जिसे उस समय का कोई भी अन्य बलवान् अकेला उठा भी नहीं सका था, उस के तोड़ने वाले श्रीराम जो वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्र, गन्धर्वास्त्र, ब्रह्मदण्डास्त्रादि अनेक अग्निबल से चलाए जाने वाले अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग जानते थे, जिन्हें महर्षि अगस्त ने भी पञ्चवटी में आने के पूर्व अपने अनेक अस्त्र शस्त्र दिए थे यदि कई सहस्र राक्षसों पर (जो श्रीराम से कम बलवान् तथा उन से अस्त्र शस्त्र विद्या में बहुत न्यून थे) विजयी हों तो आश्चर्य ही क्या है ।

रावण का कोप और सीता हरण—पञ्चवटी युद्ध से भागे हुए अकम्पन राक्षस ने खरादि के वध की सूचना रावण को दी, रावण क्रुद्ध हो अकम्पन के साथ मारीच के पास आया परन्तु पुनः लङ्का को लौट गया । लङ्का में शूर्पणखा के पहुंचने पर रावण का क्रोध पुनः जागा और वह मारीच को ले पञ्चवटी में पहुंचा । मारीच मृग का वेष अपने ऊपर डाल सीता के सन्मुख विचरने लगा । सीता ने कहा इस मृग को पकड़ना चाहिए, लक्ष्मण ने कहा ऐसा सुन्दर तो मृग होता नहीं यह बनावटी मृग है, मैं सुन चुका हूं कि मारीच मृग का स्वाग बनाया करता है । तब श्रीराम ने कहा यह मारीच है तो “ अहमेनं वधिष्यामि प्रहीष्याम्यथवा मृगम् ” मैं इसे मार डालूंगा और यदि सचमुच मृग है तो इसे पकड़ लूंगा, तुम सीता की रक्षा करो हम इस मृग की ओर जाते हैं । श्रीराम को अपनी ओर आंत देख मृग भागा और दूर तक भागा तब राम ने उसे पहचान लिया और उसे ऐसा बाण मारा कि वह पृथिवी पर गिर पड़ा और मारीच “ म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ” (अरण्य ४४ । १७) मृतप्रायः होते समय (मृग के) शरीर को (अपने ऊपर से) फेंक दिया और हा सीते ! हा लक्ष्मण ! कहता हुआ मर गया हा सीते ! हा लक्ष्मण ! का शब्द सुन, सीता ने श्रीराम रक्षा के विचार से लक्ष्मण को उस ओर भेजा दिया ।

लक्ष्मण थोड़ी ही दूर गए होंगे जब कि एक दण्डकमण्डलुधारी साधु सीता के निकट पहुंचा, सीता ने उसे अतिथि समझ बड़ी श्रद्धा से उस के सत्कार के लिये उस के सन्मुख जलादि ला रक्खा । साधु सीता से बातें करते हुए कहने लगा कि मैं लङ्का का राजा रावण हूं और तुझ पर मोहित हूं, मेरे साथ चल, आनन्दपूर्वक

लङ्का का शासन कर रावण के मुख से ऐसे वचन निकलते ही महाराणी सीता क्रुद्ध हो उसे दुर्वचन सुनाने लगीं जब कि रावण उन्हें बलात् पकड़ अपने आकाशयान पर चढ़ा लङ्का का ल चला ।

सीता रोती पीटती हा राम ! हा लक्ष्मण ! पुकारने लगीं परन्तु श्रीराम लक्ष्मण दूर थे सीता के हृदयविदारक रुदन को वह सुन नहीं सक्ते थे । परन्तु श्रीराम के प्रेमी जटायु ने वंदेही के रुदन को सुन लिया और वह रावण से युद्ध करने लगा परन्तु रावण ने उसे शंभ्र ही घायल कर दिया और सीता को रथ पर चढ़ा पुनः ले चला । सीता अब सहायता की आशा न देख विह्वल हो रुदन करने लगीं और मार्ग में पर्वतश्रृंग पर कई व्यक्तियों को देख अपने कई आभूषण और कुछ वस्त्र नर्चे गिरा दिए । रावण ने सीता को ले जाकर लङ्का की अशोकवाटिका में रख दिया जहां श्रीराम के ध्यान में वह अपना दुःखमय दिन काटने लगीं ।

रावण एक शीश और दो ही भुजाओं वाला था— महाराणी सीता के सन्मुख जिस समय रावण आया था मनुष्य मालूम होता था । “दश शीश” का अर्थ है जिस क श श में दश साधारण शीशों के बराबर शक्ति है । महर्षि बाल्मीकि ने इन्हीं अभिप्राय से दशग्रीवादि शब्दों का प्रयोग किया था परन्तु पौराणिक समय में जब लोग वास्तविक रूपक न समझ सके तो दश गर्दनादि की कल्पनाएं करलीं । क्या श्रीरामचन्द्र जी के पिता, “दशरथ,” इस कारण कहलाते थे कि उन के पास केवल दश रथ थे ? अथवा इस कारण कि वह एक समय ही दश रथों पर चढ़ा करते थे ?

रावण एक शीश और दो ही मुजाएं वाला था इस के लिए निम्नलिखित प्रमाण बाल्मीकि रामायण में ही मिलते हैं । हनुमान् जी ने लङ्का में जाकर और छिप कर सोए हुए रावण को निम्नलिखित प्रकार का देखा था:—

ददर्श स कपिस्तस्य बाहूशयनसंस्थितौ । मन्दरग्यान्तरे सुमौ महार्हा रुषिता-
विव ॥ तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात् । शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव
तद्गृहम् (सुन्दर० १० । २१, २४) उस कपि (हनुमान्) ने उस राक्षस-
राज (रावण) के सोते समय के स्थिर दोनों बाहुओं (“बाहु” द्विवचन है)
को ऐसा देखा मानों दो बड़े २ क्रुद्ध सर्प पर्वत के भीतर सांये हुए हों । उस सोये

हुए राक्षसराज के महामुख ("महामुखात्" एक वचन है) से निकला हुआ श्वास उस घर को भर रहा था ।

(उक्त श्लोक २१ पर जो "तिलका" नाम सुप्रसिद्ध टीका है उसमें लिखा है "अत्र द्विभुजत्वकथनाद्युद्धादि काल एव विंशतिभुजत्वं दशशीर्षत्वं चातनाशयम्" अर्थात् यहाँ (क्योंकि) दो भुजाएँ कहीं गईं (अतः) युद्धादि कालों में ही बीस भुज तथा दश शीर्ष समझना चाहिए ।

टीकाकारने यहाँ विस्पष्ट दो भुजाएँ और एक शीर्ष लिखा हुआ देख और अन्यत्र बीस भुजाएँ और दश शीर्ष लिखा हुआ देख दोनों परस्पर विरुद्ध लेखों को अतिरुद्ध सिद्ध करने का वृथा यत्न किया है क्योंकि युद्ध काल में भी रावण को एक शिर वाला कहीं २ लिखा है यथा:—

अद्य ते मच्छरैश्चन्दनं शिरो ज्वलितकुण्डलम् । क्रव्यादाव्यकर्षन्तु विकीर्णं
रणपांसुषु (युद्ध १०३ । २०)

(युद्ध करते हुए) श्री रामचन्द्र जी रावण से कहते हैं "अभी तेरा शिर (शिरः एक वचन है) ज्वलित कुण्डल सहित मेरे बाणों से कटा हुआ रणभूमि में विक्षिप्त, शवभाक्षियों से खा जायगा । जब कि रामायण में ही विस्पष्ट लिखा है कि रावण का एक शीर्ष और दो भुजाएँ थीं और यह बात निश्चयान् परमात्मा के अपरिवर्तनीय सृष्टि नियम के अचूक भी हैं तो क्यों न माना जाय कि रावण के वास्तव में एक शीर्ष और दो ही भुजाएँ थीं । रावण पुलस्त्य ऋषि के वंश में था, पुलस्त्य ऋषि मनुष्याकृत के थे पुनः रावण की आकृति भी मनुष्य की तरह क्यों न मानी जाय । क्या निश्चयान् और सर्व शक्तिमान् परमात्मा के अपरिवर्तनीय सृष्टि नियम को बदलने की शक्ति किसी में कभी हो सकती है ? कदापि नहीं रावण तथा उस के वर्ण बन्धव सहचर और अनुचरवर्ग जब कि मनुष्यों की भाँति परस्पर में तथा हनुमानादि स बातें कर सकते थे तो उन्हें मनुष्याकृति का ही क्यों न माना जाय ! यह बात कि राक्षस भाँति भाँति के रूप इच्छानुसार धारण कर लेते थे यदि बहुरूपियों जैसा माना जावे तो कुछ विश्वास में आ भी सकता है परन्तु अन्य प्रकार (सृष्टि नियम विरुद्ध होने से) कभी भी ठीक सिद्ध नहीं हो सकता । "यक्ष रक्षः पिशाचान्नं मद्य मांसं सुरासवम्" (मनु) के अनुसार विशेष मद्य मांसादि के सेवन एवं तामसी वृत्ति बाल हाने के कारण, रावणादि राक्षस कहलाते थे और सतो-

गुणी वेदानुयायी ऋषियों को सताया करते थे । दम्यु और म्लेच्छों के विषय में हम मनुस्मृति के प्रकरण में लिख चुके हैं ।

रावण के दोहाँ नेत्र, एक ही शंश और दोही भुजाएं थीं इन के लिए निम्न-लिखित प्रमाण भी वाल्मीकि रामायण में विद्यमान हैं । मंत्रनद के मार जानें पर विलाप करने के पश्चात् रावण जब अतिक्रुद्ध हुआ तो “तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुविन्दवः । दीपाभ्यामिव दीप्ताभ्यां सार्धैः स्नेहविन्दवः” (युद्ध ९२।२२) उस क्रुद्ध (रावण) के दोनों नेत्रों से आंशु की बूँदें ऐसी गिरने लगीं मानों दो जलते हुए दीपों से ज्वाला सहित तेल के विन्दु गिरने हों पुनः जब रावण मारा गया तो उस की स्त्रियां रण भूमि में आ विलाप करने लगीं । “उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद् भूमौ सुपारवर्तत । हतस्य दनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागतम् ॥ काचिदङ्के शिरः कृत्वा सरोद मुखमीक्षती स्नापयन्ती मुखं वाप्यैस्तुषारैरिव पङ्कतम् ” (युद्ध ११० । ९. १०) कोई तो उस का दोनों भुजाओं (“भुजौ” द्विवचन) को उठाकर पुनः पृथिवी पर उन्हें (स्नेह सहित) फेरने लगीं कोई मरे हुए [रावण के] मुख को देखकर मूर्च्छित होने लगीं कोई उस के शिर (“शिरः” एक वचन) को गोद में रख के उस के मुख को देखता हुई रागे लगीं और (अपने आंसुओं से) उस मुख को आर्द्र करने लगीं जैसे कि तुषार के वाष्प से कमल आर्द्र होजाता है) ।

श्रीराम का विलाप और सीता की खोज—सीताहरण के पश्चात् जब श्री राम और लक्ष्मण कुटी में आए और सीता को न देखा तो इधर उधर उन्हें खोजने के लिए दौड़ने लगे जब सीता न मिली तो दोनों भाई फिर कुटी में आ गए और श्री राम, ! हा सीता ! हा सीता कह रुदन करने लगे, पागल की भाँति हो वृक्षों की ओर देख २ पृच्छने लगे, वृक्ष ! तुम ने क्या मेरी सीता का देखा ? यदि देखा तो बतला मेरी प्राणप्यारी कहां है ? लक्ष्मण ने उन्हें डाढ़स द सावधान किया और तब दोनों भाई उस कुटी को छोड़ अस्त्र शस्त्र ले सीता की खोज के लिए पुनः चल पड़े । जाते २ क्या देखते हैं कि एक रक्त से लथ पथ घायल व्यक्ति पड़ा हुआ है । दोनों भाई समीप पहुँचे तो ज्ञात हुआ कि यह तो जटायु है और दोनों भाई जटायु के शरीर को अपने हाथों से प्यार देने लगे । सुध बुध सम्भल घायल जटायु सीता हरण का वृत्तान्त सुना पुनः ऊर्ध्व श्वास लेने लगा और प्राण छोड़ दिया । शोका-

कुल दोनों भाइयों ने उस की अन्त्येष्टि क्रिया की और आगे बढ़े । मार्ग में आक्रमण करने वाले कबन्ध को मारते हुए तथा सुग्रीव का पता पाते हुए और मार्ग में विश्राम लेंते हुए पम्पासर की पश्चिम ओर शबरी नाम तपस्विनी के आश्रम में पहुँचे ।

तौ दृष्ट्वा तु तदासिद्धा समुत्थाय कृनाञ्जलिः ।

पादौ जग्राह रमस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ अरण्य ७४।६ ॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ॥ अरण्य ७४।७ ॥

दोनों (भाइयों) को देख वह सिद्धा * (शबरी) उठी और हाथ जोड़ धीमान् राम लक्ष्मण के चरण छू ऽणाम क्रिया, पैर धोने और आचमन करने के लिए जल तथा (बैठने के लिए आसन और भोजनादि आतिथ्य सत्कार की) सब सामग्रियों को यथाविधि प्रस्तुत किया.....”, शबरी ने अपना भाग्य धन्य मनाया और श्री राम की बह्विधि स्तुति कर उन का भली भाँति आतिथ्यसत्कार किया । श्री राम शबरी के प्रेमभक्ति से बड़े ही प्रसन्न हुए और उस से विदा माँग पम्पासर की ओर चले और कुछ काल वहाँ विश्राम कर पुनः ऋष्यमूक पर्वत पर चढ़ने लगे । सुग्रीव ने दोनों बरों को तापस वेष में देख शङ्का क्रिया और अपने मन्त्री हनूमान् को इन की परीक्षा के लिये भेजा । हनूमान् दोनों भाइयों के निकट पहुँच संस्कृत भाषा में अपना तथा सुग्रीव का वृत्तान्त सुना श्रीराम के वृत्तान्त पूछने लगे । श्रीरामचन्द्र जी इन के वचनों से प्रसन्न हो लक्ष्मण से बोले:—

ऋग्वेद में जो व्युत्पन्न नहीं है^१ यजुर्वेद को जो धारण नहीं करता और जो सामवेद का ज्ञाता नहीं है वह इस प्रकार भाषण नहीं कर सक्ता, निस्सन्देह इन्होंने सम्पूर्ण व्याकरण बारम्बार (अपने गुरु से पढ़ा है) सुना है, (अपने भाषण में) बहुत से शब्दों को प्रयुक्त कर भी कोई अशुद्धि इन्होंने न की । इन के मुख, नेत्रों,

* शबरी एक नीच कुलोत्पन्न स्त्री या पशु महर्षियों के उपदेश से योग साधन में तत्पर हो महायोगिनी वा सिद्धा हो गई थी जिस से पता लगता है कि श्री रामचन्द्र जी के समय नीच से नीच कुलोत्पन्न पुरुष स्त्रियों के लिए भी उन्नति का मार्ग खुला हुआ था । आज कल की भाँति नीच कुलोत्पत्तों पर सामाजिक अत्याचार नहीं होता था ।

† नानृग्वेदत्रिनीतस्य नानृग्वेदधारिणः । नासामवेदविदुषः शश्व मेवं विभाषिगुम् ॥ नूनं तथाकरणं कृत्स्नमेनेन बहुधा श्रुतम् । बहुव्याहरतानेन न कश्चिदपिशदितम् ॥ न मुखे नैवयोद्यापि ललाटे च श्लोऽस्तथा । अन्वेष्यपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित् ॥ एवं विधो-यस्य ह्यतो न भवेत् पार्थिवस्य तु । सिद्धयन्ति हि कथं तस्य काट्योणां गतयोऽनघ ॥ क्विन्न-न्धा ३।२८, २९, ३०, ३४ ।

ल्लाट वा भंडुओं तथा अन्यान्य सब अंगों में भी कोई दोष (कपट) देख न पड़ा इस प्रकार का दूत जिस राजा का न हो, हे लक्ष्मण ! उस के कार्य किस प्रकार सिद्ध हो सके हैं ?

श्रीराम के कथनों के अनन्तर लक्ष्मण ने हनुमान् से कहा हम लोग सुग्रीव के मिलने के लिए ही इस पर्वत पर चढ़ रहे हैं । तब हनुमान् दोनों भाइयों को सुग्रीव के पास लाए सुग्रीव और श्रीराम के बीच मैत्री स्थापित हुई तब दोनों मित्रों ने एक दूसरे से अपना २ दुःख सुनाया । आकाशयान से सीता के गिराए हुए वस्त्राभूषण सुग्रीव से पा श्री राम ने उन्हें छाती से लगा रुदन किया पुनः शान्त हो भावी कार्यों का विचार करने लगे ।

हनुमान् और उन के सहचर मनुष्य थे, पूंछवाले वानर नहीं—कॉन सत् असत् का विवेकी पुरुष ऐसा है जो विद्यात्रनस्नातक श्रीरामचन्द्र जी की इस सम्मति को पढ़ कर कि हनुमान् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा आखिल व्याकरणशास्त्र के ज्ञाता थे यह कह सके कि हनुमान् वानर थे ? क्या परमात्मा की सृष्टि में कहीं भी ऐसा नियम दिखाई देता है जिस से अनुमान किया जाय कि वानर भी वेदों का ज्ञान धारण कर सकता है ? अतः निश्चय है कि वैदिक ज्ञानों के धारण करने वाले हनुमान् तथा सुग्रीवादि पूंछ वाले वानर नहीं थे । अभी थोड़े दिनोंकी बात है कि जब रूस और जापानियों का युद्धारम्भ हुआ था तो जापानियों की क्रूर फांद देख रूसियों ने उन का नाम "Yellow Monkeys" "पीले बन्दर" रख दिया था (जापानियों का रंग कुछ पीला होता है) । यह शब्द जापानियों के लिए वर्षों तक रूस में व्यवहृत होता रहा । Russian bear रूसी भालू ऐसे शब्द हैं जिन्हें आज भी सब यूरोप वाले तथा अन्यान्य कई देशों के लोग व्यवहृत करते हैं । British Lion ब्रिटिशसिंह वा John Bull जान वैल ऐसे शब्द हैं जो बराबर अंगरेजों के लिए व्यवहृत होते हैं । नागवंशी क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं जिन के वंश में ही छोटा नागपुरादि के कई महाराज हैं जो अपने को साभिमान "नाग" कहते हैं क्या वे नाग अर्थात् सर्प हैं ? नहीं नाग की तरह क्षात्र क्रोध धारण करने के कारण उन का वंश नाग कहलाता है । एवं विशेष स्फूर्त होने के कारण सुग्रीव,दि के सहचर तथा अनुचरादि वानर कहलाते थे महर्षि बाल्मीक के वास्तविक भावों को नसमझ भारत में जब कि अद्भुत गाथा वर्णनकी शैली पुराणों के समय से प्रचरित हुई

तब हनुमान् सुग्रीवादि के नामों के साथ अद्भुत गाथाएं बड़ाई गईं । क्या कभी ऐसा हो सक्ता है कि वानर जाति की राजधानी किष्किन्धा का वर्णन मनुष्यों की एक समृद्ध शालिनी राजधानी जैसा रामायण में विद्यमान हो और फिर उस के निवासी और राज-कार्य संचालक पृच्छों वाले वानर मान जाय ? काव्य की शैली है कि किसी के नाम को भी उस के पर्याय वाची शब्दों से पुकारते हैं इसी कारण वानर के स्थान में कप्यादि का भी रामायण में प्रयोग है । अन्यान्य काव्यों में भी विश्वामित्र के लिए सर्वमित्र तथा दशरथ के लिए पंक्तिरथ व्यवहृत हुए हैं ।

बाली वध और सुग्रीव का राज्याभिषेक—सुग्रीवादि वानरों से बाली के घोर पापों के वृत्तान्तों को श्रवण कर श्रीरामचन्द्र जी ने निश्चय किया कि अपने छोटे भाई सुग्रीव के जीते हुए उन की स्त्री रुमा को हरण कर उसे अपनी स्त्री बनाने वाला बाली राजव्यवस्थानुसार वधदण्ड योग्य है । बस इस निश्चय के अनन्तर ही बाली का मार डालने के विचार में श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण तथा सुग्रीवादि पांच वानरों साहेत किष्किन्धा की ओर चल और थोड़ी ही देर में उक्त नगर के द्वारपर पहुंचे । सुग्रीव ने बाली को युद्ध के लिए ललकारा बाली आया घोर युद्ध हुआ परंतु सुग्रीव भयभीत हो भागे और बाली, अपने राज महल में चला आया । पुनः सुग्रीव से मिल श्री राम ने पहचान के लिए सुग्रीव को एक माला धारण करवाया, सुग्रीवादि पूर्ववत् पुनः किष्किन्धा द्वार पर पहुंचे, सुग्रीव ने पुनः युद्ध के लिए बाली को ललकारा, बाली पुनः आ सुग्रीव से घोर युद्ध करने लगा जब कि वृक्ष की ओट से श्रीराम ने उसे एक बाण ऐसा मारा कि बाली पृथिवी पर गिर पड़ा उस ने श्री राम को छिप कर मारने के कारण अनेक धिक्कारें दीं परंतु श्री राम ने उसे समझाया कि राज्यव्यवस्थानुसार अनुजभार्याभिमर्श का तू दोषी था जिस दोष का दण्ड वध है तुझे जानना चाहिए था कि तू अपने उक्त अपराध के कारण एक न एक दिन माराजायगा परंतु मदान्ध होने के कारण इस परिणाम की ओर तेरा ध्यान न था । तू इक्ष्वाकुवंशन महाराजाओं की प्रना है अतः यदि मैं तुझे दण्ड न देता तो स्वयं पाप का भागी बनता, तू अपने पापों की ओर ध्यान दे ! श्री राम के वचन सुन बाली की आँखें खुल गईं उस ने अपने पापों के कारण घोर पश्चात्ताप किया, तब श्रीराम ने उस से कहा तू दण्ड पाकर पापमुक्त हो गया अब तू अपने पापों के लिये चिन्ता न कर । तब बाली ने कहा मैं आशा करता हूँ कि आप मेरे पुत्र अङ्गद पर

कृपा दृष्टि रखेंगे, श्री राम ने कहा सुग्रीव तथा हम दोनों तुम्हारे अङ्गद के साथ वैसा ही बर्ताव करेंगे जैसा कि तुम अङ्गद के साथ करते थे ।

यह सब बातें जब कि इधर हो रहीं थीं बाली के प्रायल होने का समाचार उसकी धर्मपत्नी तारा के कानों में पहुंचा और वह रोती विलापती सीधे अपने पति की ओर चली अङ्गद और उन के योद्धा गण भी साथ चले । बानरों ने कहा, इस समय शीघ्र ही अङ्गद को राजमिहासन पर बैठा नगर की रक्षा में सब योद्धाओं को उद्यत हो जाना चाहिए मरते हुए बाली के निकट जाने से कुछ लाभ न होगा । तारा बोली मुझे अङ्गद वा राज्य वा तुम से क्या काम जब कि मेरा पति परलोक यात्रा के लिए तय्यार है । यह कहती और रोती हुई तारा अपने पति के समीप पहुंची और उस की दुर्दशा देख शोकाकुल हो पृथिवी पर गिर पड़ी पुनः सुधबुध सम्भाल पुकारने लगी "स्वामिन् ! बालेन्त क्यो नही वीरेन्द्र ! अपनी रुदन करती हुई पत्नी के पुकारों को क्यो नही सुनते ! उत्तर क्यो नही देते ! अङ्गद भी पिता के समीप खड़ा हो फूट र कर रो रहा था । यह हृदय विदारक दृश्य सुग्रीव से देखा न गया और वह दौड़ कर बाली के समीप पहुंचे और रोने लगे । बाली अभी तक मरा नहीं था यह सब रुदन सुन किसी प्रकार बड़े साहस से सावधान हो कर कहने लगा "सुग्रीव! मैंने जितना तुम्हें सताया उस का बदला मुझे मिल गया, हम दोनों भाइयों के भाग्य में यही था कि जोत जी भ्रातृस्नेह का सुख नहीं भोगें अस्तु कर्म फल बड़ा प्रबल है उसे कौन टार सकता है ! मैं आशा रखता हूं कि तुम प्यारे अङ्गद को पुत्रवत् रखोगे, यह जब पूर्ण युवा हो जायगा तो तुम्हारे जैसा ही पराक्रमी हो तुम्हें पूरी सहायता देगा तुम्हें उचित है कि सुशन की पुत्री तारा की सम्मति विरुद्ध कोई कार्य न करो क्योंकि वह विदुषी और ठीक सम्मति देने वाली है राम के साथ जो प्रतिज्ञा तुमने की है उसे भली भांति निबाहने का यत्न करना । सुग्रीव इन वचनों को सुन शोकमय हो गए द्वेषभाव का चिन्ह भी उन के हृदय में न रहा और बोले ! भ्रातृव्र जैसी कुछ आप आज्ञा देते हैं तद्वत् ही कार्य होगा । तदनन्तर बाली ने अङ्गद को संतोष दिया और कहा कि सदा सुग्रीव की आज्ञा में रहना । इतना कह बाली का आत्मा शरीर छोड़ निकल गया । बानरराज की मृत्यु से बानर समूह शोकाकुल होगया तब श्रीरामचन्द्र जी ने सब के शोक दूर करने के लिए उदंश किया जिससे कुछ ढाढस बांध बानरों ने बाली की दाह क्रिया की और तदनन्तर सब के सब श्रीराम के निकट पहुंचे तब हनुमान ने श्रीराम से निवेदन किया कि आपकी कृपा से सुग्रीव

का सब कार्य सिद्ध हुआ अब आप नगर में पधार इन्हें राजा बनायें । श्रीराम ने उत्तर दिया चौदह वर्षों तक मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार नगर में नहीं जासक्ता आप लोग जायें सुग्रीव को राजा और अङ्गद को युवराज बनायें यह मास श्रावण का है वर्षा ऋतु है आप की सेनायें इधर उधर जा नहीं सकतीं तब तक मैं निकटवर्ती पर्वत पर समय बिताऊंगा जब चार मास बीत जाय तब आप लोग मेरे कार्य के लिए यत्न आरम्भ करें ।

यह सुन सुग्रीवादि नगर में पहुँचे और सुग्रीव के राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी । सुवर्ण जटिन श्वेत छत्र, सुवर्ण मूठ की चंवरी, हेमदण्ड वाल व्यजन यज्ञ की सब सामग्री, सब प्रकार के रत्न तथा उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण और भिन्न २ पात्रों में विविध प्रकार के जल इत्यादि राज्याभिषेक की सब सामग्री जब एकत्रित होगई ।

ततस्ते वानर श्रेष्ठमभिषेक्तुं यथा विधि ।

रत्नैर्वस्त्रैश्चभक्ष्यैश्च तोषयित्वाद्रिजर्षभान् ॥ कि० २६ । २९ ॥

ततः कुशपारिस्त्रीर्णिं समिद्धं जात वेदसम् ।

मन्त्रपूतेन हविषा हुत्वामन्त्र विदोऽजनाः ॥ कि० २६ । ३० ॥

तब सुग्रीव को यथाविधि अभिषिक्त करने के लिए वानरों ने ब्राह्मणों को रत्न वस्त्र तथा खाद्य वस्तुओं को दान दे सन्तुष्ट किया तदनन्तर कुशा विधिवत् विछाई गई, यज्ञकुण्ड में) आग्नि प्रज्वलित की गई और वेदज्ञ पुरुषों ने वेदमंत्रों से पवित्र कर हावेष की आहुति दी ।

तदनन्तर वेद मन्त्रों से ही सुग्रीव राज्यासन पर बिठाए गए तब सुवर्ण घटों में जो जल भरा हुआ था उसे वानरों के मुखियों ने सुग्रीव के शीश पर डाला तब शास्त्रविधि से गज, गवाक्ष, गवय, शरभ गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान् ने सुगान्धियों से सुग्रीव का अभिषेक किया और सुग्रीव नियमानुसार राजा बनाए गए तदनन्तर अङ्गद का अभिषेक युवराज पद के लिए हुआ इस समय यह देख सब नगर निवासी प्रफुल्लित हो गए और

हृष्टपुष्टजनाकीर्णा पताकाध्वजशोभिताम् ।

बभूवन्नगरीरम्या किष्किन्धागिरिगह्वरे ॥ कि० २६ । ४१ ॥

हृष्ट पुष्ट जनों से भरी हुई पताका और ध्वजाओं से सुशोभित किष्किन्धा

नगरी जो गिरि गह्वर में चतुर्दिक्से पर्वतों से घिरी हुई और नीची भूमि में बनी हुई थी मनोहर बन गई *

इधर तो सुग्रीव राज करने लगे और उधर प्रखण्ड पर्वत के तरोवन में श्रीराम लक्ष्मण सहित निवास करने लगे । जब वर्षा ऋतु समाप्ति पर आई तब भोग बलास में डूबे हुए सुग्रीव को हनुमान् समझाने लगे कि अब सावधान हो जाओ श्रीराम के कार्य सिद्धि के लिए यत्न करो तदनुसार सुग्रीव सन्नद्ध हो नील से कहने लगे कि हमारी सेनाएं जहां २ हैं जो राज सीमाओं पर हैं तथा जो अन्यत्र हैं उन सब को पन्द्रह दिनों के भीतर राजधानी में पहुंचने की आज्ञा दो और दूतों से विषय कह दो कि जो पन्द्रह दिन के भीतर यहां नहीं पहुंच जायगा उसे बध दण्ड मिलेगा ।

उधर चार मांसों के समाप्त होने पर सुग्रीव को अने निकट आया न देख श्रीराम सेना के लिए पुनः विशेष चिन्तित हुए और लक्ष्मण भाई की आज्ञा से किष्किन्धा में पहुंचे । लक्ष्मण को क्रुद्ध देख वानर डरे । सुग्रीव इस समय कोई मादकद्रव्य पी मस्त थे अतः उन्होंने ने तारा को लक्ष्मण से बातें करने के लिए भेजा । सुग्रीव के परामर्शानुसार तारा लक्ष्मण की ओर चली जिस के निकट पहुंचते ही लक्ष्मण ने शीश नीचा कर लिया और उन का क्रोध भी जाता रहा * तारा कहने लगी राजकुमार तुम क्रुद्ध क्यों हो, किस ने तुम्हारी आज्ञा उलंघन करने का साहस किया है ? सुग्रीव ने तो अपने दूतों को चारां ओर भेज दिया है और अपनी सेनाओं को एकत्रित होने की आज्ञा दे दी है, सेनाओं के एकत्रित होते ही वह श्रीराम की सेवा में पहुंचने वाले हैं । तारा और लक्ष्मण बातें कर ही रहे थे जब कि सुग्रीव सावधान हो पहुंचे और लक्ष्मण से कहने लगे लक्ष्मण ! हम श्रीराम के उपकारों को नहीं भूल

* कैते कोई कह सकता है कि जिस सुग्रीव के राज्यभिक्षे के समय यज्ञादि अभिषेक सम्बन्धी सब कर्म प्रायः अग्निराजाओं के अभिषेक कैते हुए, वह सुग्रीव मनुष्य नहीं प्रत्युत पूंछों वाला बन्दर था ? और भ्रजा पताकादि से सुशोभित किष्किन्धा पुरी के रहने वाले पूंछों वाले बन्दर थे ?

† अथाह् मुखोऽभ्रन्मनुजैर्द्र पुत्रः स्त्री संनिकर्षा द्विनिवृत्तकोपः ॥ कि० ३३ । ३९
इस से सिद्ध होता है कि रामायण के समय के चार्य्य वीरगण स्त्री का इतना सम्मान करते थे कि उस के मुख की ओर देखना अनुचित समझते और क्रुद्ध होने की दशा में भी स्त्री के निकट आ जाने पर शान्त हो जाते थे ।

सक्त, यदि हम न कुछ असावधानों का हताशमा करा, एवं अनेक बात कह सु-
ग्रीव ने लक्ष्मण को प्रसन्न कर लिया और अपने यूथपों तथा मन्त्रियों को साथ ले
लक्ष्मण सहित श्रीराम की सेवा में पहुंचे और श्रीराम को प्रणाम किया : श्रीराम ने
सुग्रीव को अपनी छाती से लगा लिया और राजनीति विषयक अनेक बातें उन्हें
समझाया ।

सीता की खोज के लिये बानरों की यात्रा—नियत समय पर
ही सुग्रीव की सारी सेना एकात्रित होगई जिसे विभक्त कर सीता की खोज के लिए
सुग्रीव चारों ओर भेजने लगे । जो सेना दक्षिण दिशा को जाने लगी उस के साथ
नील, अङ्गद, हनुमान् और जाम्बवान् चले । सुग्रीव ने हनुमान को विशेष रीति से सम-
झाया और श्रीराम ने इन्हें अपने हाथ की मुद्रिका जिस पर राम नाम खुदा हुआ
था दिया और कहा कि हमें पूर्ण आशा है कि आप लोगों के परिश्रम से हमारा
कार्य सिद्ध होगा ।

सब सेनाएं अपने २ सेनापतियों सहित नियत दिशाओं को चल पड़ीं और
सीता को खोजने लगीं ।

दक्षिण दिशा की ओर जाने वाली सेना अनेक पर्वत, श्रृंगों, गिरी, गुहाओं
निबिड़ बनों, नदियों के किनारों, प्राकृतिक सरोवरों के तीर तथा अनेक अग्यान्य
स्थानों में खोजती हुई एक बार भूखी प्यासी और चिन्ता से पीड़ित अपने मार्ग पर
जारहा था जब कि एक गह्वर (गुफा) में से बहुत से जल पक्षी उड़ते हुए दीख
पड़े बानर सेना ने समझा कि यह किसी जलाशय से ही आते होंगे अतः अपनी
प्यास बुझाने की इच्छा से यह सेना उसी गुफा में घुसने लगी थोड़ी देर तक अन्ध-
कारावृत्त मार्ग से चलती हुई यह सेना एकाएक अति सुन्दर प्रकाशमय उद्यान में
जा पहुंची जहां के फल फूलों से लदे हुए वृक्षों की शोभा, निर्मल जलाशयों तथा
छोटे २ सोतों से बहते हुए अति स्वच्छ जल तथा जलाशयों के किनारों पर के
अति रम्य बने हुए बैठने के स्थान तथा सोने और मणि जालों से खचित अत्युच्च
भवन, तथा चांदी सोने आदि के बने हुए कृत्रिम वृक्ष और फूल फलादि की महती
शोभा देख बानर सेना चकित होगई और वहां मृगचर्मधारिणी एक तपस्विनी को
बैठी देख बानरों ने प्रणाम किया और हनुमान् ने पूछा कि हे महाभाग हम लोग
इन प्राकृतिक तथा कृत्रिम स्वर्णमय बनों और इन मनोहर भवनों और जलाशयों तथा

उन के जन्तुओं को देख आश्चर्यमय हो रहे हैं, कृपया बतलाएं कि ये सब किनके निर्मित किए हुए हैं और आप कौन हैं । उस तपस्विनीने कहा कि बहुत दिन हुए परम प्रवीण शिल्पी मय नाम दानव ने इन सब की रचना की थी मेरा नाम स्वयंप्रभा है । आप लोग भी बतलावो कि कौन हो और कैसे इस निर्जन स्थान में आए, परन्तु यह सब कहने के पूर्व यहां के फलों और जल से अपनी भूख प्यास बुझाओ । बानर तो भूखे प्यासे थे ही आज्ञा पाते ही सब फल खा जल पी तृप्त होगए और पुनः उस तपस्विनी के निकट पहुंचे । हनुमान् ने सीताहरण और श्रीराम और सुग्रीव की मैत्री भी तथा सीता की खोज में बानर सेना के प्रस्थान की कथा संक्षिप्त रीति से कही और यह भी निवेदन किया कि हमलोगों के योग्य जा आप की सेवा हो सो बतलावें । तपस्विनी ने उत्तर दिया कि मैं अपने धर्म में परायण रहती हुई किसी प्रकार की कामना नहीं रखती । तब हनुमान् ने कहा कि हमलोग अपना मार्ग सर्वथा भूल गये हैं आप कृपया ऐसी मुक्ति बतलाएं कि हमलोग शीघ्र ही इस गह्वर से निकल सीता की खोज में प्रवृत्त हो जावें । तपस्विनी ने दया कर वैसा ही किया और बानरदल उस गह्वर से निकल आया *

यह बानर दल सीता को खोजता हुआ जब समुद्र के किनारे पहुंचा तो इसकी गति रुक गई । समुद्रपार लङ्का थी जहां जाना आवश्यक समझा गया । लङ्का कोई कैसे जाय इस विषय पर विचार होने लगा । भिक्षु २ कई बानर जब अपनी सम्मति दे चुके तब जाम्बवान् ने हनुमान् से कहा कि तुम इतने ज्ञानी और बलवान् होकर मौन क्यों धारण कर रहे हो तब हनुमान् ने कहा कि यदि आप लोगों की सम्मति हो तो मैं यह कठिन काम अपने हाथों में लेने को तयार हूं, मेरी मुजाओं में इतनी शक्ति है कि मैं समुद्रपार हो लङ्का को जा सकूं । यह सुन बानर बड़े प्रसन्न हुए और निश्चित किया कि हनुमान् ही लङ्का जाय तदनुसार हनुमान् समुद्र में कूद पड़ और तैरने लगे ।

* स्वयंप्रभा तथा उस के प्रदुभुत भवन का वृत्तान्त किष्किन्धा काण्ड, सर्ग ५०, ६१ तथा ६२ में है । इन सर्गों में प्रशिष्य ह्योर्को का इतना भरमार है कि असल ह्योर्को को प्रशिष्य ह्योर्को से पूछकर करना आत्यन्त कठिन हो रहा है ।

हनुमान् का समुद्र में तैरना—

एष पर्वतसंकाशो हनुमान् मारुतात्मजः ।

तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम् ॥ सु० १ । २७ ॥

सागरस्याभिर्जालानामुरसा शैलवर्ष्मणा ।

अभिद्रंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥ सु० १ । ६७ ॥

विकर्षन्नुर्मैजालानि वृहन्ति लवणाम्भसि ।

पुप्लुवं कपिशार्दूलो विकिरन्निवरोदसी (सु० १ । ६९ ॥) ।

मेरुमन्दरसंक्राशानुदगतान् मुमहार्णवे ।

अत्यक्रामन्महावेगस्तरङ्गान् गणयन्निव ॥ सु० १ । ७० ॥

तस्य वंगसमुद्रयुष्टं जलं सजलदं तदा ।

अम्बरस्थं विवभ्राजे शरदधमिवाततम् ॥ सु० १ । ७१ ॥

पर्वत के समान दृढ़ हनुमान्, महावेगवान्, (मानो वेगवान् वायु के पुत्र ही हों) वरुणालय (समुद्र) को तैरने लगे । पर्वतशिला की तरह सुन्दर दृढ़ अपनी उरसा अर्थात् छाती से समुद्र के तरंगों पर धक्का देते हुए महावेगवान् कपि तैरने लगे, (महान् खारे जल में) अर्थात् महासागर में लहरों की जाला को चीरते हुए कपिशार्दूल उना प्रकार (वेग में) तैरने लगे जैसे कि आकाश में फेंकी हुई कोई वस्तु (जा रही हो) वा छाया पृथिवी आकाश में चल रहे हों । उस समुद्र में मेरुमन्दर (पर्वतों) के समान उठे हुए तरंगों को गिनते हुए के समान महावेगवान् हनुमान् लांघ गया (तैर गया) । उस समय (उम के तैरने के) वेग से ऊपर को फेंका हुआ जल मग्न के साथ आकाश में ऐसा शोभने लगा जैसा कि फैला हुआ शरद् ऋतु का अम्र वा बादल (हनुमान् के तैरने से पानी के छींटे बहुतायत से जो ऊपर उठते थे उन्हीं का समूह मग्नत्व प्रतीत होता था; ऐसा भी ज्ञात होता है कि तैरने के समय मग्न भी छाए हुआ था) ।

इस प्रकरण में बहुत से श्लोक ऐसे भी हैं जिन से प्रतीत होता है कि हनुमान् उड़ते हुए जाते थे परन्तु उस का भावार्थ यह है कि हनुमान् बड़े वेग से जाते थे । अंगरजा भाषा में भी “फ्लाई” शब्द जिस का अर्थ “उड़ना” है “विशेष शीघ्रता के साथ चलन” के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ करता है । परन्तु “उड़ने”

के तात्पर्य को न समझ पीछे से लोगों ने इस प्रकरण में बहुत से श्लोक ऐसे भी प्रक्षिप्त कर दिए हैं जिन से प्रतीत हो कि हनूमान् सचमुच आकाश में ही उड़ रहे थे । परन्तु हनूमान् मनुष्य थे पक्षी नहीं और बिना पंख वाले को आकाश में उड़ना सृष्टि-नियम विरुद्ध है (और वहां यह भी नहीं लिखा है कि हनूमान् किसी आकाश यान पर जा रहे थे) अतः यही सिद्ध होता है कि समुद्र में हनूमान् के बड़े वेग से तैरने को ही उड़ने के साथ उपमा दी है । हनूमान् लङ्का से लौटने हुए भी समुद्र तैर कर ही भारत में आए । हनूमान् के इस तैरने को इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहृत ।

हनूमान् मेघजालानि विकर्षन्निवगच्छति ॥ सु० ५७ । ६ ॥

अर्थात् समगति से जाने वाले बिना थके हुए हनूमान् अपार सागर को (अपार सागर के जल को) आहत करते हुए, निल मेघजाला की तरह समुद्र जाला को काटते हुए जाने लगे ।

इस समय लङ्का और भारत के बीच ५८ मील का अन्तर है । भारत और लङ्का के बीच मनार तथा रामेश्वर नाम दो टापू हैं जो पैंतीस मील हैं अतः समुद्र भाग केवल २३ तैस मील है, (देखिए इन्टरनेशनलोजोग्राफी पृष्ठ ५०४) उस समुद्र भाग में भी जल बहुत थोड़ा रहता है जब कि फ्रांस और इंग्लैंड के बीच को इंगलिश चैनल नाम खाड़ी का जिस की चौड़ाई प्रायः २१ इक्कीस मील है) कई बलवान् तैराक पुरुष तैर जाते हैं तो हनूमान् जैसे वीर बालब्रह्मचारी तैराक का भारत और लङ्का के बीच के २३ मील समुद्र भाग का तैरना कदापि असम्भव नहीं माना जा सकता ।

महाशय, सी. वी. वैद्य, एम. ए. ने जो यह लिखा है कि हनूमान् समुद्र फांद-कर भारत से लङ्का गए वह सर्वथा अयुक्त है क्योंकि २३ मील समुद्र को एक छलांग में पार हो जाना असम्भव है ।

इधर तो वानरसमूह हनूमान् के लङ्का से लौटने का बात देखने लगे और उबर हनूमान् समुद्र पार हां लङ्काद्वीप के किनारे जा लगे । थोड़ी दूर चलने के पश्चात् उन की दृष्टि:—

लङ्कानगरी

की ओर जो पड़ी तो उस की शोभा देख विस्मित हो गए । देखा कि लङ्कानगर के चारों ओर खाई खुदी हुई है और खाई के पार पक्कोटा नगर के चारों ओर खींचा हुआ है, अत्युच्च विशाल भवन हलके पीले रंगों के खंड हैं जिन गृहों के शिखरों पर ध्वजा पताकाएं लहरा रही हैं, उन घरों की दीवारें सुवर्ण मय लतापंक्तियों से चित्रित हैं, प्राकार के बीच २ में उच्च वर्षों पर शतधनियां * (तोपें) चढ़ी हुई हैं, यथास्थान यन्त्रागार भी स्थित हैं † ऐसी लङ्का का नगर के उत्तरद्वार से देखते हुए हनुमान् चकित हो गए और मन ही मन कहन लगे कि ऐसे दुर्गम दुर्ग पर चढ़ाई करने से क्या लाभ होगा ?

ज्यों ही अधियाली हुई हनुमान् छिप कर नगर में घुस गए और सीता को खोजने लगे । ढूंढते २ वह अशोकवाटिका में पहुँचे जहां राक्षसियों के रङ्ग से भिन्न एक कृशानन सुन्दरी शोकमय दशा में बैठी हुई थी । हनुमान् दूर एक वृक्ष पर छिप गए । नियमानुसार रावण अपनी बातें सीता का सुना गया, राक्षसियां भी उन्हें भयभीत कर दूर जा सोई । तब हनुमान् संस्कृत से बिगड़ी हुई एक भाषा ‡ में राम-गुण गान करने लगे (क्योंकि हनुमान् समझते थे कि यदि वह संस्कृत में भाषण करेंगे तो महाराणी सीता यह समझ कि यह रावण बोल रहा है भयभीत हो जायेंगी) । सीता रामगुण गान सुन चकित हुई और इधर उधर देखने लगी, फिर हा राम ! हा लक्ष्मण ! कहती हुई धीरे २ रोने लगी तब हनुमान् सीता के निकट पहुँचे और हाथ जोड़ कहने लगे “हे देवि ! मुझ से डरिए मत रामगुणगान करने वाला मैं राम का दूत हनुमान् हूँ, लीजिए उन की दी हुई यह अंगूठी” । अंगूठी देख सीता का हृदय हर्षमय हो गया, उन्होंने विश्वास कर हनुमान् से श्रीराम लक्ष्मण का सब वृत्तान्त पृच्छा और हनुमान् ने उन सब बातों का सुनाया जिस प्रकार सीता के वियोग से श्रीराम दुर्खा हैं, जिस प्रकार सुग्रीव से उन की मैत्री हुई इत्यादि । तब सीता ने कहा क्या भरत और सुग्रीव अपनी सेनाएं ले कर लङ्का पर चढ़ाई नहीं कर सके,

* शतघनीशूलकोशान्तामट्टालकावतं ॥ ११ ॥ सुन्दर २ । २१ ॥

† यन्त्रागारस्तनो मृद्वाम् ॥ सुं० ३ । १८ ॥

‡ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संकृताम् ।

रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥ सुं० ३० । १८ ॥

रावण ने केवल दो मास और मुझे जीता छोड़ने की प्रतिज्ञा की है तदनन्तर वह मुझे मार डालेगा । हनुमान् ने श्री जानकीजी से कहा आप का पता मिल गया अब शीघ्र ही लङ्का पर चढ़ाई होगी, आप भी मुझे कोई चिन्ह दीजिए जिसे मैं श्री राम को दिखा सकूँ । सीता ने एक चूड़ामणि हनुमान् को दी और हनुमान् उसे ले और सीता की प्रदक्षिणा कर वहाँ से चल और अति भूख होने के कारण लङ्का की एक बाटिका में फल खाने लगे, राक्षसों ने कालाहल किया जिन से हनुमान् की लड़ाई हो पड़ी । अन्त को मेघनाद हनुमान् को पकड़ रावण की सभा में लेगया जहाँ निश्चित हुआ कि इसे कुरूप बना छोड़ दिया जाय । तदनुसार राक्षसों ने उन्हें कुरूप बना, लङ्का फिर छोड़ दिया * हनुमान् लङ्का से जाने नगर में आग लगा गए और सीता को पुनः प्रणाम कर पुनः समुद्र के किनारे आन पहुँचे और जिस प्रकार समुद्र को तैर कर पहले आए थे उसी प्रकार “अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहत । हनुमान् मेघनालानि विक्रपान्निव गच्छति” (सु० ५७ । ६) समगति से जाने वाले विना थके हुए हनुमान् अपारसागर को (अपार सागर के जल को) आहत करते हुए, नीलमेघ की जाला की तरह समुद्रजाल को काटते हुए जाने लगे, और समुद्र पार हो चिन्तित वानरसमूह में जा पहुँचे । हनुमान् को देव और सीता का समाचार सुन वानरों के हर्ष की सीमा न रही, सब आनन्द पूर्वक खाते पीते श्रीराम की सेवा में पहुँचे । हनुमान् लङ्का का वृत्तान्त निवेदन करते हुए महाराणी सीता की दी हुई चूड़ामणि श्रीराम के हाथों में रखदिया । श्रीराम ने उस मणि को पहचान छाती से लगा लिया और सीता को स्मरण कर रुदन करने लगे, अन्त में शान्त हो हनुमान् को धन्यवाद दिया और यात्रा की तयारी कर सैन्यसहित समुद्र के किनारे पहुँच गए । और समुद्र पार होने के उपायों पर विचार करने लगे ।

उपर रावण शत्रु का शीश पर देख लङ्कारक्षा का यत्न करने लगा और विभीषण लङ्का में घोर अपमानित होने के कारण श्रीराम से आ मिले ।

समुद्र पर पुल—समुद्र पार होने के उपायों पर जब विशेष विचार हो

* सम्भव है कि हनुमान् को वानरजाति का सुन राक्षसों ने सचमुच उन्हें वानर के रूप में दर्शाने के लिए एक पूँछ का आकार उन के शरीर में बांध दिया हो और उस में आग लगादी हो ।

चुका तो अन्त में राजशिल्पी नील ने कहा कि हम भारत और लङ्का के बीच के सागर में पुल बांध देंगे । सब लोग यह सुन हर्षित हुए और वानर समूह आस पास के जङ्गलों से बड़े २ वृक्ष लाने लगे, पत्थरों की ढेरी भी एकत्रित होने लगी ।

इस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः ।

पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥ युद्ध २२ । ५६ ॥

महाकाय, महाबली, वानर (गण) यन्त्रों द्वारा पर्वतों को गिरा कर हाथी के बराबर २ पत्थरों को ढोने लगे * और नील की शिक्षानुसार इन सब वस्तुओं को समुद्र में डालने लगे । पांच दिनों में यह पुल ११ तैयार हो गया और श्रीराम सारी सेना सहित इस पुल से चल कर लङ्का के किनारे पहुँच गए और लङ्का पर आक्रमण करने की विधियों को सोचने लगे । पुनः श्री राम की सेना चार भागों में विभक्त हो लङ्का के चारों द्वारों पर पहुँच गई । अङ्गद को दूत बना भेजा गया ताकि अब भी रावण अपने पापों पर प्रायश्चित्त करे और युद्ध न हो । परन्तु रावण ने शान्ति की एक भी बात न मानी तब युद्धारम्भ हो गया ।

* जब कि पर्वतों की शिलाओं को टुकड़े टुकड़े करने का यन्त्र वानरों के पास था तो बड़ी २ शिलाओं के ढोने का यन्त्र भी वानरों के पास होना असम्भव नहीं ।

† जो लोग यह कहते हैं कि समुद्र में पुल बांधना सर्वथा असम्भव है उन्हें चाहिए कि भारत और लङ्का के बीच के समुद्र भाग का वर्णन किमी अच्छे भूगोल में देखें । इन्टर नेशनल जियोग्राफी के पृष्ठ २०४ में मिल साहब जो लिखते हैं उस का सारांश यह है "लङ्का और भारत के बीच 'मनार' नाम खाड़ी है । परन्तु मनार तथा रामेश्वर नाम टापुओं तथा मूंग वाले चट्टानों (जिन्हें 'आदम का पुल' कहते हैं) के बीच में होने से भारत प्रायः लङ्का के साथ जुटा हुआ है । उक्त मूंग वाले चट्टानों के बीच कहीं भी इतना जल नहीं है जिस से कोई बड़ा जहाज़ निकल सके । लङ्का को रेलवेलाईन द्वारा भारत के साथ जोड़ देने के लिए सर्वे (पैमाइये) हुई हैं जिस के अनुसार पैंतीस मील रेलवेलाईन मनार तथा रामेश्वर टापुओं पर, २२ मील रेलवेलाईन उक्त मूंग वाले चट्टानों पर और कंत्रल एक मील रेलवेलाईन मनार की खाड़ी पर जिस में जल बहुत कम रहता है अर्थात् कुल ५८ मील रेलवेलाईन बनने वाली है " इस समय जब कि प्रायः लङ्का और भारत के बीच रेलवेलाईन को बनाने को तय्यार है तब श्री राम ने अत्यल्प जल वाले समुद्र भाग पर यदि पुल बना दिया हो तो इस में आश्चर्य ही क्या है । लङ्का और भारत के बीच का जो पथरीला भाग आदम के पुल के नाम से आज पुकारा जाता है उसे श्रीराम के पुल का भाग कहने में हम कभी भी हिचक नहीं सकते ।

लङ्का का घोर संग्राम ।

* इन्द्रजीत अङ्गद से, प्रजय सम्पार्ता से, जाम्बुमाली हनुमान् से, गजपतन विभीषण से, निकुम्भ नील से, प्रभास सुग्रीव से, विरूपाक्ष लक्ष्मण से, आग्निकेतु श्री राम से और अनेक अन्यान्य राक्षसयूथप अन्यान्य वानर यूथों से युद्ध करन लग्य। दिन भर लड़ाई होती रही, सन्ध्या समय युद्ध बन्द होना चाहिए था परन्तु राक्षसों ने अन्धकार से लाभ उठाना चाहा और दिन की अपेक्षा भी अधिक वारना के साथ युद्ध करने लगे। अनेक वीर मारे गए और घायल हुए, अन्त में इन्द्रजीत ने एक छिपे स्थान से बाणों की वर्षा कर राम और लक्ष्मण को घायल कर दिया, और अपने विजय का समाचार रावण को जा सुनाया, सारी लंका में आनन्द होने लगा। इधर गरुड़ ने आ श्रीराम लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर कर दी तब तो रामदल में आनन्द हो गया, भेरी मृदङ्गादि आनन्दमय स्वर और तालों से बजने लगे। राम सेना पुनः युद्ध के लिए उद्यत हुई। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम दिवस धूम्राक्ष, वज्रदंष्ट्र, अकम्पन तथा प्रहस्त ने रामदल के ऊपर चढ़ाइयों कीं दोनों ओर से घोर युद्ध हुए, हनुमान् ने क्रुद्ध हो धूम्राक्ष पर ऐसा प्रहार किया कि वह निर्जीव हो पृथिवी पर गिर पड़ा और अङ्गद ने तलवार से वज्रदंष्ट्र का शीश काट लिया, अकम्पन तथा प्रहस्त भी मारे गए। तब षष्ठ दिवस रावण विशेष कुपित हो बाण चलाने लगा, वानर सेना रावण में त्रसित हो भागने लगी, रावण ने सुग्रीव, हनुमान् तथा लक्ष्मण को भी घायल कर दिया तब श्रीराम रावण के सम्मुख आए और एक बाण उसकी छाती में ऐसा मारा कि वह बेसुध हो पृथिवी पर गिर पड़ा। श्रीराम यह कहते हुए कि गिरे हुए शत्रु का हम बध नहीं करते पीछे हट और रावण भयभीत और लज्जित हो लङ्का में घुस गया। रामदल के घायल योद्धा भी इस समय तक सावधान हो गए थे अतः रामदल भी सन्ध्या हो जाने के कारण पीछे हटा।

सप्तम दिवस कुम्भकर्ण राक्षसी सेना सहित बानरदल पर चढ़ आया। प्रत्येक

* आगे कहे हुए प्रति दो नामों में से पहला नाम राक्षस का और दूसरा नाम रामदल के युद्धों का है।

† रामायण में गरुड़ और श्रीराम की जो बातचीत लिखी हुई है उन से तो ज्ञान होता है कि गरुड़ कोई मानुषी भाषा बोलने वाला अतः मनुष्य था। गरुड़ के विषय में अनेक असम्भव बातें तथा युद्ध विषय में अनेक असम्भव बातें पीछे से जोड़ी हुई मालूम होती हैं।

वानर यूथप कुम्भकर्ण को दलित करने का यत्न करते रहे परन्तु प्रायः सभी कुम्भकर्ण के प्रहारों से घायल होते गए, लक्ष्मण ने भी कुम्भकर्ण का सामना किया परन्तु कुम्भकर्ण युद्ध करता हुआ आगे ही बढ़ता गया और अन्त में श्रीराम के निकट पहुँचा और घोर युद्ध करने लगा। परन्तु श्रीराम ने उभे मार पृथिवी पर गिरा दिया कुम्भकर्ण के मरने ही राक्षस सेना लङ्का को भागी और रावण को कुम्भकर्ण के वध का समाचार जा सुनाया ।

रावण भाई के वध पर घोर विलाप करने लगा, और कड़ने लगा कि शोक ! हम ने विर्भाषण के परामर्श का स्वीकार नहीं किया, परन्तु अब क्या, अवसर हाथ से चला गया, जब कि हमारा प्यारा भाई मारा गया तो अब हम जीकर क्या करेंगे, अब हमें आनन्द उल्लाम से क्या मतलब, अब तो युद्धक्षेत्र में प्राणों का छोड़ना ही चाहिए । इस प्रकार विलाप करना हुआ रावण पुनः धैर्यधारण कर युद्ध की तैयारियाँ करने लगा । प्रातः होते ही आठवें दिवस नारान्तक, त्रिशिर और अतिकाय नाम महाबली राक्षसों को तथा अपनी सेना का रामदल से युद्ध करने के लिए भेजा परन्तु नागान्तक को अंगद ने, त्रिशिरा को हनुमान ने और अतिकाय को लक्ष्मण ने मार डाला । इन राक्षसों के मार जाते ही राक्षसों की सेना पुनः लंका में भाग छिपी और रावण को युद्ध का सब समाचार सुनाया ।

रावण अपनी मना का पराजय मुन पुनः शोक करने लगा परन्तु इन्द्रजीत ने पिता को ढाढस दे नवम दिवस बड़ी सफलता के साथ युद्ध किया । उस दिन रात्रि के समय बानरदल ने उल्ला बाल लंका पर चढ़ाई करदी और लंका में आग लगाने लगे, घोर संग्राम हुआ, युद्ध होते २ दिन हो गया, महाबली राक्षस को श्रीराम ने आग्नेयास्त्र से मार गिराया ।

द्वारहवें दिवस इन्द्रजीत अपनी यज्ञशाला में * पहुँचा और हवन समाप्त कर युद्ध के लिए चक्र पड़ा थोड़ी देर युद्ध कर पुनः लंका में आया और सीता की एक मूर्ति अपने रथ पर रख पुनः रणक्षेत्र में पहुँच गया और सारी बानर सेना के सन्मुख उम मूर्ति का शिर काट डाला । रामदल ने समझा सीता मारी गई अतः बड़ा शोक किया परन्तु विर्भाषण ने असल बात लोगों को बतला जब यह सुनाया कि सीता जीवित है तब रामदल को संतोष हुआ ।

बारहवें दिवस इन्द्रजीत पर चढ़ाई कर वानरों ने उस के राक्षसी यज्ञ को विध्वंस कर दिया, तेरहवें दिवस इन्द्रजीत ने पुनः घोर संग्राम किया परन्तु इस दिन वह लक्ष्मण के हाथ मारा गया । इन्द्रजीत की मृत्यु का समाचार सुन रावण की छाती टूट गई, उस ने बहुविधि विलाप किया परन्तु फिर रणक्षेत्र में मरना ही ठीक समझ अपनी सभा में अपने मुख्य मुख्य वीरों को एकत्रित कर, युद्धविषय में उन से परामर्श कर, अपनी सेना के साथ रणक्षेत्र को चला* वानरों ने राक्षसी सेना का सामना किया, घोर युद्धारम्भ हुआ । महोदर, महापार्श्व और विरूपाक्ष नाम तीन राक्षस सेनापती मारे गए तब रावण विशेष क्रुद्ध हो युद्ध करने लगा और एक कठिन अस्त्र विर्भाषण पर चला लक्ष्मण पर एक शक्ति छोड़ी जिस से लक्ष्मण घायल हो पृथिवी पर गिर पड़े और रावण सैन्यमहित लंका लो चला गया ।

श्रीराम लक्ष्मण को गिरा देव बहुविधि विलाप करने लगे, सुग्रीव ने उन्हें बहुत समझाया. सुषेण नाम वैद्य लाए गए, हनुमान् सुग्रीव की आज्ञानुसार औषधी लाए, सुषेण ने उसे लक्ष्मण को दिया और लक्ष्मण पुनः सुध सम्भाल उठ बैठे, श्री राम ने उन्हें छाती से लगाया और वानर सेना की सब चिन्ता दूर हुई ।

लक्ष्मण के घायल होने से रावण कुछ प्रमत्त हुआ था परन्तु उन के अच्छे हो जाने का समाचार सुन पुनः चिन्तित हुआ और पुनः श्री राम से युद्ध करने चला । रावण और राक्षस सेना के साथ श्रीराम और उन की सेना का घोर संग्राम हुआ । इस युद्ध का बर्णन रामायण में विस्तार पूर्वक दिया हुआ है । भारतवर्ष में यह बात अब तक प्रसिद्ध है कि राम रावण का जैसा युद्ध हुआ वैसा युद्ध राम रावण का ही हुआ अन्य किन्हीं का नहीं † अन्त में रावण के घोर युद्ध से श्रीराम विशेष क्रुद्ध हुए और एक विशेष अस्त्र को (जिस महार्षि अगस्त्य

* नोट:- युद्ध काण्ड सर्ग ८५ पंचानने में लिखा है कि रावण के योद्धा धनुष बाणों के सिवाय निम्नलिखित अस्त्र शस्त्रों से भी सुसज्जित थे:-

अष्टिभिः पट्टिभिः शूलैर्गदाभिर्मूसलैर्हलैः । शक्तिभिस्तीक्ष्णधारभिर्महद्भिः कूटमुद्गरैः ॥
 यष्टिभिर्विचित्रैश्चक्रैर्नजितैश्च परशुभिः । भिन्दिपालैः शतशोभिर्नैश्चैश्चापि बरायुधैः ॥ युद्ध ९२ ।
 २९, २६ ॥

† युद्ध काण्ड के युद्ध प्रकरण में बहुत से प्रसिद्ध श्लोक हैं जिन में सृष्टिनियम विरुद्ध वर्णनायं भरी हुई है । हम ने जो कुछ युद्ध का वर्णन किया है वह अति संक्षिप्त आशय मात्र है ।

ने श्रीराम को दिया था) रावण पर छोड़ा । उस अस्त्र ने रावण के हृदय को विदीर्ण कर उसे पृथिवी पर गिरा दिया और रावण का प्राण शरीर से निकल गया रावण के गिरते ही राक्षसों की सेना भागी, और वानरों ने हर्षध्वनि की । *

विभीषणका राज्याभिषेक—रावण के मारे जाने पर मन्दोदरी आदि रानियों तथा विभीषण ने बड़ा विलाप किया, अन्त में रावण की अन्त्येष्टि किया ब्राह्मणों ने विधिवत् कराई और पुनः विभीषण का राज्याभिषेक हुआ ।

सीताका पुनः दर्शन—श्रीराम की आज्ञानुसार हनुमान् सीता को श्री रामविजय का समाचार सुना आए, और पुनः विभीषण सीता को शिविका (पालकी) पर सवार करा श्रीराम के सम्मुख लाए । बहुत दिनों से विडुड़ी हुई सीता को पा श्रीराम बहुत ही प्रसन्न हुए और लक्ष्मण तथा वानर दल भी अपने परिश्रमों को पूर्ण सफल देख प्रसुद्धित हो गए । और सब ने उस रात विश्राम किया ।

लङ्का में अयोध्या को प्रस्थान—प्रातः होते ही विभीषण नाना प्रकार के रत्नजटित भूषण वस्त्रादि लिए हुए श्रीराम के समीप पहुँचे और कहा राघव ! इन सब को धारण करें । श्रीराम ने कहा जब कि प्यारे भरत हमारी चिन्ता में तप का जीवन व्यतीत कर रहे हैं हमें यह सब वस्तुएं किस प्रकार भा सकती हैं ? सुग्रीव आदि को वस्त्राभूषणों से सत्कृत करो, हमारे लिए तो ऐसा प्रबन्ध करो जिस में हम शीघ्र अयोध्या पहुँचें विभीषण ने कहा अयोध्या पहुँचने की चिन्ता न कीजिए मेरे पास पुष्पक विमान है उस पर अति शीघ्र आप अयोध्या पहुँच सकते हैं कुछ काल लङ्का में निवास कर हम लोगों का उपकृत कीजिए । श्रीराम ने कहा आप ने युद्ध में जैसी सहायता हमें दी है उसे हम नहीं भूल सकते हम मन्त्री भांति जानते हैं कि आप का प्रेम हमारे साथ कैसा है आप अब शीघ्र पुष्पक मंगाएं ताकि हम शीघ्र यहां से विदा हों, और इन वानरों का सत्कार द्रव्यादि से कीजिए जिन्होंने अपने प्राण का मोह छोड़ कर युद्ध किया है विभीषण ने पुष्पक ला खड़ा किया और सब वानरों का पुष्कल द्रव्यों से यथा योग्य सत्कार किया

* श्रीराम और लक्ष्मण अपनी सेना को शत्रुसेना से कैसे लड़ाना चाहिए इस विद्या में राक्षसों से अधिक निपुण थे तथा अग्नेयास्त्र, वाहणास्त्र, वायव्यास्त्र, गन्धर्वास्त्रादि अनेक अस्त्रजो दूर २ से भी शत्रु सैन्य पर आग्यादि बल से चलाए जाते थे उन के परिचालन में श्रीराम लक्ष्मण राक्षसों से विशेष अभ्युत्पन्न थे, इसी कारण श्रीराम राक्षसों पर विजयी हुए ।

युधों को विविध रत्न भी दिए श्रीराम यह सब देख प्रसन्न हुए और सीता को पुष्पक पर चढ़ा लक्ष्मण सहित आप उस पर चढ़ गए और उस पर बैठे ही बैठे कहने लगे हे सुग्रीव ! हे विभीषण ! तथा अन्यान्य वीरगण ! आप लोगों ने जो हमें सहायता दी है उस के लिए हम सदा आप के आभारी बने रहेंगे सुग्रीव आप किष्किन्धा में पहुंच कर और विभीषण लङ्का में मुख पूर्वक राज्य करें अब हम आप लोगों से विदा मांगते हैं । यह सुन विभीषण तथा सब बानर सेनापति तथा बानर दल बोल उठे कि हम लोग आप का राज्याभिषेक देखना चाहते हैं, माता कौशल्या को प्रणाम करना चाहते हैं हम लोगों को भी साथ ले चलिए । तब श्रीराम ने विभीषण तथा उन के मन्त्री, सुग्रीव तथा कई हरि युधों को विमान पर चढ़ा लिया । जितने जन विमान पर बैठ सके थे उतने जब उस विमान पर बैठ चुके तब विमान चलाया गया ।

अनुज्ञातं तु रामेण तद्धिमानमनुत्तमम् ।

हंसयुक्तं महानादमुत्पपात विहायसम् ॥ युद्ध १२३।१॥

राम की आज्ञा से (चलाए जाने पर) वह अत्युत्तम विमान जो हंसयुक्त था (अर्थात् जिस में हंस का आकार बना हुआ था) आकाश में उड़ता हुआ घोर शब्द करने लगा ।

श्रीराम सीता को आकाश से ही लङ्का, रणक्षेत्र, समुद्र, किष्किन्धा, ऋष्य-मूक, अनेक ऋष्याश्रम, चित्रकूट तथा गङ्गादि दिशाते हुए गूहनिपाद की राजधानी शृङ्गवेरपुर के निकट पहुंचे और वहां से हनुमान् को कई प्रकार की शिक्षाएं दे उन्हें अयोध्या के लिए रवाना कर दिया और आप महर्षि भारद्वाज के आश्रम में प्रयाग पहुंचे जहां अयोध्या का सब समाचार उन्हें मिल गया । उधर हनुमान् गूह निषाद से मिलकर और श्रीराम का समाचार सुना कर अयोध्या के निकट नन्दीग्राम में पहुंचे जहां भरत तापसवेष में निवास कर रहे थे, और हाथ जोड़ भरत से निवेदन करने लगे “हे देव ! जिन की चिन्ता करते हुए आप जटा चीर धारण कर रहे हैं वह श्रीराम दण्डकारण्य से सकुशल आ रहे हैं, रावण को मार सीता को पुनः प्राप्त कर लक्ष्मण, सीता तथा अपने मित्रों सहित आ रहे हैं । ”

भरत इन बचनों के सुनते ही आनन्द से मूर्च्छित हो गिर पड़े परन्तु शीघ्र ही संभल हनुमान् को अङ्ग में लगा नेत्रों से आंसू बहाने लगे । पुनः हनुमान् से श्री

रामादि के समाचार विशेष पूछ, भरत ने शत्रुघ्न को आज्ञा दी कि अभी अयोध्या में जाओ और सहस्रों मनुष्यों को लगा कर नगर के पथादि को सुशोभित करा दो । शत्रुघ्न ने वैसा ही किया । अयोध्यावासी श्रीराम के आगमन का समाचार सुनते ही आह्लादित हो गए और माता कौशल्यादि तथा मन्त्री दल सहित बहुत से पुरवासी नन्दीग्राम में पहुंच गए । देखते ही देखते पुष्पक आकाश से पृथिवी पर आ लगा* ।

श्रीराम का स्वागत और उन का अभिषेक—श्रीरामादि पुष्पक से उतरे और भरत श्रीराम के चरणों को छू प्रणाम करने लगे और श्रीराम ने भरत को उठा छाती से लगा लिया । पुनः भरत ने प्रणाम करते हुए लक्ष्मण को छाती से लगा सतीता का प्रणाम किया । पुनः भरत, सुग्रीव, जाम्बवान्, अङ्गद, मैन्द, द्विविद, नील, सुषेण, नल, गवाक्ष, गन्धमादन, शरभ, पनस तथा विभीषण से मिलते हुए उन के कुशल पूछने लगे और अन्यान्य भी परस्पर मिलने जुलने लगे । श्रीराम अनेक श्रेष्ठों को प्रणाम कर वहां पधार हुए नगरनिवासियों के सन्मुख आए और नगरनिवासी हाथ जोड़ एक स्वर हो बोले “स्वागतं ते महाबाहो ! ” तदनन्तर भरत ने उस पादुका के जोड़े को जिसे वह चित्रकूट से लाए थे श्रीराम के चरणों में पहना दिया और कहा कि आज मेरा जन्म कृतार्थ हुआ, अब आप अपने कोश, कोष्ठागारादि को देखें जिन्हें आप के प्रताप से हमने दशगुण कर दिया है १० मेरी पूज्या माता ने आप के राज्य को मुझे दिलाया था उसे मैं पुनः आप को देता हूँ । प्रजा की प्रार्थना को स्वीकार कर और राजभार (जिस भार से मैं दब रहा हूँ) अपने हाथों में ले प्रजा को रञ्जित करें । श्रीराम ने भरत की प्रार्थना स्वीकार की और सब लोग नन्दीग्राम से अयोध्या पहुंचे जहां श्रीरामचन्द्र जी का विधिवत् राज्याभिषेक हुआ तदनन्तर किष्किन्धा और लङ्का के मित्रों का रत्नों से जटित आभूषणादि से सत्कार कर श्रीराम ने बड़े सन्मान के साथ उन्हें विदा किया, और आप अयोध्या का शासन करने लगे । आपने ऐसी योग्यता और सुप्रबन्ध से राजकार्य करना आरम्भ किया कि सारे राज्य में शीघ्र ही अद्वितीय सुखशान्ति फैल गई ।

* हंसयुक्तं महावेगं निपपात महीतलम् ॥ युद्ध १२७ । ३८ ॥

† अवेक्षतां भवान् कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम् । भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणम् मया ॥

हमारी क्या शक्ति है कि हम श्रीराम के गुणों को भली भाँति गान कर सकें । अपने टूटे फूटे शब्दों में यत् किञ्चित् रामयज्ञ प्रकट कर हमने अपने मन का अरमान कुछ पूरा किया है परमात्मा कृपा करें कि इस पृथिवी के मनुष्य श्रीराम के यज्ञ को भली भाँति ज्ञात कर उन के जीवन के अनुसार अपना जीवन बनाने का यत्न करें, अपने तथा अन्यों के अधिकारों को समझें और पुनः इस संसार में पूर्ण शान्ति संस्थापन करें ।

उत्तरकाण्ड ।

(१) युद्धकाण्ड के अन्तिम सर्ग १२८ के पिछले भाग में कई श्लोक ऐसे मिलते हैं जिन से यही परिणाम निकालना पड़ता है कि युद्धकाण्ड की समाप्ति के साथ ही साथ महर्षि वाल्मीकि का रामायण समाप्त होता है इस सर्ग के १०९ वें तथा ११० वें श्लोक में लिखा है:—

धर्म्यं यज्ञस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम् ।

आदिकाव्यमिदं चार्षे पुरां वाल्मीकिना कृतम् ॥ युद्ध १२८।१०५॥

शृणोति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ।

श्रद्धधानो जितक्रोधो दुर्गाप्यतितरत्यसौ ॥ युद्ध १२८ । ११० ॥

अर्थात् धर्म, यज्ञ, आयु तथा राजाओं के लिए विजय का देने वाला यह आर्षे पुरातन आदिकाव्य वाल्मीकि का रचा हुआ है। वाल्मीकि द्वारा रचे हुए इस पुरातन काव्य को जो कोई श्रद्धापूर्वक तथा क्रोध को जीत कर सुनेगा वह (कठिन दुःखरूप) दुर्गों के भी पार हो जायगा ।

निस्सन्देह उक्त श्लोक महर्षि वाल्मीकि के नहीं प्रत्युत किसी अन्य के बनाए हुए और पीछे से जोड़े हुए हैं । परन्तु मालूम होता है कि इन श्लोकों का बनाने वाला अवश्य ही महर्षि वाल्मीकि के रामायण का बड़ा प्रेमी था अतः रामायण की पूर्ति के पूर्व वह कर्मा “ आदिकाव्यमिदम् ” यह आदि काव्य, “ इदं काव्यम् ” यह काव्य ऐसे “ ग्रन्थ के पूर्णता सूचक ” शब्द नहीं लिख सकता था । अतः उत्तर काण्ड (जिस का अर्थ ही है पीछे का काण्ड), महर्षि वाल्मीकि के रामायण के साथ पीछे से जोड़ा हुआ ज्ञात होता है ।

(२) रामायण की दो प्रकार की प्रतियां पहले पहल छपी थीं एक का नाम गौड़ (बङ्गाल) प्रति और दूसरे का नाम बम्बई की प्रति है । बंगाल की प्रति में केवल छः काण्ड थे और बम्बई की प्रति में उत्तरकाण्ड सहित सात काण्ड थे । इटैली देश के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ “गौरीशिव ” (Gorresio) ने स्वदशभाषानुवाद सहित जिस वाल्मीकिरामायण को महाराज साडिनिया की सहायता से छपवाया था उस में भी केवल छः ही काण्ड थे ।

(३) वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड तृतीयसर्ग में जहां रामायण की कथाओं का संक्षेप है वहां बाल से युद्धकाण्ड तक की कथाओं का सार लिखते हुए किसी काण्ड का नाम नहीं लिया परन्तु अन्तिम श्लोक में लिख दिया “तच्चकारांतरं काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः” यहां उत्तरकाण्ड का नाम लेना सर्ग की लेखशैली से सर्वथा विरुद्ध है अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है एवं उत्तरकाण्ड के विषय भी प्रक्षिप्त हैं ।

(४) उत्तरकाण्ड के अन्तिम सर्ग १११ के प्रथम श्लोक में लिखा है:—

एतादंतदाख्यं नं सोत्तरं ब्रह्मपूजितम् ।

रामायणमितिख्यातं मुख्यं वाल्मीकिना कृतम् ॥

अर्थात् इतना यह आख्यान उत्तर सहित ब्रह्मपूजित है, इतना प्रसिद्ध मुख्य रामायण है जिसे वाल्मीकि ने बनाया है । यहां भी “सोत्तरम्” उत्तर सहित शब्द सन्देहजनक है । अनुमान है कि इस श्लोक के बनाने वाले ने यह समझंत हुए कि लोग उत्तरकाण्ड को कहीं रामायण का भाग न समझें इस लिये “सोत्तरम्” शब्द लिख दिया ।

(५) चम्पू रामायण जो महाराज भोज के समय बना था उस में स्पष्ट लिखा है कि यह वाल्मीकि रामायण का सार है, और क्योंकि चम्पूरामायण में युद्धकाण्ड तक ही है अतः सिद्ध होता है कि वाल्मीकि रामायण में छः ही काण्ड हैं चम्पूरामायण में लवकुश का यत्किञ्चित् वृत्तान्त तो है जो कि सम्भव है कि महाराज भोज के समय के आर्यों में प्रसिद्ध हों परन्तु यदि यह प्रसिद्धि उत्तरकाण्ड द्वारा हुई होती तो उत्तर काण्ड के विषयों का सार भी चम्पूरामायण में अवश्य होता परन्तु इन का पता चम्पूरामायण मात्र में नहीं है । अतः सिद्ध हुआ कि उत्तर काण्ड वाल्मीकि रामायण में पीछे से जोड़ा गया ।

(६) उत्तरकाण्ड में इतनी अधिक सृष्टि नियम विरुद्ध बातें हैं कि उसे

भार्ष कहने में सर्वथा जी हिचकता है अतः उत्तरकाण्ड वाल्मीकिरामायण का भाग नहीं ।

(७) उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रमाण जो उत्तर काण्ड में हैं उन से भी सिद्ध होता है कि उत्तरकाण्ड महर्षि वाल्मीकि की रचना नहीं है:-

उपाख्यान शतं चैव भार्गवेणतपस्विना ॥ उ० ९४ । २५

आदि प्रभृति वैराजन् पञ्चसर्ग शतानि च ।

काण्डानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना ॥ उ० ९४ । २६ ॥

अर्थात् भार्गव तपस्वी के (रामायणस्थ) सौ उपाख्यान (बनाए हुए) हैं । हे राजन् ! (रामायण के) आदि से ५०० तक सर्ग हैं । इस के छः काण्ड उत्तर काण्ड सहित (उक्त) महात्मा भार्गव ने किए हैं (अर्थात् महर्षि वाल्मीकि के बनाए रामायण के ५०० सर्गों का छ काण्डों में विभाजन तथा उत्तर काण्ड का निर्माण भार्गव द्वारा हुआ है) अतः उत्तरकाण्ड महर्षि वाल्मीकि का बनाया हुआ नहीं है ।

चतुर्थो भागः सम्पूर्णः ॥



पञ्चः भाग

महाभारत के समय का इतिहास

रामायण और महाभारत के समयों की तुलना—महाभारत क कर्ता और इस के श्लोकों की संख्या—महाभारतयुद्ध का समय निरूपण—कौरव तथा पाण्डवों की उत्पत्ति कौरव तथा पाण्डवों की शिक्षा—द्रोणाचार्य के लिए गुरुदक्षिणा—युधिष्ठिर का यौवराज्य और वनवास—द्रौपदी का स्वयम्बर—इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का स्थापन—राजसूय यज्ञ और दिल्ली का पहला राजदर्भार—द्यूतक्रीड़ा और उस का विषमय परिणाम—बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास—युद्ध की तय्यारी—अठारह दिनों का घोर संग्राम और उस का शोकमय परिणाम ।

रामायण और महाभारत के समयों की तुलना—धर्ममय एवं आत्मिक तथा प्राकृतिक सब प्रकार की उन्नतियों से परिपूर्ण रामायण के समय के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन कर तथा उस के पीछे के एक दीर्घकाल के इतिहास को छोड़ शोकमय हृदय के साथ महाभारत के समय का यत् किञ्चित् इतिहास लिखना पड़ता है । श्रीरामचन्द्रजी के पवित्र आचरण के प्रतिकूल युधिष्ठिर के जूआ खेलने आदि कर्मों को, लक्ष्मण भरतादि के भ्रातृस्नेह के प्रतिकूल युधिष्ठिर के प्रति मम के अपमानसूचक शब्दों का, महाराज दशरथ की प्रजा के सन्मुख सीता का कैकेयी द्वारा तपस्विनी के वस्त्र देने पर प्रजा का एक साथ चिड़ा उठना “ धिक् त्वां दशरथम् ” तथा धृतराष्ट्र की राज समा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर भी भीष्म द्रोणादि वीरों का नपुंसक की भांति कुछ कर न सकना, कुंटिला दासी मथरा का भी अपमान भरत के लिए असह्य और महाराज्ञी द्रौपदी की दुर्दशा में दुर्योधन कर्णादि की प्रसन्नता, सती साध्वी सीता का पातिव्रत और श्रीरामचन्द्र जी का पत्निव्रत उस के प्रतिकूल सत्यवती और कुन्ती के कानीनपुत्रों की उत्पत्ति और पाण्डवादि के बहु विवाह, श्रीरामचन्द्रजी के वन की ओर चलने पर अयाध्यावासियों का उन के साथ वनगमन के लिये यत्न और युधिष्ठिर के दो बार हास्तिनापुर से निकाल जाने पर सिवाय थोड़े से नगर निवासियों के पाण्डवों के दुःख साथखुलमखुला दुःख प्रगट करने के अन्यों का कौरवों

के भय से मौनावलम्बन, श्रीराम और भरत का महान् राज्य जैसे पदार्थ को धर्म-पालन के सन्मुख तुच्छ समझना और उसे एक का दूसरे के हाथ में फेंकना और दुर्योधन का यह कहना कि “ सृच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव ! ”, युद्ध क्षेत्र में रावण के घायल हो जाने पर श्रीरामचन्द्र जी का यह कहना कि घायल का बध करना धर्मविरुद्ध है और शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का बध, रथ से उतरे हुए कर्ण का बध, सँते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का ब्राह्मणकुलोत्पन्न वीराभिमानी अश्वत्थामा द्वारा बध आदि कहां तक गिनाएं, यह सब घटनाएं हैं जो विस्पष्टरूप से रामायण और महा-भारत के समय की अवस्थाओं को प्रकट करती हैं । यद्यपि महाभारत के समय रामायण के समय की भांति ही अथवा उस से भी अधिक आर्यवर्त में सम्पत्ति भरी हुई थी और रामायण के समय के वीरों की भांति भीष्म, द्रोण, अर्जुनादि कतिपय योद्धा वायव्यास, पाशुपतास, वारुणास, अन्तर्धानास, ब्रह्मास्त्रादि आग्ने-यास्त्रों की विद्या भी जानते थे, अश्वतरी नाम अग्निमान जल पर चलता था आर्यवर्त का दब दबा सारी पृथिवी पर जमा हुआ था परन्तु रामायण के समय की अपेक्षा इस समय धर्म का बहुत ही हास था, वैदिक आज्ञाओं को मनमानी रीति से लोग पददलित कर रहे थे इसी कारण दुष्टाचारी हो महाभारत के समय के योद्धा परस्पर में युद्ध कर लड़ मरे जिस से यह देश घोर पतित हो उत्तरोत्तर दुःख ही भोगता गया । परमात्मा कृपा करें कि कुलहत्यारं दुर्योधन का भाव आर्यों के बीच से दूर हो और वे एक दूसरे के दुःख में दुःख और सुख में सुख मानते हुए अपनी उन्नति करें । अस्तु, अब हम महाभारत के कर्त्ता और इस के श्लोकों की संख्या तथा महाभारत युद्ध के समयविषय में अतिसंक्षिप्त आलोचना कर कौरव पाण्डवों की उत्पत्त्यादि तथा महाभारत युद्ध की दुःखमय वर्णना तथा उस के शोकमय परिणाम को अति संक्षिप्त रीति से अङ्कित कर इस भाग को समाप्त करते हैं ।

महाभारत के कर्त्ता और इस के श्लोकों की संख्या ।

यह बात सुप्रसिद्ध है कि महर्षि पराशर के पुत्र तथा कौरव पाण्डवों के पिता-मह महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने (जिन का नाम वेदों के पारंगत होने के कारण वेदव्यास भी पड़ा था) महाभारत की रचना की थी* परन्तु यह बात महाभारत के आन्त-

* देखिये आदिपर्व, अध्याय १ । श्लोक १४, ८५, ८६ तथा स्वर्गारोहणिकपर्व अध्याय ६ । श्लोक ३६, ४०, ५३ ॥

रिक प्रमाणों से ही सिद्ध होती है कि वर्तमान महाभारत (जिस की श्लोक संख्या इस समय ९९८२६ १* पचानवें हजार, आठ सौ छब्बीस है) के कुछ श्लोक तो महर्षि व्यास के बनाए हैं और बहुत से श्लोक पीछे से अन्यों के प्रक्षेप किए हुए हैं।

महर्षि व्यास ने महाभारत युद्ध का वृत्तान्त लेखनद्ध करा अपने शिष्य वैशम्पायन, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, तथा पुत्र शुक को पढ़ाया था । इन लोगों ने उक्त युद्ध-वृत्तान्त को ऐसी उत्तमता के साथ अंगन कर लिया था कि उक्त पांचों ऋषियों का नाम "भारताचार्य" पड़ गया था ।

जब परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने सर्पसत्र (यज्ञ) किया था तो उस समय महर्षि वैशम्पायन ने १* महर्षि व्यास रचित महाभारत युद्ध का वृत्तान्त जन्मेजय को सुनाया था । वर्तमान महाभारत में वह सब प्रश्न लिखे हैं जिन्हें जन्मेजय ने युद्धवृत्तान्त सुनते समय वैशम्पायन से किया था तथा वह सब बातें भी जो वैशम्पायन ने इन प्रश्नों के उत्तर में कही थीं । ये प्रश्नोत्तर महर्षि व्यासरचित महाभारत युद्ध वृत्तान्त के भाग नहीं हो सकते अतः ये प्रश्नोत्तर असल ग्रन्थ में पीछे से जोड़े गए हैं ।

वर्तमान महाभारत में यह भी लिखा है कि नैमिषारण्य में जब कि शौनकादि ऋषि यज्ञ कर रहे थे उस समय वहां लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा (साँती) आए, जिन्होंने शौनकादि के पृच्छे पर बताया कि वह महर्षि वैशम्पायन से महाभारत युद्ध का वृत्तान्त सुन कर तथा कुरुक्षेत्र की रणभूमि देखते हुए आए हैं * पुनः शौनकादि के निवेदन करने पर साँती ने उक्त युद्ध का वृत्तान्त कहना आरम्भ किया । शौनक के प्रश्न भी बीच में होते गए जिनके उत्तर भी साँती देते गए । ये सब प्रश्नोत्तर भी वर्तमान महाभारत ग्रन्थ में विद्यमान हैं अतः इन्हें उस ग्रन्थ का भाग नहीं कह सकते जिसे महर्षि व्यास ने बनाया था ।

उक्त बातों के देखने से स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इस प्रकार अनेक पुरुषों के मिश्रित श्लोकों के समुदाय वर्तमान महाभारतग्रन्थ में से कौन सा भाग असल

† देखिये बम्बई का छपा महाभारत ।

‡ जन्मेजयेन पृष्ठः सन् ब्राह्मणैश्च महत्प्रयः । शशास शिष्यमासीन् वैशम्पायनमन्तिके ॥ स सदस्यैः महासीनः आश्रयामास भारतम् । कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ॥ आदि ० १ । १७, ९८ ॥

* कथिताद्यापि विधिवद्वा वैशम्पायनेन वै, सुत्याऽहं ता विचित्रार्था महाभारत-संक्षिताः ॥ गतवान्ऽस्मि तं देशं युद्धं यत्राऽभवत् पुरा । कुक्ष्यां पाण्डवानां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ आदि ० १ । ११, १३ ॥

ग्रन्थकर्ता का है और कौन २ से भाग अन्यों के । यह प्रश्न और इस का उत्तर वर्तमान महाभारत में भी विद्यमान है । महाभारत आदिपर्व अध्याय ११ श्लोक ५२ में लिखा है:—

मानवादिभारतं केचिदास्तिकादि तथाऽपरे ।

तथोपरिचरादन्ये विप्रः सम्यगधीयते ॥

कोई तो विप्र “मानव” शब्द के आरम्भ से भारत को’ दूसरे “आस्तीक” के आरम्भ से और अन्य “उपरिचर” के आरम्भ से भारत को ठीक २ पढ़ते हैं (वा बताते हैं) ।

परन्तु उक्त श्लोक बलपूर्वक कोई निर्णय ठीक २ नहीं करता, केवल तीन भिन्न २ सम्मतियों को प्रकट कर देता है ।

परन्तु महाभारत का निम्नलिखित श्लोक निश्चयरूप से इस विषय में साक्षी देता है यथा:—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।

उपाख्यानैर्विनातावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ आदि १ । १०१ ॥

(महर्षि व्यास ने) चौबीस सहस्र (श्लोक युक्त) भारतसंहिता बनाई थी । उपाख्यानों के विना इतने को ज्ञानी लोग “भारत” कहते हैं ।

इस श्लोक से यह भी ज्ञात होता है कि महाभारत ग्रन्थ का नाम पहले केवल “ भारत” था, परन्तु इस श्लोक के विपरीत लोग निम्नलिखित श्लोक का बतात हैं:—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।

अहं वेत्ति शुक्रो वेत्ति सञ्जयो वेत्ति वा नवा ॥ आदि १ । ८१ ॥

अर्थात् आठ सहस्र आठ सौ श्लोकों को मैं जानता हूँ, शुक्र जानता है, सञ्जय न जाने जानता है या नहीं जानता ।

परन्तु यह श्लोक भारत की श्लोकसंख्या का निरूपक नहीं है क्योंकि इस श्लोक के पश्चात् जो ८२ श्लोक है उस में लिखा है “तत् श्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने !” जिस से सिद्ध होता है कि उक्त ८०० संख्या महाभारतस्थ केवल कूट श्लोकों की है ।

परन्तु चौबीस सहस्र श्लोकों से बढ़कर इतना बड़ा महाभारत किस प्रकार बना इस के विषय में सूत लोमहर्षण के पुत्र सूत उग्रश्रवा कहते हैं “ एकं शतसहस्रन्तु

मयोक्तं वै निबोधत" (आदि १ । १०७) एक लाख श्लोक मेरा बनाया हुआ समझो ।

इस से तो ज्ञात होता है कि उग्रश्रवा के समय में महाभारत चौबीस सहस्र तथा एक लाख श्लोकयुक्त बन चुका था ।

परन्तु महर्षि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश (चतुर्थावृत्ति) के पृष्ठ २९९ में लिखा है:—

“यह बात राजा भोज के बनाए संजीवनी नामक इतिहास में लिखी है कि (जो ग्वालियर के राज्य “भिण्ड” नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है जिस को लखुना के राव साहब और उन के गुमाश्ते रामदयालु चौबे जी ने अपनी आंख से देखा है उस में स्पष्ट लिखा है कि) व्यास जी ने चार सहस्र चार सौ और उन के शिष्यों ने पांच सहस्र छः सौ श्लोक युक्त अर्थात् सब दशसहस्र श्लोकों के प्रमाण भारत बनाया था” वह महाराज विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराज भोज कहते हैं कि मेरे पिता जी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊंट का बोझा हो जायगा ।

यदि संजीवनी में जो कुछ लिखा है वह ठीक है तो यह परिणाम निकलेगा कि महाभारत का प्रायः दो तिहाई भाग महाराज भोज के समय से पाँचे २ बना है ।

जा हो इस में कुछ भी सन्देह नहीं है कि महर्षि व्यास ने जिस युद्ध वृत्तांत को लिखा था तथा उन के शिष्य वैशम्पायन के समय में जो कुछ उस में वृद्धि हुई थी उस में सौती आदि के समय बहुत कुछ जोड़ा गया और उत्तरांतर भी उस में प्रक्षेप होता ही गया जिस कारण उक्त युद्ध वृत्तांत का ग्रन्थ बढ़ते २ वर्तमान महाभारत के रूप में परिणत होगया ।

वर्तमान महाभारत के प्रथम श्लोक का अन्तिमपाद है “ ततो जयमुर्दारयेत् ” तथा महाभारत स्वर्गारोहाणिक पर्व अध्याय ९ श्लोक ४६ का द्वितीयार्द्ध है “ जयो नामेतिहासोऽयं श्रातव्यो मोक्षमिच्छता ” अर्थात् इस इतिहास का नाम “ जय ” है जिसे मोक्ष की इच्छा रखने वालों को श्रवण करना चाहिए । जिन से बोध होता है कि कौरव पाण्डवों के इतिहास का नाम जय भी था ।

अतः यह कहना अनुचित बोध नहीं होता कि महर्षि व्यास ने कौरव पाण्डवों का जो इतिहास लिखा था उस का पहला नाम “जय” था, पुनः महर्षि वैशम्पायन के समय में जो कुछ उस में वृद्धि हुई वह सब असल ग्रन्थ के साथ मिलकर “भारत” के नाम से प्रसिद्ध हुआ और पुनः सौती आदि के समयों में जो कुछ उस भारत के साथ जोड़ा गया वह सब भारत के साथ मिलकर अन्त में महाभारत के नाम से प्रख्यात हुआ ।

इस विस्तृत महाभारत में से जो कोई महर्षि व्यास के श्लोकों को तथा उन के शिष्य वैशम्पायन के समय के बने श्लोकों को सौती आदि के प्रक्षेप किए हुए श्लोकों से पृथक् करना चाहे उसे चाहिए कि महाभारत को भी उसी प्रकार जांच ने का यत्न करे जिस प्रकार हमने मनुस्मृति के प्रकरण में उस ग्रन्थ की जांच की विधि अवलम्बन की है ।

महाभारतयुद्ध का समय निरूपण ।

डाक्टर हंटर साहब नाम ऐतिहासिक लिखते हैं The main story deals with a period assigned.....to about 1200 B. C. अर्थात् (महाभारत की) मुख्य कथा उस समय की है जो कि ईसा के जन्म के १२०० वर्ष पूर्व का माना जाता है । आनरेबल एल फ़िंस्टन साहब नाम ऐतिहासिक लिखते हैं “ We must place the war in the fourteenth century before Christ ” अर्थात् हमें चाहिए कि महाभारत युद्ध को ईसा के जन्म से पूर्व चौदहवीं शताब्दि में स्थापित (निश्चित) करें एवं अन्यान्य कतिपय यूरोपीय विद्वान् इस युद्ध को भिन्न २ समयों का बताते हैं ।

परन्तु महाभारत गदापर्व में लिखा है कि भीम और दुर्योधन के युद्ध के पश्चात्-कृद्ध हुए बलराम को श्रीकृष्णचन्द्र जब समझाने लगे तो बाले “ प्राप्तं कालियुगं विद्धि ” जानो कि कालियुग प्राप्त हो गया, इस से बोध होता है कि कालियुग के प्रारम्भ में ही महाभारत का संग्राम भी आरम्भ हो गया था ।

(वराहमिहिर नाम ज्योतिषी ने अपने ज्योतिष के ग्रन्थ वृहत्संहिता में गर्गसंहिता के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया है:—

आसन्मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ । षड्द्विकपञ्च द्वियुतः शक-
कालस्तस्य राज्ञश्च ॥ वृहत्संहिता अ० १३, अ० ३ ॥

अर्थात् जिस समय महाराज युधिष्ठिर पृथिवी का शासन कर रहे थे उस समय "मुनयः" अर्थात् सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे शककाल अर्थात् शाक्यसिंह शकसिंह (गौतम बुद्ध) के सम्बत् तक उस राजा युधिष्ठिर के ऋः, दो, पांच, दो अर्थात् २५२६ पच्चीस सौ छब्बीस वर्ष हो चुके थे । उक्त श्लोकमें आया हुआ शककाल बारम्बार विवादास्पद हो चुका है । काश्मीर के इतिहास राजतरङ्गिणी के कर्ता ऐतिहासिक कल्हण ने वृहत्संहिता के उक्त श्लोक को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है और शककाल से अभिप्राय महाराज शालिवाहन का शकाब्द ठहराते हुए महाराज युधिष्ठिर का समय कालियुग के आरम्भ से ६५३ वर्ष पीछे का बताया है, और क्योंकि काश्मीर के महाराज प्रथम गोनन्द प्रायः कालियुग के आरम्भ से ६५३ वर्ष पीछे हुए हैं अतः कल्हण ने प्रथम गोनन्द को महाराज युधिष्ठिर का समकालीन लिख दिया है । परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि वृहत्संहिता में आया हुआ उक्त श्लोक वास्तव में गर्गसंहिता का है, और आर्यावर्त की प्राचीन घटनाओं पर मन्देह करने वाले तथा उन्हें थोड़े दिनों के मानने वाले अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भी अब स्वीकार कर लिया है कि गर्गसंहिता ईसा के जन्म से कम से कम १५४ वर्ष पूर्व विद्यमान थी, और महाराज शालिवाहन का शकाब्द ईसा के जन्म के प्रायः ७८ वर्ष पीछे आरम्भ हुआ है अतः गर्गसंहिता ने जिस शककाल को उक्त श्लोक द्वारा बतलाया है वह महाराज शालिवाहन का शकाब्द कभी भी नहीं हो सकता अतः अनुमान से यहाँ बोध होता है कि शाक्यसिंह वा शकसिंह (गौतम बुद्ध) का सम्बत् जो उन की आयु के पचासवें वर्ष से चला है वही उक्त श्लोक में वर्णित "शककाल" का बोधक है । शाक्यसिंह के कालनिरूपण में भी ऐतिहासिकों का यत् किञ्चित् मत भेद है परन्तु प्रायः यहाँ माना जाता है कि उनका जन्म शालिवाहन के शकाब्द से ७०१ वर्ष पूर्व अथवा सन् ईस्वी से ६२३ वर्ष पूर्व हुआ था, और वह ८० अस्सी वर्षों तक जीते रहे थे । अर्थात् उन की मृत्यु ईसा के जन्म से प्रायः ५४३ वर्ष पूर्व हुई थी । जब कि शाक्यसिंह के पचासवें वर्ष से उन का सम्बत् आरम्भ हुआ तो समझना चाहिए कि उन का सम्बत् (६२३—४९ = ५७४) ईसा के जन्म से ५७४ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था ।

अतः महाराज युधिष्ठिर का समय वर्तमान विक्रमाब्द १९६७ वा शालिवाहनाब्द १८३२ वा सन् ईस्वी १९१० तक निम्नलिखित प्रकार निश्चित होता है:-

गर्गसंहिता वा बृहत्संहिता के अनुसार शाक्यसिंह (गौतमबुद्ध) के सम्बत् तक २५२६ वर्ष

गौतम के सम्बतारम्भ अथात् ईसा के जन्म से ५७४ वर्ष पूर्व से ईसा के जन्म तक प्रायः ५७४ वर्ष

ईसा के जन्म से अब तक प्रायः १९१० वर्ष

योग पांच हजार दश वर्ष ५०१० वर्ष

उक्त गणना इस कारण भी ठीक है कि १८९९ ईसवी में प्रायः सभी प्रसिद्ध भारतीय ज्योतिषियों ने महाभारत युद्ध के समय वा कलि के आरम्भ समय की गणना की थी और सभी ने एकमत हो कहा था कि उस वर्ष महाभारत युद्ध के हुए ५००० पांच सहस्र वर्ष व्यतीत हो रहे थे ।

भारत में प्रचलित पञ्चाङ्गों के अनुसार वर्तमान कल्यब्द ५०११ पांच सहस्र ग्यारह है अतः ज्ञात होता है कि महाभारत युद्ध कल्यब्द १ में ही आरम्भ हुआ था ।

(३) अकबर बादशाह के समय में जब कि पण्डितों की प्रतिष्ठा बादशाह के दरबार में होने लगी थी उस समय संस्कृत के बड़े २ विद्वानों से और पक्की लिपियों व (ज्योतिष के) सिद्धान्तों से अनुसन्धान कर अकबर के प्रधान मन्त्री ने जो कुछ लिखा है उस से पता लगता है कि “ कलियुग के लगते ही पहिला राजा-युधिष्ठिर हुआ था, विक्रम के सम्बतारम्भ के पूर्व युधिष्ठिर के हुए ३०४४ वर्ष व्यतीत हो चुके थे ” (देखिए कलकत्ते की १८६७ ईसवी की छपी हुई आईन, ईअकबरी पृष्ठ २६९)

इस प्रमाणानुसार भी वर्तमान सम्बत् १९६७ में कलि के आरम्भ हुए वा युधिष्ठिर के हुए ३०४४+१९६७=५०११) पांच सहस्र ग्यारह वर्ष होते हैं ।

(४) पण्डित माधवाचार्य ज्योतिषी ने सम्बत् १८१६ में बनाए अपने ग्रन्थ “ राजावली ” में लिखा है कि “ कलियुग के आरम्भ से विक्रम के सम्बत् तक ३०४४ वर्ष होते हैं ” (देखिए हरिश्चन्द्रिका अङ्क अगस्त १८७४ ई०, पृष्ठ ८७ से ९० तक)

उक्त प्रमाणानुसार भी वर्तमान सम्बत् १९६७ में कलि के आरम्भ हुए (३०४४+१९६७=५०११) पांच सहस्र ग्यारह वर्ष होते हैं ।

(५) काउंट जार्नेस्टजर्ना नाम युरोपीय विद्वान बतलाते हैं कि “ कलियुग

का समयारम्भ लिखते हुए आर्य्य ज्योतिषियों ने बतलाया है कि उस समय प्रायः सब ग्रह प्रायः एक सीध में आगए थे, बेली नाम यूरोपीय ज्योतिषी की गणनासार ज्ञात होता है कि वह समय (कलि) ईसा के जन्म से पहल ३१०२ तीन सहस्र एकसौ दो वर्ष, २० फरवरी को २ बजे के २७ मिनट तथा ३० सेकंड पर आरम्भ हुआ था ”

उक्त प्रमाणानुसार वर्तमान सम्वत् १९६७ में कलि के आरम्भ हुए प्रायः (३१०२+१९०९ सन् ईसवी=५०११) पांच सहस्र ग्यारह वर्ष हो चुक हैं ।

(६) इन प्रमाणों के अतिरिक्त महर्षि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश (चतुर्थावृत्ति) के पृष्ठ ३८९, ३९०, ३९१ तथा ३९२, में सम्वत् १७८२ के लिये एक संस्कृतपुस्तक के प्रमाण से (जो कि नाथद्वारे राज उदयपुर के पाक्षिकपत्र हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मोहनचन्द्रिका सम्वत् १९३९ मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष के किरण १९ तथा २० अर्थात् दो पक्षों में छपा था) अङ्कित किया है कि महाराज युधिष्ठिर से महाराज यशपाल तक इन्द्रप्रस्थ में १२४ आर्य्य महाराजाओं ने ४१५७ वर्ष ९ मास तथा १४ दिनों तक राज किया था । उक्त १२४ महाराजाओं में से प्रत्येक महाराज का शासन काल भी सत्यार्थप्रकाश में अङ्कित है । अन्तिम आर्य्य राजा सम्वत् १२४९ में मुसल्मानों के द्वारा पकड़े गए थे । उक्त गणनानुसार, भी महाराज युधिष्ठिर का समय वा महाभारतयुद्ध का समय सम्वत् १२४९ तक प्रायः ४१५८ वर्ष, तथा सम्वत् १२४९ से सम्वत् १९६७ तक ७१८ वर्ष अर्थात् कुल (४१५८+७१८=४८७६) प्रायः ४८७६ वर्ष ठहरता है । इस गणना से और वर्तमान कल्यब्द ५०११ से केवल १२५ वर्षों का अन्तर पड़ता है ।

परन्तु कलि के आरम्भ वा महाभारतयुद्ध की घटना को जब कि आर्य्यावर्त के विद्वान् आज से प्रायः ५०१० वर्ष पूर्व का बताते हैं और ऐतिहासिक डाक्टर हंटर उसे आज से प्रायः ३११० वर्ष पूर्व का और ऐतिहासिक आनरेबल एल्फिंस्टन उसे आज से प्रायः ३३१० वर्ष पूर्व का बताते हैं तो आर्य्यावर्त के विद्वानों की ही बात ठीक मानी जाय इस के लिए क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न हो सक्ता है । इस का उत्तर यह है कि महाभारतयुद्ध के जिस समय को आर्य्यावर्त के विद्वान् निरूपण करते हैं प्रायः उसी समय को पुराने यूनानी ऐतिहासिक भी निरूपण करते हैं अतः आर्य्य विद्वानों का कथन प्रामाणिक है ।

मेगस्थनीज़ नाम यूनानी राजदूत जिस के लेखों को सभी ऐतिहासिक बड़े मान्य की दृष्टि से देखते हैं जो महाराज चन्द्रगुप्त के दरबार में एक दीर्घकाल तक रह चुका था उस के लेख तथा सिकन्दर के साथ जो यूनानी लेखक भारत में आए थे उन के लेखों के आधार पर यूनानी ऐतिहासिकों ने भारतीय राजाओं के विषय में लिखा है :—

“From the time of Dionysos to Sandrakottas, the Indian counted 153 kings, and a period of 6042 years. But among these a republic was thrice established. The Indians also tell us that Dionysos was earlier than Heracles by 15 generations” (Mc. Crindle's Ancient India, P. 204).....“ This Heracles is held in special honor by the Shourseni Indian tribe who possess two large cities, Mothora and Cleisobora (Mc. Crindle's Ancient India, P. 201).

अर्थात् दायोनीसस के समय से सद्राकोटस के समय तक भारतीय १५३ महाराजों का तथा ६०४२ वर्षों की गणना करते थे परन्तु इस समय के भीतर तीन बार प्रजातन्त्र शासन भी स्थापित हो चुका था भारतीय हम लोगों से ऐसा भी कहते हैं कि दायोनीसस हरक़्लिष से १५ पीढ़ी पूर्व हो चुका था । भारत के शौरसेनी * लोगों के बीच (जिन के आधीन मथुरा तथा श्लोसी बोंरा नाम दो बड़े २ नगर हैं) उक्त हरक़्लिष विशेष सन्मान के साथ स्मरण किया जाता है ।

उक्त लेख में दायोनीसस, सद्राकोटस तथा हरक़्लिष जो नाम आए हैं उन में से किस भारतीय महाराज को यूनानी दायोनीसस के नाम से पुकारते थे इस का पता अभी तक नहीं लगा । परन्तु सद्राकोटस महाराज चन्द्रगुप्त का नाम था यह भली भांति स्थापित हो चुका है । इस समय निश्चय यह करना है कि यह हरक़्लिष कौन पुरुष था । संस्कृत 'र' वा 'ऋ' अक्षर के स्थान में प्राकृत "ल" प्रायः व्यवहृत हुआ है अतः संस्कृत कृष का यदि प्राकृत क्लिष बन गया हो तो आश्चर्य नहीं अतः हरक़्लिष का पूर्व रूप हरकृष हो तो असम्भव नहीं है, और क्योंकि यूनानी ऐतिहासिक मथुरा और श्लोसेबोरा नगरों में शासन करने वाले शौरसेनी क्षत्रियों को हरकृष का नाम विशेष सन्मान के साथ स्मरण करने वाला बतलाते हैं अतः मथुरा के लोगों से विशेष सम्बन्ध रखने वाले यह हरकृष, "हरिकृष्ण" के

महाराज कृष्ण के पिता वसुदेव के पिता का नाम भूरखेन था ।

सिवाय अन्य कोई नहीं हो सक्ता । महाशय मैकरिडिल के उक्त ग्रन्थ “एंडेंट इंडिया” में हरिकृष्ण का सम्बन्ध Pandia पाण्ड्य के साथ भी बतलाया है । यह पाण्ड्य शब्द वास्तव में “पाण्डव” का अपभ्रंश मालूम होता है अतः मथुरा के शौरसेन क्षत्रियों तथा पाण्ड्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाला हरकृष्ण वा हरकृष्ण सिवाय हरिकृष्ण वा कृष्ण महाराज के अन्य कोई नहीं हो सक्ता ।

क्योंकि प्रजातन्त्र शासन स्थापित होने का समय भी १५३ राजाओं के समय ६०४२ वर्षों के भीतर ही है अतः यह नहीं कहा जासक्ता कि उक्त १५३ महाराजों का समय ठीक २ कितना है । उक्त लेख में जो यह अङ्कित है कि दायोनिसस हरकृष्ण (हरिकृष्ण) से १५ पाँदी पूर्व हो चुका था इस से ज्ञात होता है कि हरिकृष्ण से चन्द्रगुप्त तक (१५३—१५=१३८) एक सौ अड़तीस महाराज हाँचुंके थे । यदि प्रत्येक महाराज का शासन समय प्रायः बीस वर्ष भी मान लिया जाय तो हरिकृष्ण से चन्द्रगुप्त तक के महाराजों का समय अनुमान (१३८+२०=२७६०) सत्ताइस सौ साठ वर्ष होता है । महाराज चन्द्रगुप्त ईसा के जन्म से ३१२ वर्ष पूर्व विद्यमान थे अतः हरिकृष्ण का समय ईसा के जन्म से प्रायः (२७६०+३१२=३०७२) तीन सहस्र बहत्तर वर्ष पूर्व होता है । अर्थात् हरिकृष्ण का हुए आज तक (३०७२+१९१० सन् ईसवी=४९८२) चार सहस्र नाँ सौ बयासी वर्ष होते हैं ।

अतः यूनानी ऐतिहासिकों के लेखानुसार महाराज कृष्ण वा पाण्ड्यों का समय आज से प्रायः ४९८२ वर्ष पूर्व और आर्यावर्त के ज्योतिषियों के लेखानुसार आज से प्रायः ५०१० वर्ष पूर्व सिद्ध होता है । इन गणनाओं में क्योंकि केवल २८ वर्ष का भेद पड़ता है अतः यूनानी ऐतिहासिकों के प्रमाण से भी महाभारत युद्ध का समय प्रायः वही सिद्ध होता है जो आर्यावर्त के विद्वान् निरूपण कर चुके हैं ।

इतने प्रमाणों के प्रस्तुत रहते हुए हमें कोई इस परिणाम पर पटुंचने से नहीं रोक सक्ता कि महाभारत युद्ध आज से प्रायः पाँच सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था ।

महाभारत में निम्नलिखित श्लोक आया है:—

न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान् ।

सोऽर्जुनेन वशनीतो राजाऽऽसीद्यवनाधिपः ॥

॥ आदि । १४१ । २०—२१ ॥

अर्थात् जिस को बलवान् महाराज पाण्डु भी वशीभूत न कर सके उस यवनाधिप को अर्जुन ने वश में कर लिया । और अन्यान्य भी कई ऐसे श्लोक आए हैं जिन में “यवन” शब्द व्यवहृत हुआ है । यूरोपीय ऐतिहासिक जो यह कहते हैं कि यह यवन शब्द सिद्ध कर रहा है कि यूनानी वा यवनों के सम्बन्ध के पश्चात् उक्त श्लोक लिखा गया सो सर्वथा अशुद्ध है । इस विषय को मनुस्मृति में आए हुए यवन शब्द के प्रकरण में हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं वहां देख लीजिए । “यवन” वास्तव में संस्कृत शब्द है और अति प्राचीन काल से यह एक प्रकार के ब्राह्म्य क्षत्रियों के लिए व्यवहृत होता रहा है ।

कौरव तथा पाण्डुओं की उत्पत्ति—चन्द्रवंशी क्षत्रियों के बीच हस्ति नाम एक प्रतार्षा महाराज हुए थे जिन्होंने गङ्गा के पश्चिम किनारे पर हस्तिनापुर नाम नगर बसाया था । महाराज हस्ति के प्रपौत्र “कुरु” हुए और महाराज कुरु की कई पीढ़ी बाद शान्तनु नाम महाराज हुए । शान्तनु की धर्मपत्नी गङ्गा के गर्भ से भीष्म उत्पन्न हुए । इस समय आर्यावर्त की सम्पत्ति इतनी बढ़ गई थी और इस का साम्राज्य इतना विस्तृत और निष्कण्टक हो गया था कि शान्तनु को किसी भी शत्रु का भय न रहा वह धनमद, सेनाबलमद और यौवनमद से उन्मत्त हो अपने को अद्वितीय समझने लगा और विषयानन्द में निमग्न हो गया उस की विषयवासना इतनी बढ़ी कि वह एक साधारण पुरुष की कन्या सत्यवती पर ऐसा मोहित हुआ कि उस के बिना उस का जीना कठिन ज्ञात होने लगा । सत्यवती के पिता ने दरिद्री होने पर भी अपनी कन्या जब राजा को न दी तब भीष्म ने अपना भावी राज्याधिकार सत्यवती के भावी पुत्र के लिए छोड़ दिया और यह भी प्रतिज्ञा की कि वह सत्यवती के भावी पुत्र का राज्य निष्कण्टक रहने देने के लिए अपना विवाह भी नहीं करेंगे तब सत्यवती का विवाह शान्तनु से हुआ । “यथा राजा तथा प्रजा” यह पुरानी जनश्रुति चरितार्थ होने लगी और पुष्कल धन धान्य से पूर्ण प्रजा विषयानन्द के उपवन में विहार करने लगी और धीरे २ न्यभिचार भी आरम्भ हो गया ।

सत्यवती के गर्भ से शान्तनु के दो पुत्र उत्पन्न हुए चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य इन में से चित्राङ्गद तो एक युद्ध में मारा गया और विचित्रवीर्य जब यौवन को प्राप्त हुआ तो उस का विवाह काशी नरेश की कन्याएं अम्बिका और अम्बालिका से हुआ

(इन दोनों कन्याओं को भीष्म काशी से बलात् पकड़ लाए थे) परन्तु विचित्रवीर्य भी थोड़े ही दिनों में सन्तान विहीन मरगया । तब उस की माता सत्यवती ने अपने कानीन पुत्र कृष्णद्वैपायन (व्यास) को (जिसे वह शान्तनु से विवाह करने के पूर्व पराशर के साथ सम्बन्ध कर उत्पन्न कर चुकी थी) बोलाया जिन्होंने अपनी माता सत्यवती की आज्ञा तथा भीष्म की सम्मति से विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों से नियोग किया । इस नियोग से विचित्रवीर्य की स्त्रियों में दो पुत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न हुए ।

धृतराष्ट्र जन्म से अन्धे थे । पाण्डु योग्य होने पर राज्यसिंहासन पर बैठे । धृतराष्ट्र का विवाह गांधार (वर्तमान कन्दहार) के महाराज की पुत्री गांधारी से हुआ जिस के पुत्र दुर्योधन, दुश्शासन, विकर्ण तथा चित्रसेनादि हुए * महाराज पाण्डु की दो स्त्रियां थीं कुन्ती और माद्री । महाराज कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन कुन्ती थी शरीर के कुछ लम्बे चौड़े तथा दृढ़ होने के कारण कुन्ती को लोग पृथा भी कहते थे । महाराज पाण्डु की दूसरी स्त्री का नाम माद्री था जो कि ईरान के राजा की लड़की थी । पाण्डु राजपाट भीष्म और धृतराष्ट्र को सौंप आप अपनी स्त्रियों के साथ बराबर वनों में विहार करने लगे और आखेट तथा विषयानन्द में फंस गये । पाण्डु ने स्वयं पुत्रोत्पन्न न कर सकने के कारण अपनी दोनों स्त्रियों को नियोग करने की आज्ञा दी तदनुसार नियोग द्वारा कुन्ती ने युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को उत्पन्न किया और माद्री ने नकुल और सहदेव को पैदा किया । वन में ही पाण्डु का देहान्त हो गया और माद्री पति के साथ चिता में भस्म हो गई । तब कुन्ती पांचों पुत्रों को लेकर वन के तपस्त्रियों के साथ हस्तिनापुर पहुंची * जहां भीष्म, विदुर, धृतराष्ट्र तथा सर्व वर्णों की सभा के सन्मुख पांचों पुत्र खड़े हुए । कुछ वादाववाद पीछे पांचों पुत्र पाण्डु के माने गए और वे माता सहित हस्तिनापुर में रहने लगे । धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव और पाण्डु के पुत्र पाण्डव के नाम से प्रख्यात हुए ।

कौरव तथा पाण्डवों की शिक्षा—धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों तथा

* महाभारत में लिखा है कि धृतराष्ट्र के सौ पुत्र गांधारी से उत्पन्न हुए थे परन्तु एक की वे इतने पुत्रों के होने में लोग सन्देह करते हैं ।

* महाभारत से यह ज्ञात नहीं होता कि पांचों पाण्डव जब कि हस्तिनापुर पहुंचे तो इन की आयु कितनी २ थी ।

पाण्डवों * को उस समय के सुप्रसिद्ध धनुर्वेद विद्यावित् ब्राह्मण कुलोत्पन्न द्रोणाचार्य की शिक्षार्थन किये । द्रोणाचार्य बड़े प्रेम से अपने शिष्यों को सब प्रकार की विद्या और विशेष कर अस्त्र शस्त्र विद्या सिखाने लगे । ऐसे तो उन के सभी शिष्य सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रों के सञ्चालन में कुशल तथा युद्धविद्या—व्युत्पन्न हो गए परन्तु भीम और दुर्योधन गदायुद्ध और मल्लयुद्ध में बड़े ही निपुण निकले और अर्जुन विविध प्रकार के बाणों के संचालन में अद्वितीय बन गए । जब कि कौरव, पाण्डव गुरु से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे उसी समय से पाण्डवों की निपुणता के कारण कौरवों का हृदय जलने लग गया था । उन्हीं दिनों सोते हुए भीम को एक दिन कौरवों ने उठा कर गङ्गा में डाल दिया था परन्तु भीम डूब नहीं दूसरे दिन गङ्गा से निकल कर सकुशल गुरु के समीप पहुँच गए । जब कौरव तथा पाण्डव शिक्षा पा चुके तो द्रोणाचार्य ने महाराज धृतराष्ट्र से कहा कि आप के पुत्रों और पाण्डवों की शिक्षा प्रायः समाप्त हो चुकी मैं चाहता हूँ कि एक रङ्ग भूमि रची जाय जहाँ सब कुमार अपना २ हस्तकौशल दिखलावें । तदनुसार हस्तिनापुर से बाहर एक विशाल और सुन्दर रङ्गभूमि रची गई जहाँ नियत तिथि पर भीष्म, कृपाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कुन्ती, गांधारी, मन्त्री लोग तथा सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एकत्रित हो गए । हर्ष सूचक बाजे बजने लगे और चार जनरव भी होंने लगा । ज्योंही द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा तथा शिष्यों के साथ उपस्थित हुए सर्वत्र शान्ति छा गई और गुरु की आज्ञानुसार कुमार एक के पीछे दूसरे अपनी २ योग्यता दर्शाने लगे । भिन्न २ प्रकार के लक्ष्यों को वेध कर, छोड़े हुए बाणों के जाल से आकाश में भिन्न २ प्रकार के आकार बना कर, हाथी, घोड़े और रथों पर चढ़कर, गदा, खड्ग से कृत्रिमयुद्ध कर जब कुमारों ने दर्शकों को बारम्बार विस्मित और आनन्दित कर दिया तब भीम और दुर्योधन गदा लेकर रङ्गभूमि में उतरे और अद्भुत पैतरे बदल २ कर एक दूसरे पर प्रहार करने लगे । दर्शक युद्ध देखकर विस्मित हो गए और दुर्योधन के कठिन प्रहार देख दर्शक भयभीत हो कभी हा भीम ! कह उठते थे और भीम के कठिन प्रहार पर कभी हा दुर्योधन , चिल्ला उठते थे दोनों योद्धा जब क्रुद्ध हो एक दूसरे

* महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर दुर्योधन से एक वर्ष बड़े थे और दुर्योधन तथा भीम का जन्म एक ही दिन हुआ था ।

पर घोर प्रहार करने लगे तब द्रोणाचार्य ने अश्वत्थामा को भेज दोनों योद्धाओं को पृथक् करा दिया ।

तब अर्जुन रङ्गभूमि में उतरे उन के आते ही घोर जनरव हुआ गुरु को प्रणाम कर अर्जुन अपना हस्तकौशल दिखलाने लगे ।

आग्नेयेनाऽऽसृजद्रहिं वारुणेनाऽऽसृजत्पयः

वायव्येनाऽऽसृजद्रार्युं पार्ज्जन्येनाऽऽसृजद्घनान् ॥ आदि० १३७ । १९ ॥

क्रमशः आग्नेयास्त्र से अग्नि, वारुणास्त्र से जल, वायव्यास्त्र से वायु और पार्ज्जन्यास्त्र से मेघों को उत्पन्न कर दिखलाया । अन्यान्य कई अस्त्रों को भी छोड़ अर्जुन ने दर्शकों को विस्मय और आह्लादित किया, आकाश में घुमते हुए लोहे के बराह के मुख में पांच बाण एक दूसरे के पीछे छोड़े और पांचों बाण एक साथ बराह के मुख से निकले, रथ पर सवार हो उसे दौड़ाने लगे, दौड़ते हुए रथ से कूद पड़े और फिर उस पर चढ़ गए, खड्ग और गदा का संचालन भी दिखलाया । अर्जुन के सभी कृत्यों को देख दर्शकगण बड़े ही प्रसन्न हुए ।

अर्जुन के कृत्य ज्यों ही समाप्त हुए त्यों ही बाहर की ओर से एक वीर पुरुष आ पहुंचा और द्रोण तथा कृपाचार्य को प्रणाम कर अर्जुन से कहने लगा कि पार्थ ! मैं भी उन सब क्रियाओं को दिखाना सक्ता हूं जिन्हें तुम ने दिखाया है । यह कह और द्रोण से आज्ञा ले कर्ण ने भी उन सब क्रियाओं को कर दिखाया जिन्हें अर्जुन ने दिखाया था । लोग आश्चर्य में डूब इस वीर के विषय में जिज्ञासा करने लगे तो ज्ञात हुआ कि यह कर्ण नाम योद्धा है । दुर्योधन अपने भाइयों सहित कर्ण के निकट पहुंचा और उसे छार्ता से लगा कहने लगा “स्वागतं ते महाबाहो ! आप भी हम लोगों के साथ राज्यसुख भोगिए” । कर्ण ने कहा आप की मैत्री की प्राप्ति से मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया, मेरी तो बड़ी अभिलाषा यह है कि मैं अर्जुन के साथ द्वन्द्व युद्ध करता । दुर्योधन बोला आप हम लोगों के साथ भोगों को भोगिए और दुष्टों के शीश अपने पग से दलन कीजिए । अर्जुन यह सुन क्रुद्ध हो गए और बोले कर्ण ? जो बिना बोलाए आते और बिना पूछे बोलते हैं उन की जो दशा होती है उस दशा को मैं तुम्हें पहुंचाऊंगा । कर्ण ने कहा यह रङ्गभूमि सब के लिए सामान्य है राजाओं की श्रेष्ठता का मूल कारण बल है, तुम क्यों व्यर्थ बोलते हो, तुम्हारे गुरु के सन्मुख भी मैं तुम्हारा शीश अपने बाणों

से काट सक्ता हूँ । यह सुन द्रोणाचार्य ने अर्जुन को आज्ञा दी कि कर्ण से द्वन्द्व-युद्ध करो । अर्जुन आज्ञा पाते ही गुरुको प्रणाम कर और भाइयों से मिलकर युद्ध के लिए खड़े हो गए उधर कर्ण भी दुर्योधनादि से घिरे हुए दूसरी ओर युद्ध के लिए खड़े हुए तब कृपाचार्य ने कर्ण से कहा कि राजकुमारों का द्वन्द्व युद्ध केवल राजकुमारों से ही हो सकता है । यह अर्जुन कुन्ती का पुत्र है तुम भी कर्ण बतावो किस राजवंश में तुमने जन्म धारण किया है * यह सुन कर्ण का शीश नीचा होगया । तब दुर्योधन ने कहा कि राजा तीन प्रकार के होते हैं एक तो कुलीन, दूसरे शूर, तीसरे सेनापति मैं इसी क्षण कर्ण को अङ्गदेश का राजा बनाता हूँ यह कह दुर्योधन ने तुरन्त ही कर्ण का अभिषेक कर दिया, कर्ण ने कहा आप की इस कृपा के बदले मैं क्या दूँ? दुर्योधन ने कहा केवल अपनी मैत्री । कर्ण के राजा बनने के समाचार ने उस के पालक पिता वृद्ध सारथि को आह्लादित करदिया और वह जनसमूह के बीच से कर्ण के समीप पहुँच आनन्द के आँसू बहाने लगा, कर्ण ने अपने पालक पिता को प्रणाम किया । तब भीम बोले सारथि को पुत्र अर्जुन के बाणों से मारने योग्य नहीं है ! यह सुन दुर्योधन क्रुद्ध हुआ और कहने लगा कि गुणकर्मानुसार ही सब कुछ होता है, विश्वामित्र क्षत्रिय से भी ब्राह्मण बन गए, तुम्हारी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है इसे भी हम जानते हैं, हमारी बात (अर्थात् कर्ण बङ्गेश्वर हों गए) जिसे स्वीकार न हो वह युद्ध करे ।

दुर्योधन के इन वचनों ने रङ्ग में भङ्ग डाल दिया, सर्वत्र हाहाकार मच गया। कुछ वार्ताएं हो ही रही थीं जब कि सूर्यास्त हो गया और रङ्गभूमि से सब लोग अपने अपने गृहों को पधारे, दुर्योधन बड़े आदर के साथ कर्ण को अपने घर ले आया ।

द्रोणाचार्य के लिए गुरुदक्षिणा —कौरव और पाण्डव जब गुरु के समीप हाथ जोड़ गुरुदक्षिणा देने को खड़े हुए तो द्रोणाचार्य ने कहा कि तुम लोगों से मैं यहाँ दक्षिणा मांगता हूँ कि पाञ्चाल के महाराज द्रुपद को जीते पकड़ लाओ। तदनुसार कौरव और पाण्डव द्रुपद के राज्य पर चढ़ गए और घोर संग्राम के पश्चात्

* कर्ण वास्तव में कुन्ती के पुत्र थे जिसे कुन्ती ने पाण्डु से विवाह करने को पूर्व सूर्य नाम पुत्र से सम्बन्ध कर उत्पन्न किया था । यह बात कर्ण को ज्ञात न थी । कर्ण एक सारथि को ही अपना पिता समझते थे जिस ने बाण्यवस्था से ही उन की पालना की थी

द्रुपद को पकड़ कर द्रोण के सन्मुख ला खड़ा किया । द्रुपद ने अपने सहपाठी द्रोण का एक बार अपमान किया था जिस का बदला द्रोण ने लेकर तथा द्रुपद के राज्य का कुछ भाग भी लेकर द्रुपद को छुड़वा दिया ।

युवराजपद की प्राप्ति और वनवास—उक्त घटना से एक वर्ष पश्चात् लोगों की सम्मति से धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को युवराज बनाया । युधिष्ठिर का युवराज बनना था कि दुर्योधन की द्वेषाग्नि विशेष भड़क उठी, उस ने पिता से कहा कि पगए की रोटी खाकर हम यहां नहीं रह सक्ते । महाराज विचित्रवीर्य के पश्चात् आप का राज्य मिलना था, आप के प्रज्ञाचक्षु होने के कारण यदि आप को राज्य न मिला तो आप के पुत्र को राज्य मिलना चाहिए इत्यादि । कणिक नाम नातिज्ञ, दुर्योधन, दुश्शासन, कर्ण तथा दुर्योधन के मातुल शकुनि ने अपनी २ बातों से धृतराष्ट्र को अपने वश में कर लिया और पाण्डवों के नाश के उपाय सोचें गए । तब धृतराष्ट्र ने पाण्डवों से यह कहकर कि घर के झगड़ों को मिटाने के लिए तुम लोगों को थोड़े दिनों के लिए हम गङ्गा के किनारे “ वारणावत ” नगर को भेजना चाहते हैं । कुछ नगरनिवासियों ने धृतराष्ट्र की बड़ी निन्दा की । युधिष्ठिर जब अपने बड़े भाँप्पादि से मिल कर जाने लगे तब विदुर ने म्लेच्छभाषा में जाते हुए युधिष्ठिर को समझा दिया कि अति सुन्दर भवन तुम लोगों के रहने के लिए धृतराष्ट्र ने जो वारणावत में बनवाया है उस की दीवारों के भीतर लाख आदि जलने वाले पदार्थ भरे हुए हैं एक दिन उस में आग लगी जायगी परन्तु मैंने उस घर के भीतर दूर से सुरङ्ग खोदवा रक्खा है जिस का द्वार उक्त घर के एक द्वार के नीचे है, आग लगने पर उस सुरंग से निकल जाना । पाण्डव इस समय वारणावत जाने के सिवाय और कुछ कर नहीं सकते थे अतः अपनी माता सहित वारणावत को रवाना हुए जहां पहुँचते ही प्रजा ने बड़े सन्मान और प्रेम के साथ उन का स्वागत किया । एक दिन उस गृह में जिस में पाण्डव निवास करते थे आग लगी, वारणावत की प्रजा हाहाकार कर उस ओर, दौड़ी परन्तु देखते देखते सारा गृह जल कर भस्म हो गया । घर में आग लगते ही कुन्ती सहित पाण्डव सुरङ्ग से निकल भागे और गङ्गा के किनारे पहुँच, तब—

ततः स प्रेषितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा ।

पार्थानां दक्षेयामास मनोमारुतगामिनीम् ॥ आदि १५१ । ४ ॥

सर्वथातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।

शिवे भागीरथीतीरे नरे विस्त्रम्भिभिः कृताम् ॥ आदि १५१ । ५ ॥

विद्वान् विदुर के (पहले से ही) भेजे हुए लोगों ने पाण्डवों को मन तथा बाधु की तरह शीघ्र चलने वाली सब प्रकार के पवनों (के झांके) सहने वाली, यन्त्रकला युक्त तथा पताका वाली नौका * को जिसे भागीरथी (गङ्गा) के किनारे जल पर (विदुर के विश्वास पात्रों ने (पहले से ही) बना रक्खा था, दिखलाया ।

पाण्डव कुन्ती सहित उस नौका पर चढ़ शीघ्र ही गङ्गा पार हो गए और वन में छिप गए । दुर्योधन के जन जो वारणावत में रहते थे उन्होंने उक्त गृह के भस्म के साथ पांच, ऋः मनुष्यों की हड्डियां देख धृतराष्ट्र को सूचना दी कि पाण्डव कुन्ती सहित जल कर भस्म हो गए । धृतराष्ट्र यह समाचार सुन मन ही मन प्रसन्न हुआ परन्तु ऊपर से बड़ा खेद प्रकट किया । अब दुर्योधन निर्द्वन्द्व हो पिता के परामर्श से राजकार्य सम्पादन करने लगा ।

द्रौपदी का स्वयम्बर—इस समय पाण्डव इस योग्य नहीं थे कि कौरवों से युद्ध कर विजयी हो सकते अतः हस्तिनापुर से वारणावत को आते समय भी पाण्डव किसी प्रकार की उग्रता प्रकट नहीं कर सके और अब जब कि उन्हें वन का आश्रय लेना पड़ा तो भी शान्ति के साथ विपत्ति का सहना ही उचित समझा गया । पाण्डव जब कुछ दिन वनवास कर चुके तब महाराज द्रुपद की कन्या विवाह योग्य हुई । द्रुपद चाहते थे कि उस का विवाह अर्जुन से हो परन्तु अर्जुन का कहीं पता न लगा तब उन्होंने ने अपनी कन्या के स्वयम्बर की घोषणा अतुर्दिक् भेजी । नियत तिथि पर दूर २ से महाराजगण पाञ्चालों की राजधानी काम्पिल्य में पहुँचे । पांचो पाण्डव भी माता सहित ब्राह्मण के वेष में काम्पिल्य पहुँच गए । सुसज्जित रंगभूमि में महाराज गण तथा प्रजासमुदाय जब बैठ गए तब महाराज द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न अपनी बहिन कृष्णा के साथ रंगभूमि में आए और घोषणा की कि यहां धनुष और बाण रखे हैं जो कोई इस धनुष पर बाणों को चढ़ा लक्ष्य भेगेगा उस हमारी बहिन बरेगी । अनेक राजाओं ने क्रमशः धनुष चढ़ाने का यत्न किया परन्तु धनुष चढ़ न सका तब कर्ण धनुष चढ़ा उस पर बाण रखने लगा जब कि कृष्णा [द्रौपदी] बोळ

* क्या इस नौका का वर्णन निस्सन्देह यह नहीं बताता कि उन दिनों अश्वतरी वा आगबोट चलती थीं ?

उठी मैं एक सारथी से विवाह नहीं करना चाहती । कर्ण लज्जित हो धनुष रख बैठ गया तब ब्राह्मणों के बीच से अर्जुन उठे, कोई तो ब्राह्मण ब्राह्मणवेषधारी अर्जुन के उठने से प्रसन्न हुए और कोई स्त्रिय, परन्तु, अर्जुन ने किसी की ओर भी ध्यान न दे धनुष चढ़ा उस पर बाण रख लक्ष्य को वेध ही दिया । तब तो ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए कि हमारी जाति का एक पुरुष इस समय सर्वोपरि योद्धा सिद्ध हुआ । अर्जुन द्रौपदी का हाथ पकड़ रंगभूमि से चल पड़े और उन के अन्यान्य भ्राता भी ब्राह्मणों के बीच से उठ कर चल दिए । द्रौपदी के साथ भाइयों ने जाकर माता कुन्ती से कहा कि हम लोग भिक्षा लाए हैं, माता ने कहा कि आपस में बांट लो महाभारत में लिखा है कि इसी आज्ञा के कारण पांचों भाइयों का एक स्त्री द्रौपदी बनाई गई परन्तु हमारी समर्थी में यह बात नहीं आती कि जब तक पांचों भाई बड़े कामी वा दुराचारी ने हों तब तक वे एक द्रौपदी से पत्नीवत् कैसे वर्त्ताव करते होंगे ? जो हो महाभारत में यही लिखा है कि द्रौपदी पांचों भाइयों की स्त्री बनी ।

इन्द्रप्रस्थ वा दिह्ली का स्थापन—इस स्वयम्बर में सब को ज्ञात हो गया कि पाण्डव जीते हैं । श्रीकृष्णचन्द्र जो इस स्वयम्बर में पधारे थे अपनी फूर्का कुन्ती से मिले और द्रौपदी के विवाह समय बहुत से रत्नादि पाण्डवों को भेंट दिए । धृतराष्ट्र ने जब कि सुना कि पाण्डव जीते हैं और अब उन का सम्बन्ध बलशाली दुपद से हो गया है तब वह मन ही मन बड़ा दुखी हुआ परन्तु ऊपर से कहने लगा कि पाण्डव हमें दुर्योधन से कम प्यारे नहीं हैं और विदुर को भेज काम्पिल्यनगर से पाण्डवों को शीघ्र ही बोला लिया, और अपने राज्य को दो भागों में विभक्त कर एक भाग जिस में वन बहुत था पाण्डवों को और दूसरा भाग दुर्योधन को दे दिया ताकि पुनः झगड़ा न हो । श्रीकृष्णचन्द्र जी की सहायता से पाण्डवों ने खाण्डव वन को जला कर उस में बहुत से लोगों को बसा दिया और अपने राज्य की एक राजधानी स्थापित की जिस का नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा । थोड़े ही दिनों में इन्द्रप्रस्थ चतुर्वर्णों के लोगों से भर गया, वाणिज्य से उस की सम्पत्ति बढ़ गई और एक विशाल नगर बन गया । राज्य के अन्यान्य भागों में भी बहुत सी प्रजा बस गई जिस से राजकोष धीरे २ घन धान्य से परिपूर्ण हो गया । श्रीकृष्णचन्द्र जी की सम्पत्ति से (परन्तु कन्नराम की सम्पत्ति के विरुद्ध) अर्जुन ने उन की बहिन सुभद्रा को हरण कर उस से विवाह किया जिस के गर्भ से अभिमन्यु का जन्म हुआ । द्रौपदी के गर्भ से भी पाँच पुत्र उत्पन्न हुए ।

राजसूय यज्ञ और दिव्यी का पहला राजद्वार—बलवाली पाण्डवों तथा यादवों से सम्बन्ध प्राप्त कर पाण्डव अपने को सर्वोपरि बलवान् समझने लगे और अपने को चक्रवर्ती सिद्ध करने के लिए राजसूय यज्ञ की बातें सोचने लगे । इस विषय में उन्होंने श्री कृष्णचन्द्र जी की सम्मति ली और उन्होंने कहा कि जब तक मगध का प्रतापशाली महाराज जरासन्ध नहीं मारा जाता तब तक राजसूय यज्ञ नहीं हो सकता । अतः युधिष्ठिर की आज्ञा ले श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम जरासन्ध की राजधानी राजगृह में ब्राह्मण का वेष बना पहुंचे और जरासन्ध को द्वन्द्वयुद्ध के लिए उद्यत कर लिया, भीम ने जरासन्ध से मल्लयुद्ध किया और उसे मार डाला । जरासन्ध को मार तीनों व्यक्ति इन्द्रप्रस्थ पहुंचे, और चारों दिशाओं के राजाओं को वश करने के लिए भीम अर्जुन, नकुल और सहदेव सेना लेखे कर चारों दिशाओं को चल दिए और सब को वश कर पुनः इन्द्रप्रस्थ में पहुंचे जहां चारों दिशाओं के राजे नियत समय पर राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने को पधारे और यज्ञ होने लगा । अन्तिम दिवस जब कि अवधृत स्नान का समय आया और युधिष्ठिर सब से पहले श्रीकृष्ण की पूजा करने लगे तब चेदी का राजा शिशुपाल क्रुद्ध हो भरी सभा में श्रीकृष्ण की निन्दा करने लगा और उन से युद्ध करने को खड़ा हो गया तब श्रीकृष्ण ने कहा तेरी सौ गालियां मैंने सुन लीं तेरे सौ अपराध समा कर दिये परन्तु अधिक क्षमा नहीं कर सकता और अपने चक्र से उस का शीश काट गिराया । दुर्योधनादि जो शिशुपाल के मित्र थे मन ही मन बड़े क्रुद्ध हुए परन्तु उस समय हाथ मल कर रह गये । यज्ञ समाप्त हुआ सब राजाओं ने महाराज युधिष्ठिर को चक्रवर्ती स्वीकार किया और युधिष्ठिर ने सब राजाओं को बहुमुल्य रत्नादि भेंट में दे सम्मान पूर्वक चिदा किया ।

द्यूतक्रीड़ा और उस का विषमय परिणाम—पाण्डवों के वैभव से कौरव बहुत जले और शकुनी की सम्मति से पाण्डवों को जूआ खेलने के लिए आह्वान किया । आश्चर्य्य है कि जिस द्यूत की घोर निन्दा मन्वादि महर्षि लिख चुके थे वह महाभारत के पतित समय में क्षत्रियों का धर्म समझा जाता था । तदनुसार युधिष्ठिर हस्तिनापुर में पहुंच कर शकुनी तथा दुर्योधन के संग जूआ खेलने लगे, और जुआड़ी शकुनी की चालाकियों से युधिष्ठिर अपना सब राज पाट अपने पुत्रों भाइयों तथा अपने को भी दाब में रख कर हार गए । तब शकुनी ने कहा द्रौपदी को दाब में रक्खो, यदि नीत जाओ तो अपना सर्वस्व बौटा लो ।

युधिष्ठिर ने द्रौपदी को भी दाव में रख दिया और हार गए तब दुर्योधन ने अपने सेवक प्रतिकामी को आज्ञा दी कि द्रौपदी से यह कह कर कि युधिष्ठिर उस नुए में हार गए हैं यहां बोला जा। प्रतिकामी द्रौपदी के यहां जाकर और वहां से आकर सभा में कहने लगा कि द्रौपदी पूछती हैं कि अपने को हारे हुए युधिष्ठिर अपनी स्त्री को हारने का अधिकार रखते थे या नहीं तब दुर्योधन ने दुःशासन को आज्ञा दी कि द्रौपदी को यहां शीघ्र ला। दुःशासन द्रौपदी के निकट पहुंचा और कहने लगा लज्जा छोड़ शीघ्र सभा में चलो। द्रौपदी ने बहुत कुछ कहा परन्तु दुःशासन ने उन की एक भी न सुनी। तब द्रौपदी गान्धारी के घर की ओर भागी परन्तु दुःशासन ने द्रौपदी के शीश का झोंटा पकड़ लिया और उसे त्रसीट कर सभा में ले आया। द्रौपदी आते ही सभा में बोली "सभ्यगण बतलाइये क्या मैं नियमानुसार जीती गई हूँ? क्या युधिष्ठिर जो अपने को हार गए थे मुझे दाव में रख सकते थे पाप होगा यदि सभा में बैठे हुए लोग ठीक २ न्यायप्रदान नहीं करेंगे। द्रौपदी के बचन सुन और तो कोई न बोला, भीष्म कहने लगे द्रौपदी का प्रश्न बड़ा सूक्ष्म है पति और पत्नी का सम्बन्ध बड़ा कठिन है अतः इस प्रश्न का निवेटरा बड़ा कठिन है। कटि से ऊपर द्रौपदी का शरीर खुला था दुःशासन बड़े बल से झोंटे को पकड़े हुए था द्रौपदी रक्षा चाहती थी परन्तु रक्षा मिलनी कठिन थी। भीष्म क्रुद्ध हो कहने लगे कि जुआरी युधिष्ठिर का हाथ जला देना चाहिए, तब अर्जुन ने उन्हें शान्त किया। पुनः कर्ण तथा दुर्योधन ने सलाह कर आज्ञा दी कि पाण्डवों तथा द्रौपदी के कपड़े उतार लिए जावें पाण्डवों ने अपने बस्त्राभूषण उतार कर रख दिए और बेचारा द्रौपदी को दुःशासन नंगी करने लगा और द्रौपदी आह मंत्र हृदय से परमात्मा की प्रार्थना करने लगी। * उसी समय श्रीकृष्णचन्द्र जी पहुँचें और द्रौपदी की रक्षा की ११ बहुत से अन्य लोग भी दुःशासन को धिक्कारने लगे,

* जिन सभा में भीष्मादि सराखे पुरुष विद्यमान हैं वहां एक बचलाना को देखी दुर्दशा होवे तो विवाय इम के और क्या कहा जा सकता है कि महाभारत के समय धर्मधर्म के समझने वाले तथा धर्मानुसार चलने वाले पुरुषों का प्रायः अभाव हो गया था, और म-मुन था भी ऐसा ही। यदि ऐसा न होता तो लड़कों पुरुष परस्पर युद्ध में प्रवृत्त हो नष्ट क्यों हो जाते !

† महाभारत में लिखा है कि द्रौपदी के पातिव्रत धर्म के प्रताप से तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी की कृपा से द्रौपदी का चीर इतना बड़ा कि दुःशासन चीर फींसा २ बच गया परन्तु द्रौपदी नंगी न हुई। इस में ऐतिहासिक भाग इतना ही मालूम होता है कि श्रीकृष्ण ने द्रौपदी की रक्षा की।

धृतराष्ट्र भी इतने अपमान को अनुचित समझने लगा और द्रौपदी को निकट बांला कहने लगा "पुत्रि! जो कुछ तू चाहती है मांग, मैं देने को तय्यार हूँ" । द्रौपदी ने कहा पाण्डवों को स्वतन्त्र कर दीजिए । धृतराष्ट्र ने "एवमस्तु" कह पाण्डवों से कहा युधिष्ठिर जावो पूर्ववत् राज्य करो मेरे पुत्रों की मूर्खता को मेरे पर कृपा रखते हुए क्षमा करां । पांडव द्रौपदी सहित चले गए परन्तु दुर्योधनादि की सम्मति से धृतराष्ट्र ने उन्हें पुनः बुलवाया और शकुनी के आह्वान करने पर युधिष्ठिर को पुनः जूआ खेलना और पुनः वह राज्य हार गये ।

बारह वर्ष वनवास और एकवर्ष अज्ञातवास—क्योंकि जूआ खेलते समय युधिष्ठिर प्रतिज्ञा कर चुके थे कि यदि वह हार जायं तो १२ वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करेंगे अतः पाण्डवों को आज्ञा मिली कि वे बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास करें । पाण्डवों की वृद्धा माता तो विदुर के गृह पर रह गई और पांडव द्रौपदी सहित वनवास के लिए चले । सैकड़ों नगरनिवासी कौरवों की निन्दा करते हुए पांडवों को विदा करने गए । इन्द्रप्रस्थ राज्य के जङ्गलों में कुछ दिन निवास कर पाण्डव भारतभ्रमण को निकले और सर्वत्र घूम कर त्रहर्वे वर्ष के आरम्भ में अपने पुरोहित धर्म्य को द्रुपद के यहां और अपने नौकरों को द्वारका भेज आप वष बदल राजा विराट् के नगर को चले और वहां पहुंच अपने अस्त्र शस्त्रों को छिपा नए २ नामों से महाराज विराट् की नौकरी करने लगे । प्रायः एक वर्ष की समाप्ति पर जब कि विराट् के सेनापति अत्याचारी कांचक का भीमसेन ने मार डाला तथा कौरवों ने विराट् देश पर चढ़ाई की और अर्जुन ने उन्हें मार हटाया तब ज्ञात हुआ कि पांडव विराट् राजा के यहां हैं । श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्यु को लेकर विराट् नगर को पहुंचे, अभिमन्यु का विवाह विराट् की कन्या उत्तरा से हुआ ।

युद्ध का नगरासी—विराट् नगर से चलकर पांडव मत्स्यराज्य के समीपवर्ती उपप्लव्य नगर को पहुंचे और महाराज द्रुपद और विराट् भी अपनी २ सेनाएं लेकर वहां पहुंच गए । पांडव, द्रुपद तथा विराट् ने भारतीय राजाओं की सेवा में सहायताार्थ पत्र भेजा और सस्थव्रत यादवों के राजा सास्यकी, चेदी के महाराज धृष्टकेतु, मगध के राजा जयतंसन, पांडेय देश के राजा तथा अन्यान्य कई छोटे २ राज अपनी २ सेनाएं लेकर पहुंच गए । कृष्ण ने भी पांडवों की ओर कार्य करना स्वांकार करलिया इस प्रकार पांडवों के आधीन सात अक्षौहिणी सेनाएं एकत्रित होगई जिन में कुछ

१५३०९० हाथी, १५३०९० रथ, ४५९२७० अश्व तथा ७१५४५० पैदल योद्धा थे ।

दुर्योधन के दूत भी चारों ओर फिर रहे थे पांडवों की तयारी देख दुर्योधन ने भी सहायतार्थ चारों ओर के राजाओं को पत्र भेजा, चीन का भगदत्त, मूरिश्रवा, ईरान का राजा शल्य, भोजों के राजा कृतवर्मा, सिन्धु सौवीर के राजा जयद्रथ, काम्बोज और यवनों के राजा सुदक्षिण, महिष्मती (दक्षिण के राजा नील, अबन्ती के महाराज, केकय देश के महाराज तथा अन्यान्य कई छोटे २ राजा दुर्योधन के सहायतार्थ हस्तिनापुर पहुंचे, इन सब की सेनाएं ग्यारह अशौहिणी थीं जिन में कुल २४०५७० हाथी, २४०५७० रथ, ७२१६१० अश्व, तथा १२०२८५० पैदल योद्धा थे ।

जब दोनों ओर की सेनाएं युद्ध के लिए तयार होगईं तो धृतराष्ट्र ने अपने दूत संजय द्वारा युधिष्ठिर को कहला भेजा कि मनुष्य नाशी भावी घोर युद्ध संसार के लिए बड़ा हानि कारक होगा, युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा को चाहिए कि यादव वा पाण्डवों के यहां रहें अथवा भिक्षा मांग कर निर्वाह करें परन्तु ऐसे युद्ध में प्रवृत्त न हों । युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि हम पांडवों भाइयों को यदि पांच गांव भी धृतराष्ट्र दे दें तो हम संतोष सहित उर्सा पर निर्वाह करेंगे और युद्ध में प्रवृत्त न होंगे । यह उत्तर जब धृतराष्ट्र की राजसभा में सुनाया गया तो दुर्योधन बोला कि पाण्डव डर गए हैं ।

पुनः युधिष्ठिर ने श्रीकृष्णचन्द्र को अपना दूत बना भेजा वह सात्यकी सहित रथ पर सवार हो कई दिनों में हस्तिनापुर पहुंचे और विदुर के साथ रातभर विश्राम किया । प्रातःकाल सन्ध्यादि से निवृत्त हो वह धृतराष्ट्र की राज सभा में पहुंचे जहां भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा दूर २ देशों के नृपति उपस्थित थे । मरी सभा में श्रीकृष्ण जी ने अन्तिसंस्थापिनी एक ऐसी प्रभावशालिनी वक्तृता दी कि सब लोग श्रवण कर धन्य २ प्रकारने लगे । धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्णचन्द्र जी से कहा कि हमारे पुत्रों को समझाइये कि वे हठ परित्याग करें । श्रीकृष्णचन्द्रजी ने दुर्योधन को बहुत समझाया परंतु वह उन की बातें सुनते २ सभा से उठगवा और श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने का यत्न करने लगा, धृतराष्ट्र को जब यह ज्ञात हुआ तो सभा में बुला कर दुर्योधन को उन्होंने बहुत डांटा और श्रीकृष्ण से कहा कि आप देखते ही हैं कि हमारे पुत्र हमारी आका में नहीं हैं । फिर तो सभा से उठ सात्यकी

सहित श्रीकृष्ण विदुर के घर पहुँचे और वहाँ से पुनः रथ पर सवार हो पाण्डव दल की ओर रवाना हांगए और वहाँ पहुँच युधिष्ठिर से हस्तिनापुर का सब वृत्तांत कह सुनाया । इधर कुन्ती हस्तिनापुर में विदुर के गृह से कर्ण के घर पर पहुँच बोली “तू मेरा पुत्र पाण्डवों का भाई है तू दुर्योधन का पक्ष छोड़ दे” कर्ण ने उत्तर दिया “माता । तू बहुत देर कर आई, इतने दिनों तक कौरवों की प्रीति का भाजन बन इस विपत्ति काल में उन्हें मैं कैसे छोड़ूँ ? मेरे पाँच पुत्र बने रहेंगे कर्ण और अर्जुन में से कोई एक अवश्य मारा जायगा ।

अठारह दिनों का घोर संग्राम और शोकमय परिस्थान-मय शान्ति की कोई आशा न रही दोनों ओर की सेनाएं क्रुक्षेत्र के मैदान में शिविर (कैम्प) डाल युद्ध के लिए समद्ध होगई । नियत दिन सूर्योदय से पहिले स्नान सन्ध्या से निवृत्त हो सब योद्धा युद्ध क्षेत्र में अपने २ स्थानों पर बट गए । कौरव सेना (जिस का अग्रभाग बहुत लम्बा था) के आगे सेनापति भीष्म अपने रथ पर आ पहुँचे, और पाण्डव सेना (जिस का अग्रभाग सूक्ष्म था) के आगे सेनापति अर्जुन अपने रथ पर आ खड़े हुए । यहां पहुँचते ही अर्जुन के मस्तिष्क में लक्षों मनुष्यों के मारी नाश का दृश्य घूम गया और वह धनुष रख अपने सारथी श्रीकृष्ण से कहने लगे एक राज्य के लिये इतने मनुष्यों का नाश मुझ से नहीं होता । श्रीकृष्ण ने क्षात्र धर्म का तत्त्व आत्मों का अमरत्वादि विषय अर्जुन को समझा उन्हें शीघ्र ही पुनः युद्ध के लिए उद्यत कर दिया । इतने में युधिष्ठिर अपने रथ से उतर कौरव दल की ओर दौड़े, लोगों ने समझा यह डर गए कौरवों से सुलह करना चाहते हैं । शेष चारों पाण्डव तथा कृष्ण भी युधिष्ठिर के पीछे २ दौड़े । युधिष्ठिर भीष्म के निकट पहुँचे और उन्हें प्रणाम कर उन से कहने लगे “ पितामह ! हमें विवश होकर युद्ध करना पड़ता है अतः कृपया युद्ध करने की आज्ञा दें तथा आशीर्वाद दें, एवं गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा अपने मामू शल्य से भी युद्ध करने की आज्ञा युधिष्ठिर ने मांगी और चारों ने क्रमशः युधिष्ठिर से कहा:—

अर्यस्यपुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।

इतिमत्वा महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

(भीष्मपर्व, अध्याय ४३)

अर्थात् पुरुष बनका दास है, धन किसी का दास नहीं है, यह समझ कर

हे महाराज धन के कारण मैं कौरवों के साथ बंधा हुआ हूँ । मैं कौरवों की ओर से युद्ध तो अवश्य ही करूँगा, अन्य आप जो कुछ कहें सो करूँ । युधिष्ठिर ने उन से आशीर्वाद मांगा और चारों ने कहा आप की जय हो ।

भीष्मपितामह का युद्ध—युधिष्ठिर की इस नम्रता से लोग बहुत प्रसन्न हुए, यहां तक कि धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन के हठ से अप्रसन्न हो कौरव दल को छोड़ पाण्डवों की ओर आगया । युधिष्ठिर श्रीकृष्णादि सहित पुनः अपने दल में आ गए और पाण्डवों ने वीरोत्साही बाजे बजाने की आज्ञा दे दी । कौरवों के दल में भी वीरोत्साही बाजे बजने लगे और भीष्म तथा भीम का युद्धारम्भ हो गया कौरवों ने शीघ्र ही भीम की ओर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी, शेष चारों पाण्डव अभिमन्यु तथा धृष्टद्युम्न भीम की रक्षा को दौड़े । थोड़ी देर कौरव तथा पाण्डवों का युद्ध अन्यान्य महीपतिगण देखने लगे पुनः अपने २ अस्त्र शस्त्र सम्भाल सभी युद्ध में प्रवृत्त हो गए । अर्जुन और भीष्म, द्रोण और धृष्टद्युम्न, दुर्योधन और भीम के घोर युद्ध हुए । नौ दिनों तक भीष्म प्रायः दश सहस्र रथियों को प्रतिदिन मारते हुए पाण्डवदल को क्षति करते रहे । दशवें दिन द्रुपद का पुत्र शिखण्डी भीष्म से युद्ध करने लगा, भीष्म ने प्रतिज्ञा की थी कि वह शिखण्डी से युद्ध नहीं करेंगे अतः उन्होंने ने अपने शस्त्र रख दिए शस्त्रों के रखते ही चारों ओर से बाणों ने भीष्म के शरीर को छेद दिया और वह घायल हो रथ से गिर पड़े । उन के गिरते ही युद्ध बन्द हो गया और दोनों दल के मुख्य २ योद्धा गण उन के निकट पहुंचे । भीष्म ने दुर्योधन से कहा कि अर्जुन सर्वोपरि योद्धा है, मेरा कहना मानो युद्ध अब बन्द कर दो और आधा राज्य पाण्डवों को दे दो । परन्तु दुर्योधन ने उन की एक भी न मानी तब घायल भीष्म की रक्षा का वहां उपाय रच, दोनों ओर की सेनाएं पीछे हट गई ।

द्रोणाचार्य का युद्ध—अब द्रोणाचार्य सेनापति नियत हुए, दो दिनों तक तो वह भीष्म की तरह युद्ध करते रहे तीसरे दिन उन्होंने अपनी सेना के एक वृहत् भाग को चक्रव्यूह में खड़ा किया और सेना के एक बलिष्ठ भाग को अर्जुन के सम्मुख भेजा । अर्जुन तो उधर युद्ध में फँस गए और चक्रव्यूह भेदने को अभिमन्यु और भीम चले । इन के साथ जो पाण्डव सेना गई उस के एक भाग को तो जयद्रथ और उस की सेना ने काट डाला और शेष को आगे बढ़ने से रोक दिया, भीम भी रुक गए, परन्तु अभिमन्यु चक्रव्यूह भेदता हुआ आगे ही बढ़ता

गया । उस के सब साथी जब मारे गए तब युद्धनियम के विरुद्ध दुर्योधन के छः योद्धा एक ही साथ अभिमन्यु पर दूट पड़े और उस के रथ, सारथी को मार उस के धनुष को काट दिया तब अभिमन्यु अपनी गदा ले युद्ध करने लगा और चारों ओर से अनेक योद्धा उस पर प्रहार करने लगे और अन्त में दुःशासन के पुत्र ने अभिमन्यु का शीश अपनी गदा में कुचल डाला ।

पाण्डवसेना में शोक छा गया, अर्जुन अपने शत्रुओं को परास्त कर जब पाण्डव सेना में पहुँचे और अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार सुना तो प्रतिज्ञा की कि जयद्रथ को यदि कल में न मार डालूँगा तो चिता में भस्म हो जाऊँगा ।

दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः युद्धारम्भ हुआ, दुर्योधन ने जयद्रथ को अपनी सेना के पीछे रक्खा, घोर संग्राम हुआ, उस दिन अर्जुन और भीम के पराक्रम देख दुर्योधन त्रिभित्त हो गया और मन्थ्या होते २ अर्जुन ने जयद्रथ को मार ही डाला ।

दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से कहा कि आज आपने अर्जुन के माँह से ठीक २ युद्ध नहीं किया । यह मुझे द्रोणाचार्य जल उठे और कहने लगे कि यद्यपि मन्थ्या हो गई है तो भी मैं युद्ध बन्द नहीं करूँगा या तो विजय प्राप्त करूँगा अथवा युद्ध करने करते प्राण छोड़ूँगा । दोनों दलों के बीच प्रकाश का प्रबन्ध हो गया और रात्रि समय भी संग्राम होने लगा । भीम के पुत्र यद्यत्कच ने इस गत घोर संग्राम किया परन्तु कर्ण के हाथ मारा गया । कर्णिय वण्ट युद्ध बन्द हुआ और चन्द्रोदय के साथ ही पुनः युद्ध होने लगा । द्रोण ने आज अपना अद्भुत युद्ध-कौशल दिखलाया, ऐन्द्रास्त्र, पाशुपतास्त्र, वायव्यास्त्र और वारुणास्त्र के प्रयोगों से चतुर्दिक प्रकाशमय कर दिया । अर्जुन तथा कृष्ण ने भी द्रोण के उक्त अस्त्रों को उक्त प्रकार के ही आश्रयास्त्रों से दमन कर दिया तब द्रोण ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा जिस से लोग विशेष त्रिभित्त हो गए परन्तु अर्जुन ने उस ब्रह्मास्त्र के प्रभाव को अपने ब्रह्मास्त्र से शान्त कर दिया * युद्ध होते २ सूर्योदय हो गया और द्रोण ने पाण्डव सेना के सहस्रों योद्धाओं को और अर्जुन ने कौरव सैन्य के महस्रों वीरों को भूशा-र्या कर दिया । भीम ने इस समय अश्वत्थामा नाम एक हस्ति को मार डाला और

*देखिये द्रोण ब्रह्म पर्यं, आध्याय १८९ श्लोक ३१, ३२, ४८, ५१ उक्त सब अस्त्र तोप के गोले की भाँति अग्नि ने प्रक्षयित हो डूटते थे । इसी कारण लिखा है कि उन के छूटने पर विशेष प्रकार हो जाता था ।

पाण्डव सेना में कोलाहल हुआ कि अश्वत्थामा मारा गया द्रोणाचार्य को मन्देह हुआ कि उन का पुत्र अश्वत्थामा मारा गया परन्तु उन्होंने ने किमी के कथन पर विश्वास नहीं किया परन्तु जब युधिष्ठिर भी लल कर बोले “अश्वत्थामा हतः नरो वा कुञ्जरो वा” तब द्रोण का हृदय पुत्रशोक से भरगया और उन के हाथ से धनुष गिर गया धनुष के गिरते धृष्टद्युम्न उन की ओर दौड़ा और तलवार में उन का शीश काट लिया । पिता की मृत्यु सुन द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा ने घोर युद्ध किया परन्तु कौरव सेना तितर बितर हो गई और उस दिन का युद्ध समाप्त हो गया ।

कर्णादि के युद्ध और शोकमय परिणाम—दूसरे दिन कर्ण कौरव दल के सेनापति बने और युद्धारम्भ हुआ ; कर्ण ने कहा कि अर्जुन मेरे सम्मुख आकर युद्ध कर तदनुसार अर्जुन सम्मुख आए और युद्ध होने लगा । थोड़ी देर तक तो घोर संग्राम हुआ परन्तु एक स्थान में कर्ण के रथ का पहिया एक गंदे में फंस गया । कर्ण रथ से कूद पहिया खींचने लगा त्यों ही अर्जुन बाण मारने लगे । कर्ण ने कहा युद्धनियमविरुद्ध बाण क्यों चलाते हो ? श्रीकृष्ण ने कहा तुम ने किस नियमानुसार सभा के बीच दुःशामन को आज्ञा दी थी कि द्रौपदी का नंगा कर दो जब कि कर्ण पहिया खींच ही रहा था अर्जुन ने उसे बाणों में मार डाला । इसी दिन भीम और दुःशामन का घोर युद्ध हुआ । दुःशामन की छाती तोड़ भीम ने राक्षस की भांति उस का रक्त पान कर लिया ! दुर्योधन दुर्गा हां रण-क्षेत्र में अपने शिविर में आगया । कृपाचार्य उस समझाने लगे कि अब भी पाण्डवों से मुल्ह कर लो तो वे आपरा राज्य तुम्हें दे देंगे । दुर्योधन बोला “जिस ने पाण्डवों को इतना नीचा दिवाया वह अब उन से प्रार्थना कैसे कर सकता है ? भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथादि मेरे लिए प्राण दे चुके, उन के बिना अब मैं राज पा कर भी सुखी कैसे रह सकता हूँ, यदि राज्य मुझ मिल भी जाय तो क्या वह मेरे साथ मदा रहेगा ? मैं क्षात्र-धर्म को क्यों छोड़े ? रण-क्षेत्र में मरना क्षत्रिय के लिए सर्वोपरि पुण्य है अतः मैं मन्धि का नाम भी नहीं ले सकता.....” दुर्योधन के इन बचनों ने उस के साधियों के हृदय में वीरभाव का मन्चार कर दिया और सब के सब मरने पर पुनः उत्थन हांगए ।

दूसरे दिन कौरवदल के सेनापति शल्य बनाए गए जिन्होंने ने बड़ी वीरता के साथ पाण्डवों से युद्ध किया परन्तु वह भी मारे गए और साथ ही कौरव दल का भी नाश हो गया केवल थोड़े मेगोद्धा कृपाचार्य, कृतवर्मा तथा अश्वत्थामादि बचे ।

दुर्योधन लड़ते २ जब बहुत थक गया तब एक स्थान में जा छिपा । पाण्डवों ने उसे बहुत खोजा परन्तु उस का पता न लगा । परन्तु पीछे से पाण्डवों के एक चर को उस का पता लग गया । उस से पाण्डवों ने दुर्योधन का पता पा उस के निकट पहुंचे और युधिष्ठिर कहने लगे कि धिक्कार है तुझ को जो नू अब छिप रहा है दुर्योधन धिक्कारों को सुन न सका और बोला कि मैं अकेला हूं एक आदमी से युद्ध कर सकता हूं । युधिष्ठिर ने कहा हम पांचों भाइयों में से जिस से तेरी इच्छा हो युद्ध कर । दुर्योधन ने कहा भीम से युद्ध करूंगा । तदनुसार दोनों वीर गदा लेकर युद्ध करने लगे, धार युद्ध हुआ, अन्त में भीम के प्रहारों से बचने के लिए जब कि दुर्योधन कूद रहा था भीम की गदा दुर्योधन के जंघों में लगी और पैरों की हड्डियां टुकड़ २ हो गईं और दुर्योधन गिर पड़ा श्रीकृष्ण के भाई बलराम जो इस समय उपस्थित थे बोले यह धर्मयुद्ध नहीं हुआ कटि से नीचे गदाघात कर भीम ने घोर पाप किया मैं उसे बिना मारे नहीं छोड़ सक्ता । श्रीकृष्ण ने कहा द्रौपदी जब समा में लाई गई थी तो दुर्योधन ने कहा था कि द्रौपदी मेरे जंघा पर बैठे तब भीम ने प्रतिज्ञा की थी कि इस जंघे को मैं अवश्यही तोड़ूंगा । तदनुसार भीम ने जंघे में गदा मारी है । बलराम शान्त हुए और अधमुए दुर्योधन को छोड़ पाण्डव अपने शिविर में आए अन्य सब लोगों को विश्राम करने की आज्ञा दे पाण्डव, द्रौपदी और श्रीकृष्ण अपने शिविर से बाहर जागते रहे ।

उपर दुर्योधन के द्वन्द्वयुद्ध का समाचार पा अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य उस के निकट पहुंचे । अश्वत्थामा ने कहा पाण्डवों से बदला लिए बिना मैं नहीं रह सक्ता । मरता हुआ दुर्योधन भी यह सुन प्रसन्न हुआ जब दुर्योधन मर गया तो अश्वत्थामा रात्रि समय चुपचाप पाण्डवों के शिविर में घुसगया और सोते धृष्टद्युम्न और शिखंडी के शीश काट द्रौपदी के सोते हुए पांचों पुत्रों को भी मार डाला । हाहाकार मचने पर श्रीकृष्णादि इस ओर दौड़े परन्तु अश्वत्थामा भाग निकला, भीम उस के पीछे दौड़े और एक रथ पर सवार हो श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर तथा अर्जुन दौड़े, और गंगा के किनारे अश्वत्थामा को जा पकड़ा । परन्तु आने गुरु का पुत्र समझ पाण्डवों ने उसे नहीं मारा और उस के शीश का बहुमूल्य रत्न द्रौपदी को दिखवा शान्त करने के लिए लेलिया और लौटे ।

इस प्रकार महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ । कौरव और पाण्डवों की सारी सेनाएं कट मरीं । इस युद्ध में वीरों मध्ये केवल श्रीकृष्ण, पांचों पाण्डव, सात्यकी

कुपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, युयुत्सु आदि कतिपय पुलक जीते बचे । आर्या-वर्त अद्वितीय घनबल, विद्याबल, और बाहुबल का प्रताप घट गया । उन्नति का सूर्य डूबने लगा और अविद्या की रात आर्यसन्तान को ग्रसने के लिए चारों ओर से विकराल रूप धारण करने लगी ।

विजयी परन्तु शोकमय पाण्डव हस्तिनापुर पहुँचे, विधवा नारियों के रुदन ने पाण्डवों के दुःख को और भी बढ़ा दिया तथापि नियमानुसार युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ और युधिष्ठिर अपनी सारी शक्ति को प्रजा के अम्युदय के लिए व्यय करने लगे * अभिमन्यु की धर्मपत्नी उत्तरा के गर्भ से एक पुत्रोत्पन्न हुआ जिस का नाम परीक्षित रक्खा गया । अपने पापों के प्रायश्चित्त के लिए पाण्डवों ने अश्वमेध यज्ञ किया जिस में हिमालय की ओर से लाई हुई सम्पत्तिको पाण्डवों ने यज्ञ कराने वाले व्यासादि ऋषियों और ब्राह्मणों को बाँट दिया । व्यास को जो कुछ मिला उसे उन्होंने न भी दान कर दिया । युधिष्ठिर के कुछ दिन राज्य करने के पश्चात् धृतराष्ट्र, गान्धारी और पाण्डवों की माता कुन्ती तथा सञ्जय और विदुर सहित तपोवन को चले गए । दो वर्षों के पश्चात् ये सब के सब तपोवन में भयङ्कर आग लगने से जलमरे । कुछ दिनों बाद यादवों में भी परस्परका झगडा हुआ और प्रायः सभी युद्ध करने योग्य यादव लड़ मरे, श्रीकृष्णचन्द्र युद्ध रोक न सके और जब कि वह एक वृक्ष के नीचे छेटे हुए थे एक जंगली ने उन्हें पशु वा पक्षी समझ तीर मारा जिस से श्रीकृष्णचन्द्र जी भी मरगए । यह सब समाचार सुन पाण्डव बड़े दुस्ती हुए और परीक्षित को हस्तिनापुर का राज सौंप आप द्रौपदी सहित हिमालय की ओर चले गए जहाँ उन सब का देहान्त हो गया ।

पञ्चमः भाग सम्पूर्णः ॥

समाप्तः प्रथमः खण्डः ।



* महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर ने प्रायः सत्तीस वर्षों तक शासन किया ।

H

934.02
रामदे

7649

अत्रापि मं.

ACC No.....

पुस्तक मं.

Book No.....

वर्ग सं.

Class No.....

लेखक रामदेव

Author.....

शीर्षक भारतवर्ष का इतिहास :

..... पर्व ।

H
934.02

रामदे

749

LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. 122910

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving